



राजदर्शन के नव-रत्न



# राजदर्शन के नव-रत्न

सिद्धक

श्रीमती सरला अर्गस एम० ए०

एवं

डा० राजेश्वर अर्गस

एम० ए०, पी० एच०डी०, डी० लिट्०

प्रकाशक

कौलाश पुस्तक सदन

ग्वासियर

भोपाळ

प्रकाशक

कैलाश प्रसाद अग्रवाल बी० कॉलेज०

संचालक

कैलाश पुस्तक सदन

वाटमकर बाजार प्वालिबर

प्रथम संस्करण १

मूल्य रु० ३)

श्रीमती सरभा अग्रवाल

प्रमुख विक्रय केन्द्र

१ मया प्रसाद एण्ड सस, आगरा

२ कैलाश पुस्तक सदन, हमीदिया रोड भोपाल

३ पापुमार बुक डिपो चौड़ा रास्ता जैपुर

४ आरियन्टल पब्लिशर्स (प्रा०) लि० परेड, कानपुर

५ श्री अहमोड़ा बुक डिपो, गांधी रोड, अहमोड़ा

मुद्रक

वर्न अन्ड भार्येन बी एच-सी०

अमृत इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा

विरक्त होते हुए भी जो स्नेह को मूर्तिमान करते हैं,

और

मिनका घाशीबाबि सबैव हमें प्राप्त रहा है

उन

बड़े कबका सी

( श्री बंगीघर श्रीवास्तव )

को

साबर



## प्राक्कथन

‘राज्य दर्शन के नवरत्न’ कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्य क्रम को ध्यान में रखकर लिखी गई है, पर इसकी उपयोगिता केवल विद्यार्थियों तक ही सीमित न रहेगी ऐसा मेरा विश्वास है। जेटी और भरतू गूनाजी दार्शनिक हैं कौटिल्य और महात्मा गांधी भारतीय मिस एवं ब्रिन इम्पैच और मकिमावली उसो तथा मार्क्स क्रम से इटली फ्रांस और जर्मनी के दार्शनिक हैं। राजनीति की मूल समस्या कितनी सावभौमिक है यह इन लेखकों की विचारधाराओं को देखकर स्पष्ट हो जाता है। राज्य और व्यक्ति का लक्ष्य सर्वश्रेष्ठ जीवन है पर सर्वश्रेष्ठ जीवन क्या है, यह कसे प्राप्त हो सकता है व्यक्ति और राज्य का संबंध क्या है इस पर विभिन्न दृष्टिकोण हमें इन दार्शनिकों में मिलते हैं। ये प्रश्न आज भी राजनीति की समस्या हैं इसलिये ये विभिन्न दृष्टिकोण यदि हमें कोई निश्चित उत्तर नहीं भी दे सकते तो भी ये प्रत्येक नागरिक के लिये नये विचारों के लिये सामग्री प्रदान करते हैं।

राजनीति और समस्त सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन का विषय मनुष्य और उसकी संस्कारों हैं। अपने विकास के लिये ही मनुष्य ने समाज और उसकी संस्थाओं का निर्माण किया है। चूंकि पूर्ण विकास या सर्वश्रेष्ठ जीवन नैतिकता से संबंधित है इसलिये राजनीति और नैतिकता का पारस्परिक संबंध राजनीति का मूल विषय है। नवरत्न हमें तीन स्पष्ट विचार देते हैं। जेटी और भरतू के अनुसार चूंकि समस्त समुदायों का सर्वश्रेष्ठ जीवन है इसलिये राज्य में रहकर और राज्य द्वारा ही मनुष्य नैतिक जीवन प्राप्त कर सकता है। इसी कारण मनुष्य राजनीतिक प्राणी है। इसके विपरीत ब्रिन और महात्मा गांधी नैतिक व्यवस्था को राज्य से अलग मानते हैं क्योंकि नैतिक व्यवस्था का श्रेष्ठ मनुष्य का विवेक है। राज्य को अपना संगठन और कार्य इस नैतिक व्यवस्था या मनुष्य के विवेक के अनुसार करना चाहिये। इसलिये इनकी विचारधाराओं में राज्य नहीं व्यक्ति धार्मिक महत्त्वपूख है। उसो और मिस जेटी की विचारधारा को गांधी जी



के विचारों की धोर प्रशंसा करते हैं क्योंकि इन दोनों दार्शनिकों में कम से कम एक धोर व्यक्ति नैतिकता के केन्द्र हैं। कसो वहाँ राज्य को व्यक्ति की सामान्य इच्छा की प्रतिबन्धिता के कारण नैतिक इकाई मानता है वहाँ उसके दर्शन में व्यक्ति की 'स्वतन्त्र नैतिक इच्छा' भी केन्द्रीय विचार है। मिला व्यक्ति को ही नैतिकता का केन्द्र मानता है इसलिये वह उसे सर्वाधिक स्वतन्त्रता देने का प्रयास करती है। परन्तु मिला यह इन बातों से कि मनुष्य की यह नैतिकता समाज के अन्य व्यक्तियों से संबंधित होने के कारण समाज में ही समझ है। वह व्यक्ति धोर समाज में सावधानी सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका है। हीन मिला की इस कमी को पूरा करता है धोर सामान्य हित की सामान्य 'चेतना' में ही व्यक्ति की नैतिकता देखता है। परन्तु यदि राज्य इस सामान्य हित की सामान्य चेतना को व्यक्त नहीं करता तो इसका विरोध आवश्यक है। महात्मा गांधी इस विरोध को अपने दर्शन का विषय बनाते हैं।

मार्क्सवाद इन परम्परागत नैतिक विचारों से मिला है। वह धनस्त नैतिक भावना समुदायों और संस्कृतियों की धार्मिक शक्तियों का परिष्कार मानता है। ये धार्मिक शक्तियाँ विरोधी शक्तों को अपने धनस्त रक्षने के कारण एक अन्तर्गत शक्ति उत्पन्न करती हैं जो पूरे समाज उसकी नैतिक मान्यता समझ में पूरे ऐतिहासिक परिवर्तनों की कर्ता होती है। परन्तु हम ध्यान से देखें तो वह व्यक्ति भी धनस्त में हमें उस समाज की धोर से बाती है जो पूर्ण नैतिक है—जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य करता है और अपनी आवश्यकतानुसार समाज के साधन प्राप्त करता है। इस तरह मार्क्स के अनुसार नैतिक समाज का व्यवस्थापन राज्य वा मनुष्य स्वयं नहीं करता समाज की धार्मिक शक्तियाँ करती हैं।

इन सभी लेखकों के विचार राज्य के धान्तरिक जीवन से संबंधित हैं। इसके विपरीत कौटिल्य और मकियावेली राज्य धोर व्यक्ति के धान्तरिक सम्बन्ध की नहीं बरन राज्यों के पारस्परिक राज्य के बाह्य संबंधों को देखते हैं। जो राज्य धान्तरिक जीवन में नैतिकता से संबंध रखता है उसके लिये बाह्य जीवन में नैतिकता की भावना ही नहीं रहती। राज्य के बाह्य संबंध नैतिकता धनैतिकता की भावना से परे विचारों से हैं। यह कौटिल्य विचारधारा है। कौटिल्य ही स्पष्ट रूप से सिद्धता है कि वहाँ धान्तरिक जीवन में राज्य का सत्त्व बर्णोपम वर्ग में निहित नैतिकता स्थापित करना है वहाँ बाह्य कर्मों में राज्य नैतिक सत्त्वों और भावनाओं से मुक्त है।

घाबुनिक राजनीति के सामने ये दोनों ही समस्याएँ हैं। घाबुनिक जीवन में किये गये उसके लोक कल्याणकारी कार्य मनुष्य का कहीं तक विकास कर सकते हैं ? और क्या इनसे मनुष्य का विकास हो सकता है ? बाह्य सम्बंधों में सम्बन्ध और कूटनीति के स्थान पर क्या सांविपूर्व यह प्रतिष्ठान की मान्यता नहीं मिल सकती ? क्या राज्यों के बाह्य सम्बंध एक सार्वभौमिक नीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत काम नहीं कर सकते ? इसका उत्तर नजरान नहीं देते पर घाबुनिक समस्याओं को समझने में आवश्यक ही उनका योगदान है। इसलिये उनका अध्ययन केवल विद्यालयों के लिये ही नहीं बल्कि प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के लिये आवश्यक है।

— पुस्तक का लेखन कार्य मेरे द्वारा ही हुआ। डा० धर्मस सा० केवल प्रेरक व्यक्ति ही न थे, उन्होंने प्रोत्साहन दिया इन लेखकों को समझने में मुझे सहायता भी मेरी कठिनाईयाँ दूर की और उनके द्वारा सिखी जा रही राजदर्शन के इतिहास का पूर्ण ज्ञान उठाने का मुझे अवसर दिया। उनका इस पुस्तक में इतना अधिक योगदान है कि मुझे उन्हें लेखक के रूप में स्वीकार करना आवश्यक था। रस के पहिले प्रत्येक धर्म भी तो नहीं बन सकते। इसलिये उनकी सह-लेखक बनने की अनुमति पाकर यह पुस्तक अभी भी से प्रेषणी हो गई। पुस्तक की त्रुटियों के लिये मैं उत्तरदायी हूँ अज्ञानियों का भय वापस साहब की है।

नजरानों को जिससे समय देने केवल इन दार्शनिकों के विचारों को ही नहीं दिया है क्योंकि विचार पारा का भी जोत हुआ है प्रवाह होता है विस्तार होता है और वह धीरे धीरे दूसरी जगहों को भी प्रवेश करती है। प्रत्येक दार्शनिक मूल रूप से अपनी समाजमूलक परिस्थितियों को लेकर चलता है पर वह प्रतीत का शूली होता है और अविष्य का साहकार। इसलिये मैंने नजरानों के अध्ययन में प्रत्येक रत्न की विचारधारा प्रारंभ करने के पुरुष उसके समय के प्राचीन दर्शन उसकी समाज सामयिक परिस्थितियाँ बताना आवश्यक समझा है। साथ ही विचार के क्षेत्र में उसका योगदान भी बताया है। सबसे एक साथ यह भी हुआ है कि हमें प्रायः पूरे राजदर्शन के इतिहास की एक बुझती रूप देना जिस जाती है जिससे पाठकों को कोई भी रत्न दूसरे रत्न से अलग नहीं मान्य पड़ेगा। पुस्तक की भाषा को मैंने प्रत्येक सरल रखने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक विचारों पर मैंने मुख्य विचारों को

संसेप में विवरण (catalog) कर दिया है ताकि एक बार पुस्तक या विषय पढ़ने के पश्चात् मुख्य विचारों को यादगामी हो बुझाया जा सके ।

श्री जी० डी० जोशी डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट नैनीताल की कृपा से हम लोगों को निम्न संवन्धी के मुख्यालय मिल सही जिनके ध्यान में किसी भी पुस्तक का लेखन कार्य असंभव था । पुस्तक में इस प्रकार जमका महत्वपूर्ण योगदान है और इस सहायता के सिधे हम लोगों ही लेखक उनके ध्यामारी हैं ।

वीरम विद्या

तरुणा प्रबल

नैनीताल

११ ४-६२

## विषय-सूची

|  | पृष्ठ   |
|--|---------|
| रत्न १ <u>प्रेटो</u> (४२८ ई० पू०—३४८ ई० पू०) - १ | १३१     |
| रत्न २ <u>भारत</u> (३८४ ई० पू०—३२२ ई० पू०) - २   | १२-१४   |
| रत्न ३ <u>कौटिल्य</u> -                          | ११-११   |
| रत्न ४ <u>मेकियाउसी</u> (१४६४—१४२७) - ३          | १६-१११  |
| रत्न ५ <u>रुसो</u> (१७१२—१७७८) - ४               | १२-१४४  |
| रत्न ६ <u>मिस</u> (१८०९—१८७१) - ५                | १४५-१०१ |
| रत्न ७. <u>माक्स</u> (१८१८—१८८१) - ६             | १७२-११७ |
| रत्न ८. <u>प्रीन</u> (१८३६—१८८२) - ७             | ११८-२१३ |
| रत्न ९ <u>गांधी</u> (१८६१—१९४८)                  | २१४-२१४ |

५४४

- १ लॉकर
- २ एडम
- ३ डे एडम
- ४ एडमिनिस्ट्रेशन



## प्लेटो

(४२८ ई० पू० - ३४८ ई० पू०)

- |                        |                                    |
|------------------------|------------------------------------|
| (१) ग्रीक राजवर्धन ।   | (५) धर्म का स्वरूप ।               |
| (२) प्लेटो की समस्या । | (६) पिता और साम्यवादी व्यवस्था ।   |
| (३) रिपब्लिक ।         | (७) सॉज ।                          |
| (४) आदर्श राज्य ।      | (८) प्लेटो का राजवर्धन में स्थान । |

(१)

ग्रीक वर्धन आधुनिक राज्य-वर्धन का जनक

विमर्न सिद्धता है कि राजनीति को जो पहली महत्त्वपूर्ण मेट ग्रीस ने दी वह थी—राज-वर्धन का आधिपत्य । इसी कारण राज-वर्धन की वर्धा हम ग्रीक राज-वर्धन से प्रारम्भ करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि सम्यता के प्रारम्भिक वर्षों से ही मनुष्य राज्य में रहता आया है, और ग्रीस के नगर राज्यों के पहिले ईजिप्ट सीरिया चीन व भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो चुके थे परन्तु राजनीतिक चिन्तन का भ्रम ग्रीस के राजनीतिक आदर्शिकों को ही है।

ग्रीस पहाड़ियों और घाटियों का देश है । प्राचीन समय में यहाँ सबसे पहिले हेलास के बंधन आकर बसे, और उन्होंने जगह-जगह अपने नगर बसाये । मीगो निक परिस्थिति और आबायमन के कारणों की कमी के कारण प्रत्येक नगर स्वतंत्र राज्य बन गया । युनान के सभी निवासी राजातीय एक ही धर्म मानने वाले



## प्लेटो

(४२८ ई० पू० - ३४८ ई० पू०)

- |       |                    |       |                                |
|-------|--------------------|-------|--------------------------------|
| ( १ ) | रीक राजदर्शन ।     | ( २ ) | धर्म का स्वरूप ।               |
| ( २ ) | प्लेटो की समस्या । | ( ३ ) | शिष्टा और साम्यवादी व्यवस्था । |
| ( ३ ) | रिपब्लिक ।         | ( ४ ) | साँझ ।                         |
| ( ४ ) | साहस राज्य ।       | ( ५ ) | प्लेटो का राजदर्शन में स्थान । |

### ( १ )

#### रीक ब्रह्मण आधुनिक राज्य-ब्रह्मण का जन्म

विमर्श निश्चय है कि राजनीति को जो पहली महत्वपूर्ण मेट दीस ने दी, वह थी—राज-वर्धन का आदिपचार । इसी कारण राज-वर्धन की कर्षा हम रीक राज-वर्धन से प्रारम्भ करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि सम्पत्ता के प्रारम्भिक कर्षों से ही मनुष्य राज्य में उल्ला धारा है, और दीस के नगर राज्यों के पहिले ईजिप्ट, सीरिया चीन व भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो चुके थे बरन्तु राजनीतिक चिन्तन वा ध्य दीस के राजनीतिक दार्शनिकों को ही है ।

दीस पहलिकों और भाटियों का देस है । प्राचीन समय में यही सबसे पहिले हेमस्य के बंधक भाकर बसे, और ऊन्होंने अपह-अपह करने नगर बसाये । धीमे-धीमे परिस्थिति और आबाधन के साबकों की कमी के कारण प्रायः नगर स्वतन्त्र राज्य बन गया । ब्रह्मण के सभी निवासी सजातीय, एक ही धर्म मानने वाले



घौर एक ही भाषा-भाषी थे। वैल्वी के मन्दिर में धोतम्यिक शैलों घौर पुस्तों के समय मिस्र-मिस्र राज्य सम्पर्क में घाट के परन्तु इनमें इतनी अधिक स्वये तथा भी घुसर घुनागी राय्यों के प्रति इतनी ईर्ष्या थी कि वे कोई स्वाई-तब या कई नगर-राय्यों को मिलाकर एक बड़ा राज्य नहीं बना सके। प्राथिक सामनों का घमाव भी बड़े राय्यों की स्थापना में बाधक था। छोटे-छोटे नगर-राय्य स्वभरित अथर्व के परन्तु प्राथिक इति से बहुत पिछड़े हुए। इनकी प्राथिक व्यवस्था घुसामों के भ्रम पर प्राथित थी। राज्य में सिम्काएक व्यवसायी थे, परन्तु शासन का कार्य उन लोगों के हाथ में था जो प्राथिक चिन्ता से मुक्त थे। इसीलिए वो अरस्तु कहता है कि नागरिकता के लिये अथर्वक प्राथक है। इन राय्यों में जीवन बहुत सुखी न था। बिदेसी राय्यों से आक्रमण की चिन्ता सबैव रहती थी घौर राज्य के आन्तरिक जीवन में बर्ष-संघर्ष का बोल बाला था। एवेंच घौर स्वार्थ अथर्व ऐसे राज्य थे जिन्होंने अन्य राय्यों की तुलना में काफ़ी सन्नति करली थी। इसीलिए स्वामाथिक वा कि वार्थनिक इन राय्यों के सामाथिक संगठनों की घोर आकषित हों।

प्रश्न यह उठता है कि इन छोटे-छोटे नगर-राय्यों में जिनमें बर्ष-संघर्ष हो रहे हों चिन्ता प्राथिक जीवन सरल न हो ऐसी कौन सी बात थी कि वे राजवर्षाण के पिता बन बने ?

इन राय्यों की घौर इनमें रहने वाले निवासियों की कई विशेषतायें थीं—

(१) भूदान क्षेत्र में पाठ ही पाठ कई नगर-राय्य के घौर उनके सामाथिक संभल तथा राजनीतिक जीवन में काफ़ी निम्नता थी जिसके कारण इनमें तुलनात्मक अध्ययन की यह सुविधा थी जो बड़े-बड़े साम्राज्यवादी देशों में सम्भव नहीं हो सकती।

(२) फिर इन नगर-राय्यों ने काफ़ी परिवर्तन भी देखे थे। इनमें निरंकुश शासन प्रभातन्त्र कुलीनतन्त्र अनिकतन्त्र घौर राजतन्त्र—सबकी बापी-बापी से स्थापना हुई थी। सबके बुल-बोयों से यह परिचित थे घौर उन कार्यों को घासानी से समक सकते थे जिनके कारण एक शासन घुसरे तन्त्र की स्थापना होता है।

(३) उनके जीवन में राजनीति का बहुत अधिक महत्व था इसलिये यद्यपि उनका प्राथिक भौगोलिक व आर्थिक क्षेत्र बड़ा साम्राज्यों की अवेसा छोटा था फिर भी उनके राजनीतिक चिन्तन अवेसाकृत प्राथिक व्यापक व बहन था।

(४) उनमें इस बात की स्वामाजिक शिक्षा भी कि पार्श्व राज्य क्या है और राजनीतिक व सामाजिक जीवन का सप्टन किस प्रकार किया जाने कि प्रीस में राजदर्शन विकसित होने के कारण

- (१) प्रीस नगर राज्यों का लक्ष्य का जिससे गुणनप्रमक धार्यमान की सुविधा ।
- (२) नगर राज्यों का परिवर्तन-बन्ध ।
- (३) राजनीतिक शिक्षा की धोर सुझाव ।

का राजदर्शन प्रारम्भ से ही होने प्रेरणा देता रहा है, धोर देता रहेगा ।

वोटो ने समकालीन समस्याओं के जो हल बताये वे आज हमारे जीवन में महत्वपूर्ण भसे ही न हों परन्तु वोटो का यह रूपन कि मनुष्य कुछ धोर छाति का जीवन चाहता है, जान न होने के कारण वह इस मूल धोर छाति से वञ्चित रहता है सर्वत्र ही सत्य रहेगा । वोटो का कहना वा कि यदि हम ठीक-ठीक विचिन्तन के द्वारा जीवन के सत्य को समझ सकें व प्र जीवन क्या है इसे जान सकें तो मनुष्य उस सत्य प्राप्त करने के साधनों को भी खोज सकता है । इस प्रकार जो मनुष्य अपने समाज का पुन निर्माण कर सक्षम जीवन बिता सकता है । जीवन के लक्ष्य और उच्चकी प्राप्ति के साधनों की विवेचना धोर विचिन्तन राजनीति का धार्य भी प्रमुख विषय है धोर वोटो से लेकर महात्मा गांधी तक सभी राजनीतिक धार्यनिक इसी विषय का विचिन्तन करते रहे हैं । सुखी धोर राज्य जीवन के स्वरूप धोर उसे प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में उनमें मतभेद प्रकट पाया जाता है परन्तु धीक लोगों ने अपनी विवेचना धोर विचिन्तन की शक्ति द्वारा जो सामाजिक संस्थाओं का वैज्ञानिक धार्यन करने का मार्ग प्रस्तुत किया उसमें प्रीस का महत्वपूर्ण योग रहा है । धीक धार्यनिकों न हूँ बताया कि मनुष्य धोर समाज स-उद्देश्य है—किसी उद्देश्य के लिए है । इस धार्यन तक मनुष्य धोर समाज के सम्बन्ध में इसी प्रकार का दृष्टिकोण रखते पाये हैं । इस प्रकार मनुष्य का लक्ष्य उस प्राप्ति के साधन उसके सामाजिक सम्बन्धों के विचिन्तन की आवश्यकता धोर रीति हूँ प्रीस से मिली है ।

ग्रीक दार्शनिकों का झूठा बड़ा योवदान राज्य-शास्त्र की धम्यावली है। उन्होंने हमें कई धर्म दिये, जिनका प्रयोग धार्मिक भी हम करते हैं। यद्यपि वह मानता पड़ेगा कि राज्य का स्वरूप ज्यो-ज्यो बदलता गया तब परिस्थितियाँ बँटि-बँटि घायी गईं, बँटि-बँटि इन धर्मों के धर्म भी बदलते गये। इसलिए हमें कभी-कभी ग्रीक लेखकों के विचारों को समझने में कठिनाई भी होती है। उदाहरण के लिये प्लेटो ने बर्म गुण संविधान धार्मिक धर्मों का प्रयोग जिन धर्मों में किया है, वे धार्मिक धर्म हैं। 'बर्म' का धर्म प्लेटो कर्तव्य के रूप में लेता है, धार्मिक विधान या धार्मिक कृत्या के रूप में नहीं। इस दृष्टि से प्लेटो 'बर्म' शब्द का प्रयोग ठीक उही रूप में करता है, जिस रूप में हम स्त्री-धर्म राजधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार गुण या सत्गुण शब्द में कोई नैतिक भावना का बोध नहीं है। प्लेटो जब कहता है कि ज्ञान ही गुण है तो इसमें कोई नैतिकता की भावना निहित नहीं है। उसके गुण शब्द का प्रयोग ठीक उही रूप में हुआ है, जिस रूप में हम कहते हैं कि ज्ञान का गुण है कष्टता। इसलिए सत्गुण का धर्म हुआ अपने काम में बस होना। यह तरह सत्गुणी होना एक कला है, या कहना चाहिए कि एक उपयोगी कला है। यह या धर्म्य मनुष्य वह है, जो धर्म्ये वाक्य की भाँति अपनी कला में निपुण हो। इस तरह प्लेटो के धर्मों में धर्म्य नागरिक नैतिक व्यक्ति नहीं बरन् वह मनुष्य है, जो इस कला में निपुण हो कि इन धर्म्य जीवन—मुखी जीवन—किस प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार की कठिनाई हमें 'राज्य' 'संविधान' धार्मिक धर्मों के सम्बन्ध में भी हो सकती है। ग्रीक राज्य एक प्रकार से सहायी समुदाय या बृहत् कृतव्य

के। जन्में अपनत्व और सहकारिता

ग्रीक राजदर्शन का योग

की भावना थी। राज्य को निर्मित

- (१) राजदर्शन की मूलभूत समस्याओं का अध्ययन—जीवन का लक्ष्य और प्राप्ति के साधन।

करने वाले व्यक्तियों का चरित्र

सामूहिक जीवन में परिलक्षित होता

था इसलिये उनके लिए यह कहना

- (२) धर्म्यता की रीति।

स्वामाधिक या कि राज्य व्यक्ति का

- (३) राजनीतिक धम्यावली।

बृहत् रूप है। संविधान सरकार के

विभिन्न धर्मों का वर्णन या व्यवस्थापन

नहीं बरन् समाज में रहने का ढङ्ग है, जीवन का ढङ्ग है। परन्तु यह यह

कहता है कि किसी राज्य का संविधान उस समय बदलता है, जब उसमें धार्मिक

करने वाला हम बहस जाता है, तो यह कथन हम प्राबुतिक परिस्थितियों में टोक-टोक मही समझ सकते।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी हम ग्रीक वर्चन को राजनीति का पिता मानते हैं, क्योंकि ग्रीक दार्शनिकों ने हमें

- (१) सामाजिक संस्थाओं का विवेचनात्मक चिंतन दिया।
- (२) समाज और व्यक्ति का जीवन स-ज-स है, यह विचार दिया।
- (३) राजनैतिक सम्भावनी थी।
- (४) ठरक के आधार पर विवेचना करने की पद्धति थी।

ग्रीक राजवर्चन की माग्यतायें—

लैटो और धरस्तू के विचारों को समझने के लिये हमें ग्रीक वर्चन की कुछ विशेषताओं और माग्यताओं को जानना आवश्यक है।

(१) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध—

बुकि नगर राज्य छोटे छोटे सहकारी समुदाय थे इसलिये बहुतों काहिसे के एक बृहत् कुटुम्ब के समान थे। उनमें व्यक्ति बनाम समाज की भावना कमो जायत नहीं हुई। समाज व्यक्तियों का ही सामूहिक रूप था। और बुकि यह माना जाता था कि सम्य जीवन के लिये मनुष्य को दूसरों पर निर्भर होना पड़ता है, इसलिये मनुष्य एक दूसरे के सहयोग के साथ ही मुन्नी जीवन प्राप्त कर सकता है। जैसे व्यक्ति होयें वैसा ही समाज होगा। समाज व्यक्ति के हित में है, और व्यक्ति समाज के लिये आवश्यक है। इसलिये ग्रीक राजवर्चन में व्यक्ति और समाज का सुन्दर सम्बन्ध हुआ है।

(२) मर्यादित जीवन—

ऐसे समाजों में सहकारिता सभी संभव है, जब परीज परीज के बीच बड़ी दार्ड न हा। प्रत्येक चीज की प्रति बुरी होती है, विशेष कर पन और परिष्ठा की। इसीलिये देस्फ्री के मॉलर पर निष्ठा का कि प्रत्येक मनुष्य की मर्यादा होनी चाहिये। इसी कारण ही लैटो व्यक्तियों का सबसे बड़ा धर्म यह मानता है कि हर एक मनुष्य नहीं बार्न करे, जिसके लिय बह अनुत्प हो और उन कार्य क करने में ही उने मन्तोप मिसना चाहिये। मर्यादित जीवन का सिद्धांत उनकी राजनीति बना धर्म धारि सभी धेरों में विद्यमान था। इसी मर्यादित जीवन को लैटो और धरस्तू नयम या ध्याम नियंत्रण कहते हैं और धरस्तू इसी के आधार पर अपनी शासन व्यवस्था में मध्यम मार्ग धरन्तता है।

## (३) निधि की महत्ता—

चूँकि ग्रीक समाज एक सहकारी समुदाय था इसलिये परंपराओं की रीति रिवाजों और कर्मों को विशेष महत्ता की दृष्टि से देखा जाता था। इन्हें वे अपने प्राचीन युगों के संक्षिप्त ज्ञान की निधि मानते थे। इसलिये नियम सर्वमान्य थे और नियमों के अनुसार सासन करना या 'नियमों का शासन' सहकारी जीवन के लिये आवश्यक माना गया था।

## (४) राज्य नैतिक संस्था है—

समाज में रहकर ही मनुष्य सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है, अपना विकास कर सकता है, सर्व वस्तु जीवन प्राप्त कर सकता है, मनुष्य बन सकता है, अपना प्राकृतिक रूप पा सकता है, इसलिये राज्य मानव को 'मानव' बनाने वाली नैतिक संस्था के रूप में देखा जाता था। बिना समाज के मनुष्य मनुष्य नहीं रह सकता। परन्तु इस संदर्भ में ही यह कह सकता था कि मनुष्य 'राजनीतिक प्राणी है' जो मनुष्य समाज में नहीं रहता वह या तो देवता है या बूँटार जानवर।

## (५) बास बर्ष—

सुखी जीवन का अर्थ केवल नैतिक समृद्धि का नहीं होता। ग्रीक दार्शनिकों

के अनुसार सुखी जीवन मनुष्योचित

वृत्तियों के विकास से ही प्राप्त हो सकता

है, इसलिये मनुष्य को धार्मिक ऋषियों

से मुक्त हो प्रकृति की आनन्दकता है

इसीलिये प्रकृति को नागरिक जीवन

के लिये आवश्यक माना गया था।

परन्तु यह प्रकृति मुक्त जीवन सभी

सम्भव हो सकता है, जब धार्मिक

साधकों की पूर्ण बास बर्ष कर लें।

इसलिये बास बर्ष का इन राज्यों में

आवश्यक स्थान था। कहना चाहिये

कि इस बास बर्ष ने ही अपने अन्त में नागरिक बर्ष और दार्शनिक बर्ष को

सहायता प्रदान की है। परन्तु मुझी राजवर्षन में धर्मिकों को कोई स्थान नहीं

मिखा था कि इनका पूर्ण राजनीतिक जीवन इसी बर्ष पर अवलम्बित था।

ग्रीक राजवर्षन की विशेषताएँ

(१) नगर राज्य सहकारी समुदाय

इसलिये नैतिक-समृद्धि का सम्बन्ध।

(२) अर्थिक और आत्म-व्ययन में

विह्वलता।

(३) निधि का अस्तित्व।

(४) राज्य नैतिक संस्था।

(५) धार्मिक परिष्कार करने वाले

बास नागरिक नहीं।

कि इस बास बर्ष ने ही अपने अन्त में नागरिक बर्ष और दार्शनिक बर्ष को सहायता प्रदान की है। परन्तु मुझी राजवर्षन में धर्मिकों को कोई स्थान नहीं मिखा था कि इनका पूर्ण राजनीतिक जीवन इसी बर्ष पर अवलम्बित था।

( २ )

प्लेटो की समस्या

प्लेटो का जन्म ४२८ ई० पू० में एथेंस के कुसीन घराने में हुआ था। प्रारंभ से ही उसे राजनीति में भाग लेने की इच्छा थी। परन्तु उन दिनों एथेंस की राजनीति इतनी अधिक दूषित हो गई थी बर्ग-सर्प इतना बढ़ा हुआ था कि उसे राजनीतिक जीवन से दूर हो गई। एथेंस के प्रजातन्त्र ने जब उसके कुछ महान दार्शनिक सुकरात को मृत्यु दंड दिया तो उसके हृदय को बड़ी चोट पहुँची। अपने एक पत्र में वह लिखता है, 'जब मैंने इन बातों पर विचार किया कि किस प्रकार के लोग इस समय शासन कर रहे थे बिना तथा जन नैतिकता की क्या परिस्थिति थी और जर्म के साध-साध जितना मैंने इस पर विचार किया, उठना ही मुझे अष्टाई सरकार की स्थापना का कार्य सुकरात मान्य पड़ने लगा-----' जब मैंने देखा कि राजनीतिक परिस्थिति में कितनी गड़बड़ी है, तो मैं बिलकुल बहड़ा गया-----' अन्त में मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि बिना किसी अपवाद के प्रत्येक राज्य में कुछ शासन है और प्रत्येक राज्य की इतनी दोषनीय अवस्था है कि बिना सीमाव्य और पुनः निर्माण के कोई सुधार सम्भव नहीं है। इसलिये मैं सच्चे ज्ञान की प्रशंसा और यह घोषित करने पर बाध्य हुआ कि-----'मनुष्य जाति उस समय तक दुराई से छुटकारा नहीं पा सकती जब तक या तो सच्चे दार्शनिक शासक न हों या राजनीतिज्ञ ही सच्चे दार्शनिक न हो जाय।

इस प्रकार व्यावहारिक राजनीति में भाग लेने का इच्छुक प्लेटो विरक्त दार्शनिक बन गया, और इस विषय पर चिन्तन करने लगा कि दादर्श राज्य क्या है, उसे किस प्रकार निर्मित किया जा सकता है।

प्लेटो ने अपने जीवन-काल में कई पुस्तकें लिखीं जिन्हें संवाद कहा जाता है। परन्तु राजनीति में संबंध रखने वाली केवल तीन पुस्तकें ही प्रमुख हैं, रिपब्लिक, स्टेट्समैन और सोज। रिपब्लिक में उसने राज्य की जो व्यवस्था बताई है, उसमें राजसत्ता दार्शनिकों के हाथ में दी गई है, जो विद्वान् ज्ञान रखते हैं। कहा जाता है कि मापराकसूत्र में उसे रिपब्लिक के अनुरूप शासन-व्यवस्था बनाने का अवसर मिला था परन्तु वह विफल रहा। इसलिये अपने अनुभवों के आधार पर उसने रिपब्लिक की शासन-व्यवस्था में संशोधन कर इसी

पुस्तक स्टेट्समैन मिथी। उसकी इस पुस्तक में भी नई शासन व्यवस्था भी प्रत्यावहारिक थी। इसलिये अपनी कृपावस्था में उसने लॉज को मित्रता प्रारंभ किया जो प्रतिक्रम्यावहारिक है। इस पुस्तक में रिपब्लिक में दिये गये दार्शनिकों के शासन के स्वान पर बिबि के शासन को मान्यता दी गई है। परन्तु प्लेटो रिपब्लिक के धारण को अपनी कृपावस्था में भी विमुक्त धारण मानता रहा और उसे ही सर्वोत्तम राज्य के नाम से पुकारता रहा। चूंकि इस संसार में विमुक्त ज्ञान रखने वाले दार्शनिक मिलना संभव नहीं इसलिये पुर्बों के संचित ज्ञान से ही जो बिबि में मिलता है, हमें काम चलाना होगा; चूंकि दार्शनिकों का जीवन तथा छात्रा ज्ञान हमें प्राप्त नहीं इसलिये पीठि-रिवाजों में रहे पये ज्ञान के मुख्य से हमें अपना काम करना होगा। इसीलिये बिबि का शासन द्वितीय श्रेणी का सर्वोत्तम शासन है। लॉज पुस्तक जब बहू भूषि कर रहा था तब ३४८ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई।

प्लेटो के जीवन से हमें माहूम होता है कि प्लेटो समकालीन राज्यों के संघर्षों से संतुष्ट न था। बहू उनमें व्यक्तिकारी परिवर्तन व सुधार चाहता

था। स्पार्टा और एथेंस के युद्ध के परभाव एथेंस की हानि बहुत बिकर गई थी बर्ब-संभव बड़ा हुआ था और ऐसा माहूम होता था कि एथेंस में एक नहीं दो राज्य है। पत्रिक-धर्म गरीबों पर प्रभावकार कर रहा था। प्रजातन्त्रिक शासन ने दार्शनिक मुकण्ड को मुसु-बंद रिकर अपनी ध्यानता स्पष्ट कर दी थी उन अपना स्वार्थ देख रहे थे राज्य का

### प्लेटो की समस्या

- (१) राज्यों में पाये जाने वाले धनीर गरीब के संघर्ष को हटाना।
- (२) धनीर शासकों के स्वान पर दार्शनिक राजाधर्मों की नियुक्ति।
- (३) स्वार्थ और व्यक्तिधर्म के स्वान पर प्रजातन्त्रिक राज्य की व्यवस्था बिबि का शासन स्थापित करना।

द्वि किन्ही के ध्यान में न था। इसलिये प्लेटो के सामने समस्या थी—

(१) प्रतिक्रम्य बर्ब-संभव को दूर करना और राज्य में उस एकता को स्थापित करना जिसमें सभी बर्ब मिलकर काम करें और बर्बों में सहकण्टिता रहे।

(२) राज्य की व्यवस्था बिबि की व्यवस्था तथा सामूहिक जीवन को फिर से स्थापित करना जिसे उसके पुर्ब दार्शनिक सोफिस्टों के विचारों ने नष्ट कर दिया था।

(१) राज्य में उस बने को घासना सत्ता देना जो इस बात को जान रहा है कि अच्छाई क्या है और कैसे प्राप्त की जा सकती है।

(२) इस शासक वर्ग को धार्मिक प्रसन्नियों से दूर रखना।

### जेटो के विचारों का स्रोत—

जेटो अपनी समकालीन राज्यों की व्यवस्था सुधारने का लक्ष्य लेकर बना है। फिर भी उसके कुछ विचारों के स्रोत हमें उसके पूर्वकालीन दार्शनिकों में मिलते हैं। जेटो के राज्य के विकास-क्रम की भनक हमें पाइथागोरस में दिखाई देती है। पाइथागोरस ने ही इस विचार को स्पष्ट किया था कि राज्य एक शिक्षा-मस्था है। रिपब्लिक में जिन तीन वर्गों की चर्चा की गई है, उसी के अनुकूल पाइथागोरस ने राज्य के निवासियों को बुद्धि के प्रेमी सम्मान के प्रेमी और धन के प्रेमी तीन वर्गों में बाँटा था। पाइथागोरस ने एक आश्रम भी बनाया था जिसमें धार्यम की संपत्ति पर सबका समान अधिकार था।

### विचारों का स्रोत

पाइथागोरस—राज्य के तीन वर्ग :

बुद्धि-प्रेमी सम्मान

प्रेमी, धन-प्रेमी

राज्य-शिक्षा संस्था

आश्रम की साम्यवादी

व्यवस्था।

सुकरात—ज्ञान ही महाचार है

धर्म्ययन की रीति बार्तालाप।

जेटो के दार्शनिकों का साम्यवादी जीवन इसी आश्रम के जीवन से प्रभावित मानूम होता है। परन्तु जेटो पर सबसे अधिक प्रभाव सुकरात का था जिसे वह अपना गुरु मानता है। सुकरात ने मनुष्य के व्यक्तित्व और विवेक पर बहुत अधिक जोर दिया है। उसका कहना था कि मनुष्य का मुख्य लक्ष्य अपनी आत्मा धर्म्ययन की रीति बार्तालाप। को अच्छी बनाना या चरित्र निर्माण करना है। इसलिये उसने नैतिक

और बौद्धिक पक्ष को प्रधानता दी। मानव जीवन का लक्ष्य ही विवेक पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में अच्छा जीवन व्यतीत करना है। राज्य का लक्ष्य भी अच्छा जीवन देना है। इसलिये शासक वर्ग में बौद्धिक और नैतिक शक्तता आवश्यक है। विवेकहीन प्राणी ही अच्छाई क्या है—इस विचार को सर्फ के आचार पर जान सकता है, अच्छाई का ज्ञान होने पर ही मनुष्य अच्छा जीवन व्यतीत करेगा। इसलिये सुकरात का कहना था कि 'ज्ञान ही सद्गुण है। सुकरात का यह विचार ही जेटो की रिपब्लिक का केन्द्र-बिन्दु है। सुकरात



उद्योग में स्वाभाविक समता है, तो वह अन्ध भीर अधिक मात्रा में वस्तुएँ उत्पन्न कर सकता है। इसलिये अम-विभाजन और पारस्परिक आदान-प्रदान प्रत्येक व्यक्ति और समाज के हित में है। वह अम-विभाजन प्राकृतिक है, क्योंकि सब मनुष्य समान नहीं है, इसलिये समाज भी प्राकृतिक है, क्योंकि उसी के द्वारा पारस्परिक आदान प्रदान होने से सबकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। समाज के इस प्रारम्भिक रूप में सब मनुष्य केवल अपनी भीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा है। हम वर्गों का मूलमूल स्वरूप पाते हैं—कि प्रत्येक मनुष्य बड़ी कार्य करे, जिसके लिये वह उपयुक्त ही।

परन्तु केवल भीतिक इच्छाओं की पूर्ति से मनुष्य संतुष्ट नहीं होता। वह संस्कृति और सम्मता चाहता है, आराम और विलास की उन वस्तुओं को चाहता है, जिन्हें उसका छोटा समाज पूरा नहीं कर पाता। इसीलिये बड़े क्षेत्रों के लिये बुद्ध होते हैं, और देश की सुरक्षा के लिये हने सैनिकों की आवश्यकता होती है। सैनिक-वर्ग में उत्साह, स्फूर्ति और सम्मान की भावना आवश्यक है, साथ ही उनमें अनु और मित्र को पहिचानने का विवेक भी होना चाहिये जिस में वे देश के अनु के प्रति कठोर और अपने नागरिकों के प्रति नम्र हो सकें। इस प्रकार राज्य में एक नया वर्ग—सैनिक वर्ग—प्रारंभ होता है, जो राज्य का संरक्षक है। सैनिक-वर्ग में स्वाभाविक रूप से दो गुण होने चाहिये उत्साह और विवेक। अपने कार्य में दक्ष होने के लिये इस वर्ग को अपना ध्यान केवल सैनिक कार्य में लगाना चाहिये। और भीतिक आवश्यकताओं के उत्पादन-कार्य या आर्थिक वर्ग से इसे अलग रहना चाहिये।

परन्तु सैनिक वर्ग में पूर्ण ज्ञान का अभाव है। वे तो केवल अनु और मित्र को पहिचान सकते हैं। उनमें वह ज्ञान नहीं कि राज्य को किस प्रकार संभलाना किया जाने कि वह अन्ध अम सके। अन्धई क्या है, इस बात के जानने की इनमें प्रतिभा नहीं होती। इसलिये समाज के संभलाने और निर्देशन के लिये हमें उन ज्ञानियों की आवश्यकता होती है जिन्होंने अन्धई के स्वरूप को देखा है, और पहिचाना है। इसे हम दार्शनिक वर्ग कह सकते हैं। वह दार्शनिक वर्ग राज्य का शासक और असधी संरक्षक है, क्योंकि इसके शासन और निर्देशन के द्वारा ही सभी व्यक्ति अन्ध अन्ध के अनुरूप अपना जीवन बना सकते हैं। सैनिक-वर्ग को इस दार्शनिक वर्ग का सहायक संरक्षक कहना उचित होगा क्योंकि इनमें विवेक और इच्छाओं वा मिश्रण होने के कारण दार्शनिक वर्ग के विबुद्ध ज्ञान का अभाव है। इस प्रकार हम आदर्श-राज्य में तीन वर्ग पाते हैं।

वार्षिक-वर्ग (संरक्षक) सैनिक वर्ग (सहायक संरक्षक) और प्रायिक वर्ग (भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला)। प्लेटो का यह वर्ग-विभाजन

राज्य की उत्पत्ति

बूँत मनुष्य स्वभरित नहीं उसे दूसरों की आवश्यकता है इसलिये भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज का उद्भव ।

प्रायिक राज्य—प्रत्येक व्यक्ति वहीं प्रायिक कार्य करे, जिसमें वह बल हो प्रायिक वर्ग ।

सम्य राज्य—सैनिक वर्ग की प्रायिकता; सैनिकों में ब्रह्माह और विवेक; कार्यपालिका का कार्य ।

सैनिक राज्य—वार्षिक वर्ग की प्रायिकता- विद्युत् ज्ञान का शासन राज्य का निर्देशन ।

मास्टीय जाति व्यवस्था के अनुरूप नहीं है क्योंकि यह जन्म पर आधारित नहीं है । साथ ही प्राधुनिक वर्गों की भाँति यह वर्ग पर भी आधारित नहीं है । इसका आधार है—स्वामयिक समतायें और कार्यक्षमता । यदि एक वर्ग के बच्चों में दूसरे वर्ग के गुण मिलते हैं, तो पहिले वर्ग में उत्पन्न होते हुए भी वह दूसरे वर्ग का सदस्य बन जावेगा । प्लेटो लिखता है कि ईश्वर ने वार्षिक वर्ग में सोना बनाया है सैनिक वर्ग में चाँदी और प्रायिक वर्ग में पीतल या काँसा । यह हो सकता है कि कसि वर्ग में पैदा हुए बच्चों में चाँदी या सोना बना हो । ऐसी हासत में उन्हें चाँदी या सोने वाले वर्ग में रखना चाहिये ।

वार्षिक वर्ग जो एक प्रकार से राज्य की विधान-मन्त्रा बनायेंगे ध-क्षेत्र जीवन की कारण को धामने रखकर राज्य का निर्देशन करेंगे । ये लोग प्रायम में रहेंगे इसकी कोई व्यक्तिगत संगति नहीं होगी और न कोई निजी स्वार्थ । इसलिये वे अपनी स्वामयिक समताओं का प्रयोग करने निजी या अपने वर्ग की स्वार्थ-सिद्धि में नहीं करेंगे । सैनिक वर्ग राज्य की कार्यपालिका होगी और वह वार्षिक वर्ग का विधान सभा के आदेशानुसार कार्य करेगी । इस वर्ग में वार्षिक वर्ग द्वारा बताये गये पदों को अनुसरण करने का ज्ञान तो होता है, पर स्वयं राज्य की व्यवस्थाई सोचने की क्षमता नहीं होती । प्रायिक वर्ग राज्य की और संरक्षकों की प्रायिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा । बूँत प्रायिक बड़ा राज्य और प्रायिक परीची और घमीची राज्य में पतन का कारण होती है इसलिये संरक्षक राज्य को और प्रसक्ती पन-अपधि को मर्यादित रखने । संरक्षकों

के उत्तराधिकारी सर्वत्र राज्य के शासक नहीं होंगे। प्रत्येक वर्गों के वर्णों को, यदि उनमें स्वाभाविक समता है, संरक्षकों का कार्य करने का सबसर मिलेगा।

( ३ )

### राज्य में धर्म

इस धर्मसंरक्षक राज्य की अपरेखा बर्तमान में प्लेटो का सत्य मनुष्य के धर्म के उस बृहत् रूप को बताना या जो राज्य में परिमक्षित होता है। मुनातियों के अनुसार सार्वभूमि में चार गुण निहित हैं—बुद्धि साहस समय और धर्म। राज्य में ये गुण कहाँ हैं ?

विशेष राज्य के कार्यों के निर्देशन में बिछाई देता है, और यह वार्षिक वर्ग का गुण है। उन्हें पूरे समाज के हित का ज्ञान होता है, और वे प्रण्डर के सभी पहलुओं को जानते हैं।

सहस्रक संरक्षकों के पास अपना निजी ज्ञान नहीं होता परन्तु वे वार्षिक वर्ग के ज्ञान के अनुसार चलते हैं। इस र्णिक धर्म में साहस होता है। प्लेटो के अनुसार साहस का धर्म है, उन वस्तुओं का ज्ञान जिसे हमें भय लगना प्रकृत न जाना चाहिये। इसलिये साहस उस ज्ञान का ही धर्म है कि कौन कौन प्रण्डर है, प्रकृत बुरी। वास्तविक बुराई नैतिक बुराई है, इसलिये गरीबी लक्ष्मी के और मृत्यु तक से हमें भयभीत नहीं होना चाहिये क्योंकि उनसे हमारा नैतिक पतन नहीं होता। वस्तु की प्रण्डर और बुराई का ज्ञान वार्षिकों में होता है, परन्तु सहस्रक संरक्षकों का साहस उन्हें प्रण्डर पर डटे रहने को कहता है।

धर्म-निर्माण या संवम किसी एक विशेष वर्ग का गुण नहीं है। धर्म निर्माण का धर्म होता है अपने निम्न तत्त्वों को उच्च तत्त्वों के आशीन रखना। लेकिन शासन साधकों की दृष्टि से भी होना चाहिये। इसलिये धर्म का धर्म है कि सभी वर्ग इस बात में सर्वसम्मत हों कि कौन शासन करें और कौन साधित हों। संवम सब वर्गों में धर्मव्यवस्था स्थापित कर राज्य की एकता बनाता है।

यदि धर्म राज्य में एकता है, और विभिन्न वर्गों में धर्मव्यवस्था सादा है, तो धर्म विभिन्न वर्गों को अलग-अलग रख मिश्रता का सिद्धान्त प्रतिपादित

करते हुए संयम का पुरक है। धर्म का सिद्धान्त हमने धार्मिक राज्य के भ्रम विभाजन के सिद्धान्त में भी देखा है और आदर्श राज्य की धर्म-व्यवस्था में भी। धर्म का इस प्रकार धर्म सगमम बही है, जिसे तुलसीदास जी ने व्यक्त किया है, 'बहुलायम निज-निज धर्म'। अपनी धमता के अनुसार अपने कार्य को करना और सही कार्य पर एकनिष्ठ होना धर्म है। इसे हम म्याय या कर्तव्य भी कह सकते हैं कि प्रत्येक आदमी को बही मिले जिसका वह भागी है। इस प्रकार सामाजिक धर्म वह है, जिसमें प्रत्येक अपनी योग्यता और धमता के अनुसार इस प्रकार कार्य करे और दूसरे के धर्म में बाधा न पहुँचाते हुए वह पूरे समाज के कल्याण में अपना योग दे।

**व्यक्ति में धर्म—**

प्लेटो ने राज्य के स्वल्प की बर्णना इसलिये की थी कि वह व्यक्ति में पाये जाने वाले धर्म के बृहत् रूप को राज्य में प्राप्तानी से देख सक। इसलिए सामा

|                                    |              |
|------------------------------------|--------------|
| धर्म                               |              |
| धार्मिक धर्म—विशेष                 | }            |
| सैनिक धर्म—साहस                    |              |
| धार्मिक धर्म—                      |              |
| संयम या आत्म-नियन्त्रण—उच्च तत्त्व | संयम और धर्म |
| निम्न तत्त्व                       |              |
| को प्रचीन रखें                     |              |

जिक धर्म बतसाने के पश्चात् प्लेटो यह बताने की चेष्टा करता है कि यह धर्म वैयक्तिक धर्म का ही प्रतिरूप है, और आत्मा के गुण ही राज्य के गुणों में व्यक्त होते हैं। हम देख चुके हैं कि राज्य में धर्म का धर्म है कि समाज के तीन धर्म—विचार विमर्ष कार्यपासिका और धार्मिक—ससग-ससग रहे अथ और उन्हें उपयुक्त धमता के लोग ही करें। चूँकि बर्गों के गुण उन बर्गों को निर्मित करने वाले व्यक्तियों के सामूहिक गुण हैं, इसलिए हमें बर्गों के अनुषंग तीन गुण व्यक्ति की आत्मा में भी मिलते हैं। परन्तु समाज का संघटन इस बात पर आधारित है कि कुछ व्यक्तियों में एक गुण का प्राबल्य होता है और व्यक्ति में इन तीन तत्त्वों के होते हुए

धर्म—(१) प्रत्येक धर्म अपनी धमता और योग्यता के अनुसार कार्य करते हुए पूरे समाज का कल्याण करे।

(२) आत्मा का तत्त्व उत्तम और अधोत्तमों को अपने अधीन रखें।

हुए मेंदूरे गुणों का। इसलिये प्रत्येक किसी एक तत्त्व की प्रधानता हेतु है।

आत्मा में तीन मुख हैं विवेक उत्साह धीर इच्छा । हम अपने जीवन में इन तीन तत्वों का अनुभव करते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विवेक धीर इच्छा उत्साह धीर विवेक इच्छा धीर उत्साह के संघर्षों का अनुभव करता है । प्लेटो के अनुसार विवेक मस्तिष्क में होता है, उत्साह का निवास स्थान हृदय है, धीर इच्छाओं का पेट धीर सुप्तांग । इस प्रकार समाज के तीन वर्ग अपने मूल १३ में व्यक्ति के तीन तत्वों में दिखाई देते हैं । जिस प्रकार वर्ग मुख समाज में द्वार्षिक-वर्ग सैनिक वर्ग की सह्ययता से धार्मिक-वर्ग का शासन करता है, उसी प्रकार मूढ व्यक्ति में उत्साह की सह्ययता से विवेक अपनी इच्छाओं का समय करेगा । संघर्ष के द्वारा इन विभिन्न तत्वों में धार्मिक-वर्ग चौपा धीर हर एक तत्व अपना कार्य करने में सक्षम पाएगा । इसलिए व्यक्ति में धर्म आत्मा का वह मुख है, जिसके द्वारा मनुष्य ठीक धीर उचित कार्य करता है, धीर विवेक द्वारा अपने उत्साह धीर इच्छाओं का समय करता है । जिसमें धर्म का प्रभाव है, उसमें प्रात्परिक संघर्ष रहता है ।

#### धार्मिक-वर्ग—

(१) आत्मा के मुखों को राज्य में शाशात्कार कर प्लेटो ने व्यक्ति धीर राज्य के वर्गों को स्पष्ट किया है । परन्तु ऐसा करने में उसने कुछ भूलें की हैं । इसमें संदेह नहीं है कि इन अपनी इच्छाओं धीर विवेक के बीच में संघर्ष देखते हैं जिससे मान्य होता है कि इच्छाओं धीर विवेक भिन्न भिन्न हैं । फिर भी हमारा व्यक्ति एक है धीर इन तीन तत्वों के कारण हमारे तीन व्यक्ति नहीं हो जाते । प्लेटो ने व्यक्ति की इस एकता पर ध्यान नहीं दिया इसी कारण उसने राज्य में तीन वर्गों को प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष रखा है । जिसके कारण राज्य में एकता नहीं बरत प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई देता है । प्रत्येक वर्ग अपना काम करता है उसे दूसरे वर्ग के कार्य से मतलब ही नहीं है । धार्मिक वर्ग धीर धार्मिक वर्ग की संस्कारों भी प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष हैं । एक के बीच साम्यवाद है धीर दूसरे के पास वैयक्तिक सम्पत्ति । राज्य में वो शिक्षा त मात्र हुए दिखाई देते हैं । परन्तु का कहना ठीक ही है कि प्लेटो का भाव्य राज्य एक नहीं वो राज्य है ।

(२) राज्य का प्रत्येक वर्ग केवल वही कार्य करेगा जिसके लिए उसके पास स्वाभाविक क्षमता है । इसका धर्म यह हुआ कि वर्ग में रहकर मनुष्य आत्मा के केवल उच्च मुख के आचार पर कार्य करेगा जिसकी प्रभावता उसमें है । इस

हमारे हम प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के केवल एक गुण से बाँध देते हैं। (समृद्ध तीन गुणों का सम्मिश्रण है, तीन गुणों का सामंजस्य ही उसके व्यक्तित्व को बनाता है।) अब हम केवल एक गुण से उसके व्यक्तित्व को बाँध कर और उसके केवल एक गुण की बिकसित कर क्या उसके मानवीय व्यक्तित्व का हानन नहीं करते ?

(३) साथ ही आदर्श राज्य में उत्पादक वर्ग की पूर्ण प्रबुद्धता की परीक्षा है। इसलिये इस बात की प्राप्ति हो सकती है कि यह वर्ग शासक वर्ग से असन्तुष्ट रहे।

इन मूल्यों के होते हुए भी प्लेटो अपने सङ्घ में सफल रहा है। समकालीन राज्यों में उसने सर्व-सर्व, धन-सोनुपता शासकों की अज्ञानता व अमीर-गरीब के संघर्ष देखे थे। उसका आदर्श राज्य

### प्रासोचना

प्रत्येक वर्ग को केवल एक ही कार्य से सम्बद्ध करने के कारण

(१) राज्य में दो समाज हो जायेंगे।

(२) व्यक्ति आत्मा के तीनों गुणों का विकास न कर सकेगा।

(३) प्रायिक वर्ग की प्रबुद्धता की परीक्षा है।

पर इस आदर्श राज्य में वर्ग सङ्घारिता होगी और प्रायिक राजनैतिक शक्तियों को प्रलय प्रलय रखा गया है।

इन कारणों से मुक्त है, क्योंकि प्रत्येक वर्ग समाज की भलाई के लिए अपना-अपना कार्य करता है, दूसरे के कार्य से उसे कोई मतलब नहीं है। इसलिये आदर्श राज्य में सर्व-सर्व के स्थान पर वर्ग सङ्घारिता है। जिसमें शासक वर्ग निरंकुश न हो जाये और शासन सत्ता किसी बय-बिजिये की बपीठी न बन जाय, इसके लिए उसने प्राकृतिक क्षमता के आधार पर वर्ग बदलने का प्रावधान भी किया है। शासक वर्ग में सम्मिश्रण रख और शासक-वर्ग को प्रायिक-वर्ग से अलग रख उसने अमीर-गरीब के संघर्ष और शासक-वर्ग की धन-सोनुपता को समाप्त किया है।

( ६ )

### प्लेटो की शिक्षा और साम्यवादी व्यवस्था

व्यक्ति में सरपुण्य के विकास के लिए प्लेटो दो बातों की आवश्यकता मानता है ।

(१) जन्मजात क्षमताएँ या स्वामाबिक प्रवृत्ति और

(२) इस प्रवृत्ति को विकसित करने के लिये उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था ।

इसलिए वह अपने समाज में साम्यवादी और निश्चय प्रकार की शिक्षा का आयोजन करता है । शिक्षा और साम्यवाद एक दूसरे के पुरक हैं ।

शिक्षा का स्वरूप सकारात्मक है और साम्यवाद का नकारात्मक क्योंकि शिक्षा के द्वारा आत्मा मिस-मिश्र विकास की अवस्थाओं में ऐसे वातावरण में लाई जाती है, जिससे आत्मा का विकास हो सके । शिक्षा वास्तव में एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है, और उसकी आत्मा को अन्तिम सत्य के वर्धन होते हैं । इस प्रकार शिक्षा के दो पहलू हैं, सामाजिक नैतिकता विकसित करना और सत्य का वर्धन कराना । इस प्रकार शिक्षा आत्मा को सरपुण्य की तरफ प्रेरित करती है ।

साम्यवाद का नकारात्मक कार्य है । साम्यवादी व्यवस्था के द्वारा सामाजिक वातावरण से उन तत्वों को हटाना तथा जो आत्मा के समुचित विकास में बाधक हैं । कौटुम्बिक साम्यवाद द्वारा मनुष्य की उचित जन्मजात क्षमताओं को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है ।

#### प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त—

रिपब्लिक में शिक्षा का इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि उसी इसे शिक्षा पर शिक्षा यथा समुह्य ग्रन्थ मानता है । अपनी शिक्षा व्यवस्था में प्लेटो एग्जैन्स का पाठ्यक्रम और स्पार्टा की व्यवस्था का मिस करता है । एग्जैन्स में शिक्षा-कार्य कुटुम्ब की जिम्मेदारी थी और शिक्षा का पाठ्यक्रम विविध विषयों से सम्बंधित था इसलिये मनुष्य बीसी शिक्षा चाहता था बीसी से सकता था । इसमें विविधता थी परन्तु स्वतन्त्र विचार-बारा को बन्ध देने के कारण यह अन्धे नागरिक को नहीं बरन् उन्मत्त कान्तिकारियों को बन्ध देती थी । स्पार्टा में सात वर्ष की आयु के पश्चात् बच्चे कुटुम्ब से धि लिये जाते थे और उन्हें मुख्यतया

सैनिक-शिक्षा की जाती थी। इससे उस्ताह का विकास होता था मस्तिष्क का नहीं। ऐपेन्थ की विविधता अपना कर पेटो शिक्षा के द्वारा मनुष्य का पूर्ण विकास चाहता है, चाहे ही वह इस पर स्पार्टा का सामाजिक नियन्त्रण रखता है, जिससे व्यक्ति उच्छुद्ध न हो बल्कि समाज में नागरिक बनकर अपने स्वामी गुहार काम कर सके। शिक्षा-म्यक्त्वा द्वारा पेटो का सद्देश्य न केवल अन्धे सैनिक और बार्सनिक राजाओं का निर्माण करना है, बल्कि मस्तिष्क का इस प्रकार विकास करना है कि वह सत्य के दर्शन कर सके।

पेटो के अनुसार धारणा की अपन वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया शिक्षा है, इसलिये शिक्षक को उचित वातावरण उपस्थित करना चाहिए, जिसमें धारणा क्रियाशील हो तथा अन्धी वस्तुओं की ओर आकर्षित हो सके। धारणा के अन्त-वस्तुओं को बाह्य-प्रकाश की ओर लाना शिक्षा का कार्य है, इसलिये शिक्षा जीवन-पर्यन्त चल सकती है। शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य धारणा का ठीक विकास है। मस्तिष्क बुद्धि के कारण एक इकाई है, इसलिये मस्तिष्क केवल एक अन्तिम लक्ष्य—अच्छाई की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। अच्छाई की विमुक्त धारणा प्राप्त करना ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

शिक्षा की अवस्थायें—

प्रारम्भिक वर्षों की शिक्षा का अर्ह लक्ष्य भावनाओं और संवेदों को संतुलित कर चरित्र-निर्माण करना है। इस काम में शिक्षा उस्ताह को बढ़ाती है, जो सैनिकों का गुण होता है, और सैनिक कार्यों के लिये व्यक्ति को उपयुक्त बनाती है। इस समय शिक्षा के पाठ्यक्रम में दो प्रमुख विषय हैं—(१) व्यायाम और (२) संगीत

परंतु व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरतें ही नहीं हैं। शरीर का पूर्ण विकास व्यायाम के अन्तर्गत आता है और इस दृष्टि से भोजन और चिकित्सा का ज्ञान व्यायाम के अन्तर्गत है। व्यायाम के द्वारा मनुष्य में सहन-शक्ति और साहस आता है, इससे शरीर मज्जा रहता है।

मन की शिक्षा के लिये संगीत आवश्यक है। संगीत भावनाओं को परिष्कृत करता है और बुद्धि की मूल शक्तियों को प्राप्त करता है। संगीत शब्द का उपयोग भी पेटो व्यापक अर्थ में करता है और नृत्य माहिर्य तथा कविता पाठ संगीत के अन्तर्गत रखता है। कविता की मय भावों की रचना, चित्र व



दिल्य कसा की रंनोनियो बर्णों के मन को प्राकषित करती है । इतलिये प्रबलित साहित्य में जो प्रनैतिकता है, उसे दूर करना धानस्यक है जिसमें घनीत पाठकों का नैतिक विकास कर सके ।

ध्यायाम धीर संवीत की शिक्षा ६ बर्ष से प्रारंभ होकर १८ बर्ष की प्रायु तक अनेगी धीर राज्य इसका सनासन करेगा । १८ से २० बर्ष की प्रायु तक

### शिक्षा

यह ध्य—साभाजिक नैतिकता; सत्य का दर्शन ।

सङ्गठन—ध्येस की विभिन्नता धीर स्वाई का साभाजिक नियंत्रण ।

पाठ्यक्रम—

६ बर्ष से १८ बर्ष प्रायु तक—  
जाबनाधों धीर उत्साह के विकास के लिए सङ्गीत धीर व्यायाम ।

१८ से २० बर्ष प्रायु तक—  
धनुसासन के लिए संनिक शिक्षा; परीसा धीर सरककों का चुनाव ।

२० बर्ष प्रायु तक—नैतिक धीर बलित धास परीसा—असफल नापरिक साधारण अफलर, असल नापरिक उच्च शिक्षा ।

२२ बर्ष प्रायु तक—ध्याय धीर पठित ।

२० बर्ष प्रायु तक—शासक के ध्य में ध्यावृत्तिक धनुमब । इसके बाद सत्य का चिन्तन ।

साहस प्रारंभ-नियंत्रण धीर धनुसासन की प्रवृत्ति बढाने के लिये संनिक शिक्षा होयी । २ बर्ष के बाद संरक्षक बर्ष का चुनाव होया धीर जो परीसा में कठीण होने ऊँहें ध्य शिक्षा की बायेपी ।

स्त्री धीर पुरुष दोनों ही उच शिक्षा में धापके सकेने । यह शिक्षा १२ बर्ष तक अनेपी । पहिले सठ बर्ष में शिक्षा का विषय नैतिक धासन धीर पठित होया । तीस बर्ष की प्रायु में जो परीसा होवी उसमें विफल होने वाले राज्य क साधारण अफलर हाये धीर असल विधाविनों को त्याग धीर पठित की २ बर्ष तक शिक्षा की बायेपी जिसके बाद वे राज्य के सासक प्रनेने । पठित धीर संरक्षक का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की इन्धिय-अगत से विचार-अमत में ले जाना है धीर इनके अन्वजन के पश्चात् ही व्यक्ति अन्वर्ध के विधुद विचार को प्राप्त करने की अमता पा सकता है ।

यह शासक-बर्ष वार्षनिक राजा नहीं है । शासक बर्ष १२ बर्ष तक समाज का धनुमब प्राप्त करेगा धीर उसके बाद चिन्तन में अयेगा । चिन्तन ही वार्षनिक

राजा बनाती है। शासन-कार्य के द्वारा व्यक्ति समाज के स्वरूप को समझ सकता है। उसमें काम करने की शक्ति या सकती है और तभी दार्शनिक राजा बनने पर वह समाज का निर्देशन कर सकता है।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था—

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का नकारात्मक और पूरक भाग है। धार्मिक सुधार के लिए हमें अनुक्रम भ्रष्टिष्ठ और धार्मिक व्यवस्था चाहिये। इन्हों के द्वारा हमारा सुधार स्थायी हो सकता है। इसलिये साम्यवादी व्यवस्था की आवश्यकता है। धरन्तु इस नई सामाजिक व्यवस्था की बड़ी तीव्र आलोचना करता है। उसका कहना है कि सामाजिक सुधार सिधा के द्वारा हो सकते हैं। क्रान्तिकारी भौतिक परिवर्तन द्वारा नहीं। प्लेटो सिधा के महत्व को मानता है और उसकी साम्यवादी व्यवस्था केवल सिधा की पूरक है।

साम्यवादी व्यवस्था का विचार प्लेटो का पूर्ण मौलिक विचार नहीं है। स्पार्टा में यद्यपि निजी संपत्ति की व्यवस्था थी परंतु उपयोग सामूहिक होता था और बर्दा के नागरिक सहयोग में भाग लेते थे। एथेंस में भी वैयक्तिक संपत्ति पर राज्य का नियंत्रण काफी था। सिद्धान्त के रूप में भी साम्यवाद की चारणा प्लेटो के पूर्व प्रचलित थी। एथेंस में कुछ लोग प्राकृतिक जीवन के पक्ष में थे जिसमें व्यक्ति व्यक्ति नियमों से स्वतंत्र हो सकें। पारथाभोरस के आश्रम में भी साम्यवादी व्यवस्था थी।

प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था प्राकृतिक व्यवस्था की ओर से जाने वाली व्यवस्था नहीं है, क्योंकि वह समाज को इन्जिन नहीं समझता और न व्यक्तियों को सामाजिक बंधन से मुक्त करना चाहता है। उसका उद्देश्य नैतिक और मनोवैज्ञानिक है। चूंकि धर्म की भावना में सरदाक बर्ग की धार्मिक बर्ग के काम में नहीं पड़ना चाहिए इसलिये विवेक और ज्ञान के प्रतिनिधि सरदाक बर्ग को धार्मिक पक्ष को निर्वाहनी है साम्यवादी व्यवस्था में रहना चाहिये। इस व्यवस्था के आयोजन में प्लेटो का व्यावहारिक और राजनीतिक दृष्टिकोण रहा है। क्योंकि राजनीतिक और धार्मिक शक्ति का एक हाथ में होना राज्य के लिये पाठक है। इसलिये चार्जर कहता है कि साम्यवाद का सिद्धान्त यदि व्यावहारिक है तो वह दार्शनिक भी है। यदि वह अनुभव पर आधारित है, तो वह रिपब्लिक में व्यावहारिक विविध कार्य के सिद्धान्त पर भी आधारित है।

जैसे निश्चय है कि यदि सरकारों को अपने कुछ काम रखना है तो, वह आवश्यक है कि उनके पास 'कोई निजी संपत्ति न होनी चाहिये निजी मकान या परिवारगृह न होना चाहिये-----

साम्प्रदायी व्यवस्था

शिक्षा व्यवस्था की पूरक ।

समाजवादी सिद्धांतों तथा प्रचलित संस्थाओं पर आधारित ।

जिसका उद्देश्य नैतिक तथा मनुष्यव्यवस्था 'वर्ग' से सम्बन्धित ।

जिसमें ईशिय लोग जाड़ी है उन्हें नैतिक वास्तुओं की कम आवश्यकता ?

कौटुम्बिक साम्प्रदाय से किराओं की सेवाओं तथा मजदूरी संस्थाएं राज्य की प्राप्त हो सकेंगी ।

पर इससे राज्य में जो सामाजिक व्यवस्थाओं बढती हैं ।

सबु बन जानेसे वे हटा करे, हटा के पात्र बनये ।" प्रांतिक समुहों से उन्हें बिदा करी रहेगी ।

उनका न तो निजी मकान होना न कुटुम्ब । किराई भसम सिरियों में रहेगी और वे समाज रूप से सब संरक्षकों की किराई होंगी । मजदूरी संस्था के सिधे समक-समक पर सहाय्य होंने और एक समय में उत्पन्न बच्चे सबके बच्चे मनु माने। इस प्रकार संरक्षक से चार बच्चों से नहीं बरज सबसे बराबर प्रेम रखे। उनी संरक्षक वर्ग को पूरे राज्य की मसाई सोचने का सम्पाद होना ।

कौटुम्बिक जीवन की साम्प्रदायी व्यवस्था बड़ी कर्मठकारी है, परन्तु वह संपत्ति की साम्प्रदायी व्यवस्था पर आधारित है । यदि निजी मकान और निजी संपत्ति नहीं रहेगी तो कुटुम्ब व्यवस्था कैसे रह सकती है ? फिर कौटुम्बिक व्यवस्था संकुचित कौटुम्बिक प्रेम बढ़ाती है । तीसरे कौटुम्बिक व्यवस्था से किराओं का पूर्ण विकास नहीं हो पाता इस प्रकार राज्य को माने नागरिकों की सेवा नहीं मिल पाती ।

उनके साक्षात् केवल करने ही होना चाहिये, जो साहसी एवं संयमी कुशल सेमानी के सिधे आवश्यक हों ।" सरकारों को बाविक वर्ग के सिधे एक निश्चित रकम की बावनी जिससे संरक्षक सरल जीवन व्यतीत कर सकें । संरक्षक वर्ग एक साथ भोजन करना एक साथ सिरियों में रहेगा । ईश्वर ने उनके घन्टा में घोना जाड़ी दिया है, ईशिय वातु उनके भीतर है, सब वे इन भीतिक वातुओं को लेकर क्यों प्रांतिक ईशिय वातु को बंवा करें ? यदि उनके पास सम्पत्ति होनी, तो वे "मान्य नागरिकों के बोस्त न रखकर

परन्तु, जेटो की साम्यवादी व्यवस्था का बड़ा विरोध करता है। उसका कहना है कि संरक्षक वर्ग में साम्यवादी व्यवस्था है, और धार्मिक वर्ग में निजी संपत्ति की व्यवस्था इसलिये जो सामाजिक व्यवस्थाओं के होने से राज्य को भागों में बट जाता है और राज्य की एकता समझ नहीं हो सकती। परन्तु हमें यह न भुलना चाहिये कि यद्यपि धार्मिक वर्ग में साम्यवादी व्यवस्था न होगी फिर भी उनकी संपत्ति पर सामाजिक नियंत्रण रहेगा। धार्मिक वर्ग में प्रतियोगिता न हो सकेगी न कोई घोषण होना और न कोई बहुत धमीर व बहुत गरीब होना। पर यह सब धारम निर्वन्धन के गुण के कारण होना, साम्यवाद के कारण नहीं।

जेटो का साम्यवाद और धार्मिक साम्यवाद—

जेटो के साम्यवाद और धार्मिक साम्यवाद में बड़ा अन्तर है—

१ धार्मिक साम्यवाद धार्मिक और नीतिकवादी आधार चिन्ता पर बना है, जबकि जेटो का साम्यवाद वास्तविकता और धर्म की भावना के आधार पर है।

२ जेटो का साम्यवाद केवल संरक्षक वर्ग के लिये है। धार्मिक वर्ग में वैयक्तिक संपत्ति का अधिकार है। इस प्रकार जेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग के लिये नहीं है और समाज का धार्मिक हीना वैयक्तिक है, साम्यवादी नहीं। धार्मिक साम्यवाद पूरे धार्मिक वर्ग को साम्यवादी बनाने के पक्ष में है।

३ जेटो का साम्यवाद उत्पादन के क्षेत्र में नहीं केवल संरक्षकों के उपभोग के क्षेत्र में है। इसका अर्थ है कि संरक्षक वर्ग नीतिक वस्तुओं की इच्छा न करे, सरस जीवन व्यतीत करे, जिसमें वे विवेक द्वारा निम्नवर्गी हो घासन कर सकें। धार्मिक साम्यवाद उत्पादन और उपभोग दोनों से संबंधित है। इसका अर्थ है कि नीतिक वस्तुओं का न्यायोचित वितरण हो जिसमें सभी संपन्न हों और सभी वस्तुओं का उपभोग कर सकें। जहाँ जेटो के साम्यवाद का अर्थ है कि प्रत्येक वर्ग अपना कार्य ठीक कर सके वहाँ धार्मिक साम्यवाद का अर्थ है कि प्रत्येक को उचित पुरस्कार मिले।

४ जेटो का साम्यवाद बुनीतर्तीय है। धार्मिक साम्यवाद प्रजातर्तीय है। धार्मिक साम्यवाद प्राथमिक रूप से धार्मिक कार्यक्रम को सामने रखता है और राजनैतिक कार्यक्रम को द्वितीय स्थान देता है। जेटो का सदैव प्राथमिक

रूप से राजनीतिक है, और अत्यन्त रूप से ही धार्मिक। इसका उद्देश्य है संपत्ति को सीमित करना न कि सम्पत्ति बढ़ाना।

३. धार्मिक साम्यवाद कौटुम्बिक साम्यवाद से संबन्धित नहीं है।

प्लेटो और धार्मिक साम्यवाद में इतना धार्मिक अंतर है कि कोई भी धार्मिक साम्यवादी प्लेटो के साम्यवादी जीवन को अपनाता नहीं चाहेगा। फिर भी दोनों में कुछ समानताएँ हैं। प्लेटो न्याय की माँग करता है पर उस न्याय की जो कार्यों के विचित्रीकरण में निहित है। धार्मिक साम्यवादी भी न्याय की माँग करता है, पर उस न्याय की विचका अर्थ है, उत्पादन के साधनों का समानिकरण और वस्तुओं का समान वितरण। धार्मिक साम्यवाद और प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य एक ही है, सामाजिक एकता। दोनों ही स्वार्थ कुछ प्रतिद्वन्द्वता को समाप्त करना चाहते हैं।

प्लेटो के साम्यवाद तथा धार्मिक साम्यवाद में अन्तर

प्लेटो का साम्यवाद

धार्मिक साम्यवाद

|                               |   |
|-------------------------------|---|
| (१) नैतिक आधार।               | (१) धार्मिक आधार।                         |
| (२) सरसक वर्ग के लिये।        | (२) पूरे समाज के लिये।                    |
| (३) उपभोग क्षेत्र में।        | (३) उत्पादन और उपभोग दोनों क्षेत्रों में। |
| (४) कुलीनताशून्य।             | (४) प्रजातन्त्रीय।                        |
| (५) प्रमुख उद्देश्य राजनीतिक। | (५) प्रमुख उद्देश्य धार्मिक।              |
| (६) कौटुम्बिक साम्यवाद।       | ×   |

दोनों का उद्देश्य सामाजिक न्याय और एकता।

(७)

प्लेटो की अरस्तू द्वारा आलोचना

प्लेटो की रिपब्लिक की सबसे सुन्दर आलोचना उसके शिष्य अरस्तू ने की है। यह सिद्धता है—

(१) प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में तीन वर्गों को बनाकर राज्य के संपूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन नहीं किया है। उसका ध्यान केवल संरक्षक वर्ग पर ही रहा है। इसलिये राज्य के स्थायित्व की भांति यह किंचित प्रकार कर

सकता है, जब उसने उन नियमों की बर्णों ही नहीं की है जिनके द्वारा भिन्न भिन्न बर्ण सामंजस्यता रखने और आपस में मिलाकर काम करेंगे।

(२) राज्य का आधार कुटुम्ब है और राज्य के लिये वैयक्तिक संपत्ति भी आवश्यक है। पैटो के साम्यवाद में कुटुम्ब और संपत्ति दोनों ही धुन कर दिये गये हैं, जब मनुष्य के जीवन में क्या प्राकर्षण है, वह किस बात के लिये कार्य करेगा? धरतू के समुदाय पैटो की रिपब्लिक में मनुष्य को कार्य करने की कोई प्रेरणा नहीं है।

(३) राज्यक बर्ण को न तो कौटुम्बिक सुख है, न संपत्ति का सुख। यह बर्ण अधिकतम सुख से वंचित रहेगा। यदि राज्य का एक बर्ण सुख से वंचित रहता है—और वह भी घासक बर्ण—तो राज्य सुख की प्राप्ति कैसे कर सकता है? पूर्णता धर्मों से मिलाकर बनती है और यदि एक भाग सुखी नहीं है, तो पूरा राज्य कैसे सुखी बन सकता है? धरतू इस बात को नहीं मानता कि संरक्षक बर्ण निःस्वार्थ भाव से राज्य की सेवा कर सकेगा।

#### रिपब्लिक और विधि का शासन

धरतू की इन आलोचनाओं के साथ हम एक और आलोचना जोड़ सकते हैं, कि पैटो के विचार पूर्ण रूप से क्रांतिकारी हैं। मूलतः में नियमों का

शासन सर्वश्रेष्ठ शासन माना जाता था परन्तु पैटो इस परंपरागत विचार को छोड़ देता है।

#### आलोचना

- (१) केवल संरक्षक बर्ण का अध्ययन।
- (२) धार्मिक बर्ण की उपेक्षा।
- (३) उन नियमों की उपेक्षा जिनसे विभिन्न बर्णों से सहयोग हो सके।
- (४) कुटुम्ब और सम्पत्ति (व्यक्ति के ही प्राकर्षण) का अभाव।
- (५) यदि बर्ण सुखी नहीं है तो राज्य कैसे सुखी हो सकता है।
- (६) विधि के शासन की उपेक्षा।

पैटो विमुक्त मान द्वारा संचालित शासन में बड़ा विश्वास रखता था। क्योंकि यद्यपि विधि और रीति-रिवाज कई पीढ़ियों का संवित्त ज्ञान है, फिर भी इनके द्वारा भी शासन होता है, उसमें कई कठिनाइयाँ हैं—

(क) विधि एक सामान्य व्यवस्था के लिये ही उपयुक्त है और वह सामान्य परिस्थितियों तथा सोसल परिस्थितियों का काम बना सकती है। पर जीवन अधिक पठित है। एक परिस्थिति दूसरी परिस्थिति से भिन्न होती है और एक

अधिक पठित है। एक परिस्थिति दूसरी परिस्थिति से भिन्न होती है और एक

मनुष्य बूझने मनुष्य से मित्र । सामान्य परिस्थितियों और औसत मनुष्य इस बटिस संघार में कस्यना की वस्तु हैं । इसलिये अलग २ परिस्थितियों के उपयुक्त बनाने के लिये इन विधियों में संशोधन की आवश्यकता होती है । इसलिये विधियों के ज्ञान से परे मनुष्य का भीमिष्ठ ज्ञान है । प्येटो सिद्धता है कि 'यदि कोई एक शासक पैदा होता है, तो उद्यते लिये नियमों की वरूण नहीं क्योंकि कोई भी नियम ज्ञान से अधिक अतिश्यासी नहीं है । विधि और ज्ञान का संबंध हम पेटेंट बनाई और डॉक्टर की उपमा से स्पष्ट कर सकते हैं । पेटेंट बनाई की तुलना में डॉक्टर सबैव अण्डा रहेगा ।

(ब) विधियों का शासन इसलिये भी अण्डा नहीं क्योंकि हम विधियों को अण्डाविस्वादी होकर मानते हैं, उनके वास्तविक अर्थ और हेतु की परवाह नहीं करते । वास्तविक ज्ञान किसी भी संस्था के 'क्यों' और 'किस' से संबंध रखता है । इसलिये यह ज्ञान विधियों में निहित ज्ञानत्व को प्रकाश में लाता है । एलेप में शार्चनिर्कों का ज्ञान विधियों के ज्ञान से ऊँचा है । क्योंकि इनके द्वारा हम संस्थाओं का अहंकार समझ सकते हैं ।

(घ) विधियों में परिवर्तन केवल परिस्थितियों के अनुसार होता है, जीवन के अन्तिम सख को सामने रखकर नहीं । यदि हमने अपने जीवन का सख सदाचार-निष्ठ जीवन बनाया है, तो हमें इस सख को सामने रखकर ही बुद्धि के सहारे अपने जीवन और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करना होगा ।

( ८ )

लॉज में विधि की स्थापना

लॉज प्येटो की नृदानस्था की इति है । इसमें वह प्रकलित मूलानी विचार काय की अण्डाते हुए विधि के शासन की व्यवस्था करता है । कहते हैं कि प्येटो ने अपने जीवन काल में स्वयं यह अनुभव किया था कि शार्चनिक राजाओं का होना एक संघार में संबंध नहीं है । इसलिये वह लॉज में अधिक व्यावहारिक राज्य-व्यवस्था देता है, और मूलानी नगर-राज्यों में विधि और रीति रिवाजों को जो स्थान प्राप्त था वह स्थान विधियों को प्रदान करता है । 'यदि प्येटो शार्चनिक शासक नहीं था तब ही जो बिना विधि के राज्य कर सकें तो कम से कम वह विधि का राज्य तो स्थापित कर सकता है और विधि का तो

दार्शनिक बना सकता है। यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष वर्णन हमें नहीं हो सकता है— तो कम से कम विधि में उसकी छाया तो दिखाई दे सकती है।

सौत्र और रिपब्लिक के विचारों में भिन्नता—

रिपब्लिक में जहाँ विद्युत् ज्ञान को शासन-सत्ता भी गई है, सौत्र में वह शासन-सत्ता विधि को भी गई है। जेटो इस काल में भी विद्युत् ज्ञान की सत्ता वाले राज्य को आदर्श राज्य मानता है, परन्तु विधि का राज्य अधिक व्यावहारिक है। यह भी आदर्श के निकट है। इसलिये विधि के शासन को भी वह सर्वोत्तम मानता है और उसे द्वितीय स्थान देता है।

इस तरह सौत्र में जेटो द्वितीय सर्वोत्तम राज्य की चर्चा करता है।

परन्तु इस परिवर्तन के कारण सौत्र की पूरी व्यवस्था में परिवर्तन आ गया है—

(क) रिपब्लिक का सुप्त सिद्धांत धर्म या सौत्र का सुप्त सिद्धांत आत्म-नियन्त्रण है।

सौत्र की विशेषता

- (१) विधि की स्थापना।
- (२) व्यावहारिक आदर्श द्वितीय सर्वोत्तम।
- (३) सुप्त-सिद्धांत—आत्म नियन्त्रण।
- (४) व्यक्तियुक्त सम्बन्ध कौटुम्बिक व्यवस्था का आबधान, यद्यपि राज्य का नियन्त्रण।
- (५) विधित्त राज्य-व्यवस्था (राज सत्ता और प्रजासत्ता)।
- (६) सार्वजन्यता द्वारा एकता।

(ख) रिपब्लिक के सरलक नियमों से स्वतंत्र ये सौत्र के घातक नियमों के आधीन हैं।

(ग) रिपब्लिक में राजनैतिक और धार्मिक शक्तियाँ भिन्न-२ थीं। दार्शनिकों का संपत्ति और बुद्धि ही सर्वम नहीं था परन्तु सौत्र में धार्मिक और राजनैतिक शक्ति का मेल हुआ है और उचित भिन्नण से राज्य की एकता स्थापित की गई है।

(घ) रिपब्लिक में प्रत्येक वर्ग अपना ही कार्य करता है और एक वर्ग के लिये दूसरे वर्ग के कार्य में हाथ

बैठाना उचित नहीं समझ गया था। सौत्र में विधित्त सरकार का आयोजन हुआ है जिसमें निम्न २ वर्गों का समुचित मेल हुआ है। इस प्रकार—

(ङ) रिपब्लिक में जहाँ भिन्नता द्वारा एकता स्थापित हुई है, वहाँ सौत्र में सार्वजन्यता द्वारा एकता स्थापित हुई है।



मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न। सामान्य परिस्थितियों और घोरतम मनुष्य इस जटिल संसार में कल्पना की वस्तु हैं। इसलिये प्रत्येक २ परिस्थितियों के उपयुक्त बनाने के लिये हम विधियों में संशोधन की आवश्यकता होती है। इसलिये विधियों के ज्ञान से परे मनुष्य का भीमिष्ठ ज्ञान है। ज्येष्ठो लिखता है कि 'यदि कोई इस घासक वीरा होता है, तो उसके लिये नियमों की जरूरत नहीं क्योंकि कोई भी नियम ज्ञान से अधिक सख्तिवासी नहीं है। विधि और ज्ञान का संबंध हम पेटेंट बर्खास्त और डाक्टर की उपमा से स्पष्ट कर सकते हैं। पेटेंट बर्खास्त की तुलना में डाक्टर सर्वत्र प्रचलित रहेगा।

(ब) विधियों का शासन इसलिये भी प्रचलित नहीं, क्योंकि हम विधियों को प्रचलित करने के लिये जानते हैं, उनके वास्तविक धर्म और हेतु की जरूरत नहीं करते। वास्तविक ज्ञान किसी भी संस्था के 'क्यों' और 'कैसे' से संबंध रखता है। इसलिये वह ज्ञान विधियों में निहित ज्ञानरत्न को प्रकाश में लाता है। संसद में वार्शनिर्णय का ज्ञान विधियों के ज्ञान से ऊंचा है। क्योंकि इनके द्वारा हम संस्थाओं का उद्देश्य समझ सकते हैं।

(ग) विधियों में परिवर्तन केवल परिस्थितियों के अनुसार होता है, जीवन के अन्तिम क्षण को सामने रखकर नहीं। यदि हमने अपने जीवन का समय सन्तुष्ट-निष्ठ जीवन बनाया है, तो हमें इस क्षण को सामने रखकर ही बुद्धि के सहारे अपने जीवन और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करना होता है।

(घ)

सॉज में विधि की स्थापना

सॉज ज्येष्ठो की बुद्धिवादी की हृदि है। इसमें वह प्रचलित यूनानी विचार काय की उपभोगे हुए विधि के शासन की व्यवस्था करता है। कहते हैं कि ज्येष्ठो ने अपने जीवन काल में स्वयं यह अनुभव किया था कि वार्शनिर्णय संस्थाओं का होना इस संसार में संभव नहीं है। इसलिये वह सॉज में अधिक व्यापक वार्शनिर्णय-व्यवस्था बैठा है, और यूनानी नगर-राज्यों में विधि और रीति-रिवाजों को जो स्थान प्राप्त था वह स्थान विधियों को प्रदान करता है। 'यदि ज्येष्ठो वार्शनिर्णय घासक नहीं था सफा है जो विधा विधि के राज्य कर सकें तो कम से कम वह विधि का राज्य तो स्थापित कर सकता है और विधि का तो

बार्थनिक बना सकता है। यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष दर्शन हमें नहीं हो सकता है—  
तो कम से कम विधि में उसकी छाया तो दिखाई दे सकती है।”

सौत्र और रिपब्लिक के विचारों में मिस्रता—

रिपब्लिक में जहाँ विभूय ज्ञान को शासन-सत्ता दी गई है, सौत्र में वह शासन-सत्ता विधि को दी गई है। प्लेटो इस काम में भी विभूय ज्ञान की सत्ता वाले राज्य को आदर्श राज्य मानता है, परन्तु विधि का राज्य अधिक व्यापक है। यह भी आदर्श के निकट है। इसलिये विधि के शासन को भी वह सर्वोत्तम मानता है और उसे द्वितीय स्थान देता है।

इस तरह सौत्र में प्लेटो द्वितीय सर्वोत्तम राज्य की बर्णना करता है।

परन्तु इस परिवर्तन के कारण सौत्र की पूरी व्यवस्था में परिवर्तन आया है—

(क) रिपब्लिक का मूल सिद्धान्त धर्म था सौत्र का मूल सिद्धान्त धर्म निर्वन्धन है।

#### सौत्र की विशेषता

- (१) विधि की स्थापना।
- (२) व्यावहारिक आदर्श, द्वितीय सर्वोत्तम।
- (३) मूल-सिद्धान्त—धर्म निर्वन्धन।
- (४) व्यक्तिगत सम्पत्ति, क्रौटुमिक व्यवस्था का आचरण धर्मि राज्य का निर्वन्धन।
- (५) विधित राज्य-व्यवस्था (राज्य शासन और प्रशासन)।
- (६) सामंजस्यता द्वारा एकता।

(ख) रिपब्लिक के सरलक नियमों से स्वर्ण के सौत्र के शासक नियमों के आधीन हैं।

(ग) रिपब्लिक में राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियाँ अलग-अलग थीं। दर्शनियों का संघर्ष और युद्ध के समय नहीं था परन्तु सौत्र में दर्शनिक और राजनीतिक दृष्टि का मेल हुआ है और अर्थिक नियमों से राज्य की एकता स्थापित की गई है।

(घ) रिपब्लिक में राज्य की धर्म-व्यवस्था बर्णित की गई है और सौत्र में धर्म-व्यवस्था के लिए बर्णित की गई है।

बैसास उचित नहीं समझना था। सौत्र में निष्ठा-व्यवस्था का उल्लेख हुआ है, जिसमें सिद्ध २ बर्णों का उल्लेख किया गया है।

(ङ) रिपब्लिक में जहाँ निष्ठा द्वारा एकता स्थापित हुई है, सौत्र में सामंजस्यता द्वारा एकता स्थापित हुई है।

(क) रिपब्लिक में शासकों के लिये साम्यवाद की व्यवस्था है और शासकों की न तो निजी संपत्ति है और न अपना कुटुंब। शासक क्षत्रियों में रहें और सहमोज करें। सौंज में शासकों के लिये सहमोज की प्रथा तो रखी गई है, परन्तु शासक अपना कुटुंब न अपनी निजी संपत्ति रखें। इसी तरह प्रजा को भी शासकों को चुनने में राजनीतिक अधिकार दिये गये हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सौंज की शासन-व्यवस्था विभिन्न वर्गों के स्वकीकरण से नहीं बल्कि मिश्रण से बनी है। इस व्यवस्था का मूल मंत्र है सहानुभूति संयम और आत्म-निग्रह।

विधि का स्वरूप—

धार्मिक काल में हम विधान-मंडलों द्वारा पारित प्रस्तावों को विधि कहते हैं। ज्येठो विधि का यह अर्थ नहीं होता। वह समाज के रीति रिवाजों को विधि कहता है। चूंकि रीति रिवाजों का मुख्य लक्ष्य समाज में अच्छे जीवन की प्रतिष्ठा करना है इसलिये विधियाँ नैतिक-सिद्धान्त हैं, जो हमारे जीवन को संचालनी बनाती हैं। इनके मालने से मनुष्य नैतिक बन सकता है। विधि के द्वारा मनुष्य में आत्मनियंत्रण की भावना जामूत होती है, और वह बुद्धि के द्वारा अपनी वासनाओं को व्यवस्थित और निर्बंध करता है। भारत निर्मलस्य की भावना जामूत होते ही मनुष्य स्वभाव से ऐसे कार्य करता है, जो मनुष्योचित होते हैं—जो उसे करना चाहिये—और ऐसी वस्तुओं से बूझा करने लगता है, जो बुरी हैं। इस प्रकार विधि के पालने से मनुष्य अपने को संचालनी बना सकता है और अपनी निम्न इच्छाओं से अपने को स्वतंत्र रख सकता है। चूंकि विधियाँ संचित ज्ञान हैं, इसलिये ज्येठो के अनुसार विधि की बारछा में 'ज्ञान' और 'स्वतंत्रता' दोनों का समन्वय हुआ है। ध्यान में रखने की बात है कि रिपब्लिक में ज्येठो ने ज्ञान की निरनुसृता स्थापित की है, सौंज में वह प्रजा की स्वतंत्रता का भी ध्यान रखा है।

चूंकि विधियाँ अच्छे जीवन या संचालनी को व्यक्त करती हैं इसलिये वे हमारी सम्पत्ता की प्रतीक हैं। प्राकृतिक जीवन में जब मनुष्य बरछ-पोषण में ही तथा वा विधियों की आवश्यकता न थी। विधियाँ मनुष्य के व्यक्त जीवन के लिये आवश्यक हैं, क्योंकि हमारी बुद्धि यह नहीं जानती कि अच्छा जीवन क्या है और यदि हम अच्छे जीवन को जान भी लें तो उस कठिन मार्ग पर जाना पसंद नहीं करते। विधि अच्छाई को व्यक्त करती है उस अच्छाई को जो सबके लिये आवश्यक है। इसलिये एक घोर तो वे नागरिकों

को इस प्रणाली की धारणा द्वारा एकता के सूत्र में बाँधी है, दूसरी ओर हमें प्रत्येक रास्ते पर चलने को बाध्य करती है। जैटो सिखाता है कि मनुष्य कठ-पुतली के समान है, जो जिस-२ दृष्टियों की धारणा द्वारा विरोधी विचारों में डूबी जा रहा है। राज्य की विधियों का सुनहली ओर पवित्र भाग ही हमें प्रत्येक पथ पर ले जाता है।

विधियाँ सब जगों सभी स्त्री-पुरुषों के साम समानता का बर्ताव करती हैं, और सबके हितों को समान रूप से पूरा करती हैं। प्रजातन्त्र तक में चासक और आसित वर्गों में विचार हो सकता है, बलपत्र स्वार्थ हो सकता है, परन्तु विधि के राज्य में किसी एक ही पक्ष का स्वार्थ साधन नहीं हो सकता।

विधियों का शासन सभी समय संभव है, जब विधियाँ बदली न जाय। यदि विरोध परिस्थितियों में विधियों से संघर्ष करने की आवश्यकता पड़ ही जाय तो हमें विधि के अन्तर्हित सिद्धान्तों में परिवर्तन न होने देना चाहिये।

सौत्र की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था—

सौत्र की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था अधिक व्यावहारिक है। जैटो के इस द्वितीय सर्वोत्तम धारण के अनुसार राज्य को समुद्र के किनारे से दूर महाद्वीपों के बीच बसाना चाहिये। इसकी जनसंख्या १०४० होना चाहिये। राज्य में १२ वर्ग हों और राज्य परिषद में १२ कमेटीयों। प्रत्येक कमेटी सात में एक बार शासन कार्य करे। जूँकि राज्य का आधार मिश्रण है, इसलिये मिश्र २ वर्गों और शक्ति के बीच विचार होंगे। जूँकि अधिक बरीबी और संघर्ष राज्य में संघर्ष उत्पन्न करती है, इसलिये भूमि को भी १०४० भागों में विभक्त किया जायगा और प्रत्येक व्यक्ति को एक भाग मिलेगा। कोई व्यक्ति अधिक से अधिक बीगुनी संघर्ष का अधिकारी हो सकता है। इस प्रकार संघर्ष के अनुसार चार वर्ग होंगे। संघर्ष भी निजी और सामाजिक होती और सामाजिक संघर्ष का उपभोग मनवान और गरीब समान रूप से करने। सौत्र में जैटो निजी संघर्ष और कौटुम्बिक व्यवस्था का भी प्रावधान करता है, परन्तु दोनों पर राज्य का नियंत्रण रहता है।

दिल्ले राजा की शक्ति और प्रजा की स्वतन्त्रता एक दूसरे को मर्यादा में रग उन्हें दृग्गिय राजतन्त्र और प्रजातन्त्र की मिश्रित सरकार राज्य को संघर्ष से बचा सारी है और राज्य में स्वायत्तता सा सकती है। जबता कुछ व्यक्तियों को शासन के लिये चुनेगी परन्तु सादरी द्वारा ही यह तय किया जायगा कि

इन व्यक्तियों में से कौन शासन करे। पत्रिक बर्न को भी शासन में हाथ दिया गया है। इसके द्वारा निर्वाचित 'अनेक व्यक्तियों का मजबूत शासन की बेखोख करेगा और यह देखेगा कि विधियां पाली जाती हैं और उनमें धनात्मक परिवर्तन तो नहीं हो रहे हैं। इसके ऊपर एक 'राज-संरक्ष' हुआ जिसमें राज्य के बबोबूट और बुद्धिमान व्यक्ति होंगे और उसी ही संरक्षा के मन्तव्यक। राजमजब का मुख्य उद्देश्य विधियां में निहित सिद्धान्तों को स्पष्ट करना और राज्य के लक्ष्य की सामग्य रखना होगा। इस प्रकार सौत्र की सारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था मिश्रण के सिद्धान्त को लेकर बनी है।

**सौत्र की सामाजिकता—**

सौत्र की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था अधिक व्यावहारिक है और बुनायी बारखाओं के अनुकूल। परन्तु इसमें एक बात सटकती है। विधियों का शासन क्या सामाजिक व्यवस्था को कक्षित न बना देगा? यदि विधियों में संशोधन नहीं हो सकता तब विधियां नहीं बन सकती तो विधियां परिवर्तित समाज की आवश्यकताओं को कैसे पूरी कर सकती है? जेटो ने धातुविक पुन के समान विधियों के बनाने का कोई प्रावधान नहीं किया है।

उचित विचारता है कि सौत्र में जेटो ने हमें ऐसा कोई सिद्धान्तिक आधार नहीं बताया है जिसके आधार पर हम सामान्य और महत्वपूर्ण विधियों को बोलू और महत्वहीन विधियों से प्रत्यक्ष कर लेंगे। यह कृति सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के संबंध में पाये जाने वाले साधारण विचारों का सम्यक विहीन संग्रह मात्र है।

**जेटो का राजनीति में स्थान—**

जेटो राज धर्तन के इतिहास का प्रथम दार्शनिक है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक था कि किस प्रकार समकालीन राज्य अपने बच्चों से मुक्त किये जा सकते हैं। अपने विचारों में भी वह बहुत अधिक समकालीन संस्थाओं से प्रभावित हुआ है। रिपब्लिक उस समय लिखी गई थी जब स्पार्टा ने एथेन्स पर विजय प्राप्त की थी और स्पार्टा के अनुशासन और शासन सफल को स्वाभाविक रूप से सर्वप्रथम माना जा सकता था। इसलिये जेटो की रिपब्लिक स्पार्टा के सामाजिक संरक्षण पर आधारित है। स्पार्टा का अनुशासित शासक बर्न जो केवल शासन कार्य से संबंधित था जिसने राज्य के लिये अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति और कुटुम्ब की प्रवहेलना करदी थी जेटो के शासक बर्न के समान

ही था। स्पार्टा में भी जन्मजात गुणों पर धोर दिया जाता था और कुछ बच्चों को मार कर दिया जाता था। स्पार्टा में न तो लिखित नियम थे और न मुद्रा का चलन। जेटो की रिपब्लिक इस प्रकार स्पार्टा की बहुत अधिक अच्छी है। परन्तु जेटो में स्पार्टा की कमजोरियों को भी देखने की समझ थी इसलिये जेटो अपनी रिपब्लिक में उचित शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान करता है। जेटो जब लाल मिला रहा था उस समय एथेन्स अपना पुराना बैभव प्राप्त कर चुका था और स्पार्टा के शासन समूह की कमजोरियाँ स्पष्ट दिखाई दे रही थी इसलिये वह मात्र के सामाजिक समूह को एथेन्स के सामाजिक संघटन पर आधारित करता है।

परन्तु जेटो केवल समकालीन जगत का इतिहासकार नहीं है। समकालीन तत्त्वों पर विचार आधारित करते हुए भी उसने अपनी तीव्र बुद्धि का परिचय दिया है और उसकी हठियों में दिये गये समाज केवल अनुभव पर आधारित नहीं बल्कि विवेक की कठौटी पर खरे उतरकर घमर हुए हैं। इसी

### जेटो की देन

- (१) कल्पनात्मक जगत का स्रष्टा।
- (२) विपुल चारणा की रीति।
- (३) शार्पिक रीति।
- (४) आदर्शवाद का प्रतिपादक।

समय के आदर्श समाज का विचार करते हैं वास्तविक समाजों का नहीं और

जेटो अपने 'कल्पनात्मक जगत का स्रष्टा' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। उसने राजनीति दर्शन में कल्पनात्मक आदर्श जगत (Utopias) विचार करने की परिपाटी बनाई। परन्तु जेटो केवल आदर्शवादी नहीं है, कल्पनात्मक नहीं है, वह राज्य का विपुल विचार होता है। वह मैस्वी के दर्शनों में idealist नहीं idealist है इसलिये उसके पात्रों में 'उटोपिया' जेटो की हठियों की गरी नवव मात्र है।

जेटो ने राजनीति दर्शन में विपुल चारणा की रीति बनाई। जेटो ने समकालीन राज्यों को समझने के लिये पहिले राज्य की विपुल चारणा बनाई और फिर क्रम राज्य इस चारणा के अधिक निकट या दूर है इस आधार पर वास्तविक राज्यों का मूल्यांकन दिया। इसी प्रकार जेटो ने शार्पिक या साम्य रीति भी राजदर्शन की ही क्रमके अनुसार एक पहिले शार्पिकीयक राज्य की लेकर सब वास्तविक समाजों का मूल्यांकन करने है। जेटो का प्रभाव स्वो और जर्मन तथा ब्रिटिश आदर्शवादियों पर स्पष्ट दिखाई देता है।

## भारत

(१८४ ई० पू० - १२२ ई० पू०)

- |                           |                                     |
|---------------------------|-------------------------------------|
| (१) भारत की उत्पत्ति ।    | (२) अश्वमेध यज्ञ ।                  |
| (३) राज्य की प्रकृति ।    | (४) वासुदेव सम्प्रदाय और बुद्धत्व । |
| (५) नागरिकता और संविधान । | (६) राज्यों का वर्गीकरण ।           |
| (७) विधि की महत्ता ।      | (८) आदर्श राज्य ।                   |
| (९) वास्तविक राज्य ।      | (१०) व्यावहारिक आदर्श राज्य ।       |
| (११) अंतर्देश ।           | (१२) भारत की रीति ।                 |

(१)

### भारत की उत्पत्ति

भारत का नाम १८४ ई० पू० में स्वेनियर में हुआ था। इसकी माँ प्राचीनता भारत-राज्य की निवासी थी और पिता मैसीडोनिया के फिलिप का राजवंश था। प्राचीनता में अश्वमेध यज्ञ का अश्वमेध प्रारम्भ हो चुका था इसलिये अश्वमेध यज्ञ ही भारत की उत्पत्ति की उत्पत्ति में थी। १९७ ई० पू० में उसने उत्पत्ति की एकैकरी में अश्वमेध प्रारम्भ किया और उत्पत्ति के लिये २० वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। १४२ ई० पू० में वह अश्वमेध महान का एक निरुद्ध हुआ और जब ११४ में अश्वमेध विश्व विश्व के लिये निकला तो भारत की उत्पत्ति एतन्ना लौट आया जहाँ उसने वास्तविक के नाम से

स्कूट-बोता। ३२२ ई० पू० में उसे एपेन्स छोड़कर भागना पड़ा और इसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई।

धरतू सघार का महान शारीरिक है। उसे सघार का व्यापक अनुभव था और प्रत्येक वस्तु का वैज्ञानिक निरूपण करने की उसकी प्रवृत्ति थी। इसी कारण धरतू प्रथम वैज्ञानिक माना जाता है, और यणित शास्त्र की छात्र ग्रन्थ सभी छात्रों के अभिदाता होने का ख्यं उसी को है। धरतू के समय में सिक्न्दर-महान् की विषय विजय यात्रा प्रारंभ हो गई थी उसके समय में ही एक बड़ा साम्राज्य बन चुका था और नगर राज्यों का पतन होने समा था। हमनिये यह बात बड़ी विचित्र मामूम होती है कि सघार का मूलम प्रथमोक्त करने वाला धरतू अपने समकालीन राजनैतिक परिवर्तनों को नहीं मर्मक पाया और किस प्रकार उसकी विचार धारा समकालीन परिवर्तनों से धाँसी रह गई। वह नगर-राज्यों का ही शारीरिक है और फास्टर के प्रयोगों में 'जो युग उसके जन्म से पूर्व ही समाप्त हो चुका था धरतू प्रीस के संघ समाधिकस युग की भावना ही व्यक्त करता है। वह प्लेटो के समान ही नगर-राज्य का शारीरिक है, प्रन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्लेटो विचार संघर्ष की महत्त्वपूर्ण मानता है, वहाँ धरतू प्रत्यक्ष जगत का।

धरतू का प्लेटो से संबंध—

प्लेटो का कथन है कि या तो हम प्लेटो के अनुयायी होते हैं या धरतू के। वास्तव में दोनों की रीतियों में इतनी भिन्नता है कि हम सारे वैज्ञानिकों को 'प्लेटोवादी' और 'धरतूवादी' इन दो वर्गों में बाँट सकते हैं। प्लेटो यणित-शास्त्र से प्रभावित था और धरतू जोन-शास्त्र से। एक किनुड विचार को प्रमुख मानता है और उसके अनुकूल प्रादर्य राज्य का निर्माण करता है उसे ही वह व्यावहारिक न हो वृत्तरा व्यावहारिक जगत की नहीं छोड़ता और इसी को सुधार कर प्रादर्य का निर्माण करना चाहता है। इसी कारण धरतू अधिक मतोवैज्ञानिक अधिक व्यावहारिक और अधिक ऐतिहासिक है। प्लेटो की तीव्र 'सामोचना' धरतू में ही की है। परन्तु इनमें अन्तर होने हुए भी धरतू पूर्णतया प्लेटोवादी है और उसके विचार प्लेटो के दाँव से अनुसृत हैं।

ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि धरतू 'बीस वर्ष तक प्लेटो का शिष्य रहा। इसी बात में 'प्लेटो अपनी बुद्धक 'दि सोथ सिग रहा था। 'धरतू भी अपने शारीरिक राज्य का सिद्धांत सॉक्रै के विचारों पर आधारित



करता है। दोनों ही नवर रत्नों के  
ज्योटी और घरस्तू

विभिन्नता—

- (१) ज्योटी यज्ञित शास्त्री ।  
घरस्तू भीष शास्त्री ।
- (२) ज्योटी में विचार को महत्ता ।  
घरस्तू में व्यवहार—वस्तु  
इतिहास अनुभव मनोविज्ञान  
को महत्ता ।
- (३) ज्योटी कास्मिक धारम रीति  
घरस्तू वैज्ञानिक नियमन रीति ।

समानता—

- (१) नवर राज्य के वार्षिक ।
- (२) अष्टम भीषण ।
- (३) मानविकता संबंधी विचार ।
- (४) पूर्ण विकसित राज्य नैतिक ।
- (५) शिक्षा को महत्ता ।

ज्योटी के समान घरस्तू भी जासकों के लिये उचित शिक्षा व्यवस्था को  
आवश्यकता मानता है ।

(२)

### अभ्ययन रीति

ज्योटी और घरस्तू में सबसे बड़ा अंतर उनकी अभ्ययन रीतियों में है।  
जहाँ ज्योटी वैज्ञानिक या मापन (Deductive) पद्धति को अपनाता है,  
जहाँ घरस्तू ने सर्वप्रथम निगमन प्रणाली (Inductive method) का  
उपयोग किया। निगमन प्रणाली में हम विविध वस्तुओं को देखकर उनका  
विलोपण कर कुछ सार्वभौमिक सिद्धान्त निकालते हैं। इसलिये इस पद्धति में  
हम विविध (Particular) से सार्वभौमिक (Universal) की ओर जाते  
हैं, जब कि वैज्ञानिक पद्धति में हम सार्वभौमिक से विविध की ओर जाते हैं।

भारतू ने युनाय के इतिहास तथा प्रचलित युनायी विधिषी का निरीक्षण कर सर्वभेष्ठ वासन व सिद्धात विधे है । ऐसा कहा जाता है कि उसने १५८ संविधानों का अध्ययन किया था और इनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राजनीति की पुस्तक लिखी थी । प्लेटो वास्तविक जगत को उपेक्षा करता है और विद्युत् तार्किक ज्ञान पर अपने सिद्धान्तों को बनाता है । भारतू वास्तविक जगत को अध्ययन का आधार मानता है । इसी कारण भारतू प्लेटो का बड़ा भाई भासोचक था । उसका ऐतिहासिक और नियमन पद्धति में विश्वास इसी कथन से मान्य होता है कि "हम राजनीति के अध्ययन में अपने अतीत को और अतीत काल से जमी घाने वाली संस्थाओं का ध्यान रखना चाहिये ।

प्लेटो समन्वयवादी था भारतू विद्वेषक । उसका कहना था कि हमें किसी वस्तु का अध्ययन करने के पहिले उस वस्तु के बटकों का अध्ययन करना चाहिये । इस कारण वह राज्य की प्रकृति का अध्ययन राज्य बनाने वाले घटक—गाँव और बूढ़ों—की प्रकृति देखकर करता है, और संविधान का अध्ययन उसके घटक नागरिकों का अध्ययन कर ।

प्लेटो गणित वासत्री था और भारतू जीव-वासत्री । इसलिये प्लेटो गणित वासन के लिए अपयुक्त विद्युत् विचार (Pure Idea) को महत्व देता है, और भारतू जीव वासन के विकासवादी (Physis) सिद्धान्त को महत्ता देता है । उसका कहना था कि संसार की प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का विकास-सा हो रहा है और प्रत्येक मनुष्य (और प्रत्येक वस्तु) अपनी मूलमूल प्राकृतिक शक्तियों को धीरे २ परिवर्तित कर अपने पूर्ण या प्राकृतिक रूप की ओर प्रगच्छ हो रहा है । इसलिये इस पूर्ण विकसित रूप को समझने के लिये विचारक्रिया को देखना भी आवश्यक है । इस प्रकार की विचारपाठ वाला व्यक्ति स्वभाव से ही ऐतिहासिक प्रकृति वाला थाया और उसके लिये प्रारंभिक अर्द्धविकसित राज्य उसने ही महत्त्वपूर्ण है जितने पूर्ण विकसित सर्वभेष्ठ राज्य । ऐसे इतिहासिक वासे अनुसंधान कर्ता के लिये कोई भी वस्तु अन्वेषी या बुरी नहीं है । इसलिये निरनुसंधान वासन-अवस्था भी भारतू के लिये अतीत ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी अन्य बूझरी वासन व्यवस्थाएँ ।

प्लेटो वैचल युद्ध पाठना को महत्व देता है । उसके अनुसार वस्तु का विचार, वस्तु में अर्थिक महत्त्वपूर्ण है । भारतू के अनुसार विचार और वास्तविकता का अद्भुत संबंध है क्योंकि विचार विद्युत् वस्तुओं से बिना नहीं रह

सकता। इसलिये प्लेटो का आदर्श राज्य वास्तविक अर्थ से पूरा कास्मिक अर्थ की वस्तु है। यह वास्तविक राज्यों से परे कुछ राज्य की आरखा का विषय है। परन्तु अरस्तू का आदर्श राज्य वास्तविकता पर आधारित है। इसी बात को ध्यान में रखकर अॉकन लिखता है कि 'पामिटिकस' की पुस्तक का मूल प्रवर्तक कुछ इस बात में है कि इसमें राजनीति के अध्ययन के लिये महति संवर्धी समुदाय की रीतियों का प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक रीति को देखकर ही अरस्तू को प्रथम वैज्ञानिक कहा जाता है।

### अध्ययन रीति

#### आधार

#### प्लेटो

आगम पद्धति।  
वास्तविक अर्थ की उत्पत्ति।  
समन्वयकारी।  
गणित शास्त्र का विमुक्त विचार।  
वस्तु और विचार विज्ञ।  
कास्मिक अर्थ का सूत्र।

#### अरस्तू

निगमन पद्धति तुलनात्मक अध्ययन।  
वास्तविक अर्थ आधार।  
विश्लेषक।  
जीव शास्त्र का फिजिस सिद्धान्त।  
वस्तु और विचार अभिन्न।  
प्रथम वैज्ञानिक।

#### समानता

दोनों ही राज्य के नैतिक स्वरूप के आधार पर वास्तविक अर्थ का अध्ययन करते हैं इसलिये दोनों में ही Teleological रीति।

इसमें सदेह नहीं कि तुलनात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषण अरस्तू की विशेषता है, परन्तु अरस्तू प्लेटोवाद से भी प्रभावित था। इसलिये उसका विकासकारी सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिक विकासकारी सिद्धान्त से अभिन्न है। यह नैतिकतावादी है। उसके लिये राज्य पूर्ण विकसित है, इसलिये प्राकृतिक संस्था है। पूर्ण विकसित संस्था होने के कारण राज्य नैतिक संस्था है। यदि अरस्तू विकास-क्रम में विभिन्न स्तरों की संस्थाओं का अध्ययन करता है, तो केवल इसलिये कि राज्य का पूर्ण-विकसित रूप इन विभिन्न स्तरों की संस्थाओं में अपने को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करता है। राज्य उसी समय पूर्ण विकास को पहुँचता है, जब यह नैतिक रूप पूर्ण रूप से व्यक्त होने लगता है। इसलिये अरस्तू भी प्लेटो की भाँति राज्य की पूर्ण आरखा बनाकर—'उसके नैतिक स्वरूप का विचार बनाकर'—प्रचलित राज्यों को देखता है, प्राय

यज्ञ करता है, और यह उपक्रम का प्रयत्न करता है कि इनमें किन्त सीमा तक यह रूप ब्यक्त हुआ है। इस प्रकार जेम्स और प्रेरने की रीतियों में समानता भी है। दोनों ही अन्तिम तत्त्व द्वारा वास्तविक जपत के अध्ययन वर्ता (Telcologists) हैं।

नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र का पृथकीकरण—

भारत ने नीति शास्त्र और राजनीति शास्त्र पर अत्यन्त पुस्तकें लिखी हैं। उनमें का कहना है कि भारत की मुख्य विशेषता इस बात में है कि उसने राजनीति को स्वतन्त्र शास्त्र बनाया।

भारत द्वारा नीति और राजनीति हम देश दुर्ग है कि जेम्स की रिपब्लिक म पृथकीकरण राजनीति और नीति शास्त्र दोनों की केवल अध्ययन रीति में (विषय पुस्तक है, क्योंकि जेम्स के अनुसार भारत में नहीं)। राजनीति का भी उद्देश्य सहाचार की स्थापना है। परन्तु जेम्स इन बातों को मानता है कि भारत ने जानबूझ कर नीति और राजनीति शास्त्र को अलग २ शास्त्र नहीं बनाया है। बल्कि नीति शास्त्र में ऐतिहासिक अध्ययन और विद्वे पण की रीति काम में नहीं आ सकती इसलिये भारत ने इस रीति के कारण ही नीति और राजनीति शास्त्र का पृथकीकरण किया है। जहाँ तक विषय का प्रश्न है, भारत राजनीति में अज्ञान ही नीतिशास्त्री है किन्तु जेम्स। सहाचार पुस्तक जीवन की स्थापना करना भारत का भी उद्देश्य है। देश का कहना यह ही है कि भारत व्यक्ति की सम्झाई (नीतिशास्त्र) को समाज की सम्झाई (राजनीति) से अलग नहीं मानता। तुलनात्मक अध्ययन ही भारत का उद्देश्य नहीं था बल्कि इस तुलनात्मक विवेचन में अज्ञान ध्यान राज्य के अन्तिम अर्थ या उद्देश्य पर था। नीति-शास्त्रियों के माध्यम पर ही उनका वास्तविक मर्यादों का विचारण किया है। इसलिये विचारों में नहीं अध्ययन की रीति में भारत ने नीति शास्त्र और राजनीति का पृथकीकरण किया है।

( ३ )

राज्य की प्रवृत्ति

भारत के राजनीतिक विचार हमें अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में मिलते हैं। बल्कि राज्य का उद्देश्य सर्वश्रेष्ठ जीवन की स्थापना करना है और राज्य में

रहकर ही व्यक्ति नैतिक बन सकता है, इसलिये नीति शास्त्र पर लिखी गई दूसरी पुस्तक में भी धरस्तू के कुछ राजनैतिक विचार मिलते हैं :

पॉलिटिक्स की पुस्तक जिस रूप में हमें प्राप्त है उसमें क्रमबद्धता का अभाव है। ऐसा माना जाता है कि धरस्तू ने इसको संपादित नहीं किया और यह उसके समय-२ पर किये गये भाषणों और एकत्रित की गई सामग्री का संग्रह मात्र है। इसके विषय विवेचन में हमें क्रमबद्धता नहीं मिलती। पुस्तक में अठान्ठ भाग हैं। ऐसा माना जाता है कि दूसरा छात्रों और छात्रों का भाग उसने उस समय लिखा होगा जब वह प्लेटो की एकेडेमी में विद्यार्थी या क्योंकि इन भागों में प्लेटो के प्रश्नों की व्याख्यान है और साथ में ही नई वास्तव व्यवस्था के अनुसंधान आदर्श राज्य व्यवस्था का विचार है। एकेडेमी छोड़ने के पश्चात् धरस्तू ने ऐतिहासिक तुलनात्मक और निरन्तर पद्धति को अपनाया होगा इसलिये तीसरी चौथी पाँचवीं और छठवीं पुस्तक प्रथमतः राज्य व्यव-

स्थाओं का वर्णन करती है। पहिली

पॉलिटिक्स का विषय क्रम  
आदर्श राज्य—दूसरी सातवीं अठवीं  
पुस्तक।

वास्तविक राज्य—तीसरी से छठवीं  
पुस्तक।

राज्य का स्वरूप—पहिली पुस्तक।

पुस्तक अफ्रीका के स्वरूप सबसे बाद में  
लिखी गई होगी इसमें राज्य के स्वरूप  
की ऐतान्त्रिक विवेचना है। इसलिये  
कुछ लोग पुस्तक के इन भागों के क्रम  
बदलने के पक्ष में भी हैं। परन्तु यदि  
कांश्च विद्वान भागों के क्रम बदलने में  
कोई विशेष लाभ नहीं समझते। पहिला

भाग धरस्तू के राजनैतिक विचारों की कुंजी है, इसलिये हम वहाँ पर राज्य  
की प्रकृति के सम्बन्ध में ही उसके विचारों का सम्पूर्ण प्रारंभ करेंगे।

राज्य की प्रकृति और उसके उत्पत्ति—

धरस्तू और प्लेटो के पूर्व युग में दो विचारधाराएँ थीं। एक राज्य को प्राकृतिक संस्था मानती थी दूसरी उसे कृत्रिम। सोफिस्ट विशेषकर उस विचार वाले सोफिस्ट राज्य को सामाजिक समझौते का परिणाम मानते थे और उनका कहना था कि राज्य मित्र और नैतिकता मनुष्य द्वारा बनाई गई कृत्रिम संस्थाएँ हैं और वे सरल प्राकृतिक व्यवस्था को रद्द कर रही हैं। सोफिस्ट प्राकृतिक अधिकार में विश्वास करने वाले व्यक्तिवादी थे जिनके वर्णन के कारण समाज और राज्य परेसा से देखे जाने लगे थे। धरस्तू इसी विचार धारा का खंडन करने के लिये राज्य को प्राकृतिक और नैतिक बतलाया है।

भारतू का कहना है कि राज्य का विकास मनुष्य की सामाजिकता के अनन्तत्व है। सामाजिक जीवन समय-समयों में भी पाया जाता है परन्तु मनुष्य विचारशील और विवेकशील प्राणी है, इसलिये उसकी सामाजिकता निम्न स्तरों के समुहों से निम्न है। यह सामाजिकता मनुष्य की मूल प्रकृतियों पर नहीं, बल्कि कुछ परिस्थितियों पर आधारित है। विवाह-पद्धति के द्वारा उसने सबसे पहिली सामाजिक संस्था कुटुम्ब की स्थापना की जिसमें पति, पत्नी संतान और बाह्य एक साथ रहते हैं। कौटुम्बिक व्यवस्था में हमें राज्य का बीज दिखाई देता है, क्योंकि कुटुम्ब का स्वामी शासक के रूप में कार्य करता है। पर कुटुम्ब के स्वामी का शासन पत्नी संतान और बाह्यो के ऊपर मलय २ प्रकार है। पत्नी के साथ वह बराबरी का व्यवहार करता है, संतान के ऊपर उसका शासन ठीक उसी प्रकार का होता है, जैसा किसी राजा का अपने प्रजा-जनों के प्रति शासक के प्रति उसका शासन एक निरंकुश किन्तु समझदार शासक के समान है। इस तरह जहाँ राज्य में केवल एक ही तरह का शासन दिखाई देता है ( जैसे पिता का संतान के प्रति ) वहाँ कुटुम्ब में मलय २ प्रकार का शासन दिखाई देता है। कुटुम्ब सामाजिक समुदाय है, क्योंकि वह कानूननिष्ठ और सुरक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

परन्तु मनुष्य केवल सुरक्षा ही नहीं चाहता, उसकी और अधिक नैतिक और धार्मिक आवश्यकताएँ हैं। इसलिये वह मंदिर बनाता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जागीरों की आवश्यकता है, जो जीवन के लिये नैतिक शासन पुनर्देते हैं। जमीन स्वामियों को सांस्कृतिक विकास या अवकाश की सुविधाएँ मिल सकती हैं, और वे अधिक पैसा और नैतिक जीवन प्राप्त करने में सक्षम हो सकते हैं। धर्मिय समुदाय राज्य है जो मनुष्य के सर्वमंड और नैतिक जीवन को पूरा करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक समुदाय का काम किसी विशेष हित को पूरा करने के लिये होता है। कुटुम्ब के द्वारा केवल जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है राज्य के द्वारा सर्वमंड जीवन प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण राज्य इस विकास समय में सबसे महत्त्व का था, और वह मनुष्य की सर्वमंड ( नैतिक ) इच्छाओं की पूर्ति करने का शासन है, इसलिये राज्य एक सांस्कृतिक और नैतिक संस्था है।

हमें यह समझना चाहिए कि भारतू द्वारा दिया गया राज्य की अवधारणा का यह विचार ऐतिहासिक नहीं है। यह राज्य के चर्चों का विवेचन

करने के लिये ही हुआ है। प्रथम पुस्तक में धरतू वह बताने की चेष्टा करता है कि राज्य बृहत् कृद्वम् नहीं है। कृद्वम् हमारी केवल नीतिक इच्छाओं की पूर्ति करता है, जब कि राज्य हमारी घारी इच्छाओं की पूर्ति करने के कारण—मानव का पूर्ण विकास करने के कारण—स्वमरित संस्था है। चूंकि यह राज्य के द्वारा ही मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वरूप को पा सकता है—इसलिये राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। ऐतिहासिक दृष्टि से पहले ही कृद्वों का जन्म राज्य

### राज्य की प्रकृति

(१) कृद्व न गीब घौर राज्य में राज्य पुन विकसित संस्था है।

(२) मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कराने वाली संस्था के रूप में राज्य—

(घ) प्राकृतिक है।

(ब) स्वमरित है।

(स) नैतिक है।

(द) पूर्ववर्ती है।

को पूरा करने के लिये हुआ है—पर उसका अस्तित्व सर्वश्रेष्ठ जीवन के लिये ही है।<sup>१</sup>

अगर जो कृद्व हम कह चुके हैं, उससे हम राज्य के स्वरूप को समझ सकते हैं। राज्य प्राकृतिक है, पूर्ववर्ती है, स्वाभाविक है, और चूंकि विकास क्रम में पूर्ण विकसित संस्था है, इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ और नैतिक संस्था है।<sup>२</sup>

### व्यक्ति और राज्य—

चूंकि राज्य में ही मनुष्य का पूर्णतम विकास संभव है और इसी में मनुष्य मनुष्य बन सकता है, इसलिये मनुष्य प्रकृति से ही राजनैतिक प्राणी है। जो मनुष्य किसी राज्य का नागरिक नहीं वह मनुष्य नहीं है। जो मनुष्य दूसरों के साथ न रह सकता है और न रहने की आवश्यकता समझता है, वह सर्व

1 "The state originated for the necessity of life it continues to exist for the best life."

2. The final cause and end of a thing, is the best."

य वृष्ट जीवन हमें प्राप्त कर सकता है ? वह या तो ईश्वर है या मानव । कुटुंब व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु मानव नैतिक और बौद्धिक विकास के लिये मनुष्य को राज्य पर निर्भर होना पड़ता है ।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य में मनुष्य अपना व्यक्तिगत लो देता है । घरलू मनुष्य के व्यक्तिगत को सुरक्षित रखना चाहता है, इसलिये वह संपत्ति और कुटुंब को मनुष्य के व्यक्तिगत के लिये आवश्यक समझता है । इसलिये राज्य नश्य नहीं है वह अष्टम जीवन प्राप्त करने का साधन है । उसका राज्य अपने मनुष्य बनाने के लिये है, न कि अपने मनुष्य राज्य के लिये है ।<sup>१</sup>

### व्यक्ति और राज्य

राज्य में अष्ट जीवन प्राप्त कर सकने के कारण मनुष्य राजनैतिक प्राणी है पर राज्य साधन है, साध्य नहीं ।

दास अष्ट जीवन से संबंधित ।

आवश्यक है उनके द्वारा नागरिकों को प्रबन्धन मिलता है परन्तु ये स्वयं नागरिक जीवन से संबंधित हैं । इसलिये राज्य के लिये घरलू ने हम दास और विलसकार का बलिदान किया है ।

नागरिकता एक अष्ट जीवन है, परन्तु जो अपना बचाने में लगे हैं जो अपना साधन जीवन दार्शनिक परिपक्व में लगे हैं, वे अष्ट जीवन कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? इसीलिये दाम और विलसकार बने अष्ट जीवन प्राप्त नहीं कर सकते । दाम राज्य की नैतिक आवश्यकताओं को पूरित के लिये

नागरिक जीवन से संबंधित हैं । इसलिये राज्य के लिये घरलू ने हम दास और विलसकार का बलिदान किया है ।

( ४ )

### दासता, सम्पत्ति और कुटुंब

कुटुंब की रक्षा करते हुए घरलू दासता की आवश्यकता ठहराने का प्रयत्न करता है । पुत्राधीन सम्पत्ति दास प्रदा पर आधारित थी । जीवन की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति दाम ही किया करते थे और इनकी सेवाओं के परिणाम स्वरूप ही पुत्राधीन को वह प्रबन्धन मिल सकता था जिसका प्रयोग वे अपने सांस्कृतिक विकास और अपने बौद्धिक चिन्तन में करते थे । पुत्राधीन दास

1 "Aristotle's state seems rather to be adjusted to the good man, than the good man to the state."



करने के लिये ही हुआ है। प्रथम पुस्तक में भरतू मह बताने की चेष्टा करता है कि राज्य बृहत् कृदुम्ब नहीं है। कृदुम्ब हमारी केवल भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करता है, जब कि राज्य हमारी सारी इच्छाओं की पूर्ति करने के कारण—मानव का पूरा विकास करने के कारण—स्वभरित संस्था है। चूंकि इस राज्य के द्वारा ही मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव को पा सकता है—इसलिये राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे ही कृदुम्बों का जन्म राज्य

### राज्य की प्रकृति

(१) कृदुम्ब, धर्म और राज्य में राज्य पूर्ण विकसित संस्था है।

(२) मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कराने वाली संस्था के रूप में राज्य—

(अ) प्राकृतिक है।

(ब) स्वभरित है।

(स) नैतिक है।

(द) पूर्ववर्ती है।

को पूरा करने के लिये हुआ है—पर उसका अस्तित्व सर्वश्रेष्ठ जीवन के लिये ही है।<sup>१</sup>

अगर जो कुछ हम कह चुके हैं, उसके हम राज्य के स्वभाव को समझ सकते हैं। राज्य प्राकृतिक है, पूर्ववर्ती है, स्वाभाविक है, और चूंकि विकास क्रम में पूर्ण विकसित संस्था है, इसलिये यह सर्वश्रेष्ठ और नैतिक संस्था है।<sup>२</sup>

### धर्म और राज्य—

चूंकि राज्य में ही मनुष्य का पूर्णतम विकास समभव है और इसी में मनुष्य मनुष्य बन सकता है, इसलिये मनुष्य प्रकृति से ही राजनैतिक प्राणी है। जो मनुष्य किसी राज्य का नागरिक नहीं वह मनुष्य नहीं है। जो मनुष्य दूसरों के लान न रह सकता है और न रहने की आवश्यकता समझता है, वह सर्व

1 "The state originated for the necessity of life, it continues to exist for the best life"

2. The final cause and end of a thing, is the best."

थोड़ा जीवन कैसे प्राप्त कर सकता है ? वह या तो ईश्वर है या जानवर । कुटुंब व्यक्ति की प्राथिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु अपने नैतिक और बौद्धिक विकास के लिये मनुष्य को राज्य पर निर्भर होना पड़ता है ।

पर इसका यह धर्म नहीं कि राज्य में मनुष्य अपना व्यक्तित्व खो देता है । अरस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है । इसलिये वह संघर्ष और कुटुंब को मनुष्य के व्यक्तित्व के लिये आवश्यक समझता है । इसलिये राज्य लक्ष्य नहीं है, वह थोड़ा-थोड़ा जीवन प्राप्त करने का साधन है । उसका राज्य अन्त में मनुष्य बनाने के लिये है, न कि अन्त में मनुष्य राज्य के लिये है ।<sup>1</sup>

### व्यक्ति और राज्य

राज्य में थोड़ा जीवन प्राप्त कर सकने के कारण मनुष्य राजनैतिक प्राणी है ; पर राज्य साधन है, साध्य नहीं ।

बात थोड़ा जीवन से संबंधित ।

आवश्यक है उनके द्वारा नागरिकों को प्रवृत्त मिलता है परन्तु ये स्वयं नागरिक जीवन से संबंधित है । इसलिये राज्य के लिये अरस्तू न इस बात और विस्फार बर्ष का बलिदान किया है ।

नागरिकता एक थोड़ा जीवन है, परन्तु जो खपना कमाने में लगे हैं, जो अपना साधन जीवन दारैरिक परिपक्व में सगाये हैं, वे थोड़ा जीवन कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? इसीलिये बात और विस्फार बर्ष थोड़ा जीवन प्राप्त नहीं कर सकते । बात राज्य की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये

आवश्यक है उनके द्वारा नागरिकों को प्रवृत्त मिलता है परन्तु ये स्वयं नागरिक जीवन से संबंधित है । इसलिये राज्य के लिये अरस्तू न इस बात और विस्फार बर्ष का बलिदान किया है ।

( ४ )

### बातता, सम्पत्ति और कुटुंब

कुटुंब की बर्ष करते हुए अरस्तू बातता को व्यापकित ठहराने का प्रयत्न करता है । बुनानी सम्पत्ता काम प्रमा पर आधारित थी । जीवन की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति बात ही किया करते थे और इनकी सेवामों के परिष्कार स्वरूप ही वृत्तियों को बह प्रवृत्त निमित्त सकता था जिसका प्रयोग के अपने सांस्कृतिक विकास और अपने बौद्धिक चिन्तन में करते थे । बुनानी बात

1 "Aristotle's state seems rather to be adjusted to the good man than the good man to the state."

निहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। इसलिये जब सोफिस्टों ने इस मत का प्रचार किया कि संसार में सभी मनुष्य समान हैं और बास मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि बास नाम के कारण ही उत्पन्न है, तो इस नई विचारधारा से यूनानियों की सामाजिक संस्था में बदलाव आने लगा। यूनानी अपने को सम्यता का प्रतीक मानते थे और यह समझते थे कि केवल उनमें ही मनुष्यता और नेतृत्व के गुण हैं, इसलिये जब कुछ देशों में बर्बर जातियों के प्रभाव यूनानियों को भी बास बनाया जाने लगा तो बासता पर विचार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये इस प्रचलित संस्था पर अरस्तू के सिद्धे कुछ कितना आवश्यक था। परन्तु बीसा बार्कर ने सिद्धा है 'अरस्तू बासता को प्राकृतिक संस्था देखकर उसकी उचित ठहराने का प्रयत्न करता है, एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति मनुष्यों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष नहीं निकालता। अरस्तू के समय में बासता को उचित बतलाने के सिद्धे व्यावहारिक और वैज्ञानिक प्रावश्यकता थी। अरस्तू वैज्ञानिक भीषित्य बताने का प्रयत्न करता है, परन्तु बीसा हम धाने देखने यह अपने प्रयोगों में विफल रहता है।

बासता प्राकृतिक है:—

अरस्तू बासता को प्राकृतिक मानता है और वह अपने सिद्धान्त को तीन तर्कों पर आधारित करता है:—

१ प्रकृति में सभी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी शैक्षिक क्षमताओं के कारण सभी असमान हैं।

२ प्रकृति में जो उच्च क्षमता के प्राणी होते हैं वे शासन करते हैं और निम्न क्षमता के प्राणी इनका आधिपत्य स्वीकार करते हैं।

३ क्षमताओं के अनुसार प्राणियों को अपने काम करना चाहिये।

अरस्तू का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि और विवेक के कारण जीवन का निर्देश करने और शासन करने की क्षमता होती है। अन्य लोगों में बुद्धि और विवेक बहुत ही कम होता है, इतना कम कि वे स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर सकते तथा अपने जीवन को संभालित नहीं कर सकते हैं। बूढ़ों के दिने मने आदेश का पालन करना कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी के लोग स्वामी होते हैं स्वतंत्र नागरिक होते हैं, और दूसरी श्रेणी के लोग बास। यह स्वाभाविक है कि विवेक का शासन हो। विवेक द्वारा संभालित होने पर ही निम्न श्रेणी

के लोग समाज में व्यवस्था बनाये रखते हैं, और राज्य के जीवन में एकठा रह सकते हैं इसलिये धरस्तू बासों को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्राणमुक्त बीजार' सर्दी से संबोधित करता है ।

दासता उचित और आवश्यक है:—

दासता स्वामी और दास दोनों के हित में है । स्वामी को इससे भौतिक आवश्यकताओं और निम्न कार्यों की बिम्बा से मुक्ति मिल जाती है, जिससे वे अपना पूर्णतम विकास कर सकते हैं । दासता बासों के भी हित में है, क्योंकि बासों में स्वयं अपना विकास करने की क्षमता नहीं होती । वे अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते पर स्वामी के आदेश को पालन कर, विवेक के संपर्क में आकर अपना कुछ विकास कर सकते हैं । यदि दास स्वामी से असंग हो जाता है, तो उसकी ठीक बही बधा होती है, जो कटी हुई धंगुसी की ।

नैतिकता की दृष्टि से भी दासता उचित है, क्योंकि यह बात उचित मान्य होती है कि दस्य क्षमता वाले दासन करें और क्षमताहीन दासित हों ।

दासता का व्यावहारिक रूप—

यदि हम धरस्तू के सैद्धान्तिक पक्ष को स्वीकार भी कर लें तो इसके व्यावहारिक रूप सेना कठिन मान्य होता है क्योंकि व्यवहार में यह संभव है कि जो दास हैं, उनके पास स्वामियों की अपेक्षा अधिक भौतिक क्षमता हो । तब स्वामियों को कैसे दास बनाया जाय और बासों को कैसे स्वतंत्र किया जाय ? धरस्तू इस विषय पर मौन है । परन्तु धरस्तू को आत्मामिमान अधिक या इसलिये बहु पुनर्निर्माणों को दास बनाना विलक्षण अनुचित मानता है और कहता है कि पुनर्निर्माण प्रवृत्ति से ही दासन करने योग्य होते हैं । धरस्तू के इस तर्क में कोई तथ्य नहीं खोजता कि वृत्ति पुली लोग ही विजयी होते हैं इसलिये हारे हुए लोगों को दास बनाना प्राकृतिक है । यदि शक्ति प्रयोग के द्वारा किसी को दास बनाया जाता है और शक्तिशालीता तथा नैतिकता एक सम्पत्ति जाती है, तो 'जिसकी साठी उसकी भेंट' वाली बहावत ही नैतिक सम्पत्ति जाना चाहिये । पर यह बात किसी भी संदर्भ में ठीक नहीं ।

धरस्तू ने दासता के संबंध में जो विचार रखे हैं, वे समझलौन दार्शनिकों की तुलना में बासों के प्रति काफी सहानुभूति पूर्ण हैं । कम से कम उसने इस बात पर जोर दिया कि दास प्रया स्वामी और दास दोनों के हित में है और दोनों को अपना जीवन पारस्परिक सहायता और मित्रता के आधार पर

विहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। इसलिये जब घोषिस्टों ने इस मत का प्रचार किया कि संसार में सभी मनुष्य समान हैं और बास मनुष्य के रूप में नहीं बरम् बास नाम के कारण ही वृक्षित है, तो इस नई विचारधारा से बुनामियों की सामाजिक संस्थामें उदयमाने लगीं। बुनामी अपने को सम्यक्ता का प्रतीक मानते थे और यह समझते थे कि केवल उनमें ही मनुष्यता और नैतत्व के गुण हैं, इसलिये जब कुछ देशों में बर्बर आठियों के बलावा बुनामियों को भी बास बनाया जाने लगा तो बासता पर विचार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये इस प्रचलित संस्था पर भरस्तु के लिये कुछ लिखना आवश्यक था। परन्तु बीसा बार्डर ने लिखा है 'भरस्तु बासता को प्राक्त्विक संस्था देखकर उसको उचित ठहराने का प्रयत्न करता है, एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति मनुष्यों का सम्मान कर अपने निष्कर्ष नहीं निकालता। भरस्तु के समय में बासता को उचित बटलाने के लिये व्यावहारिक और सैद्धान्तिक प्राक्त्विकता थी। भरस्तु सैद्धान्तिक धीरान्य बटाने का प्रयत्न करता है, परन्तु बीसा हम प्रागे देखेंगे वह अपने प्रयत्नों में विफल रहता है।

बासता प्राक्त्विक है—

भरस्तु बासता को प्राक्त्विक मानता है और वह अपने सिद्धान्त को तीन तर्कों पर आधारित करता है :—

१ प्रकृति में सभी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी शारीरिक समताओं के कारण सभी असमान हैं।

२ प्रकृति में जो उच्च क्षमता के प्राणी होते हैं वे साधन करते हैं और निम्न क्षमता के प्राणी इनका आधिपत्य स्वीकार करते हैं।

३ क्षमताओं के अनुसार प्राणियों को अपने काम करना चाहिये।

भरस्तु का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि और विवेक के कारण जीवन का निर्योग करने और साधन करने की क्षमता होती है। अन्य लोगों में बुद्धि और विवेक बहुत ही कम होता है, इतना कम कि वे स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकते तथा अपने जीवन को संभालित नहीं कर सकते हैं। दूसरों के लिये पये साधन का पालन व्यवस्था कर सकते हैं। प्रथम पृथ्वी के भोग स्वामी होते हैं स्वतंत्र नागरिक होते हैं, और दूसरी पृथ्वी के भोग बास। यह स्वानात्मिक है कि विवेक का साधन हो। विवेक द्वारा संभालित होने पर ही निम्न श्रेणी

के लोच समाज में व्यवस्था करते रहते हैं। वे यह कर सकते हैं इसलिये भारतु राष्ट्रों को 'सर्वोपार्जन' की नींव पर 'सर्वोपार्जन' राष्ट्रों से संबंधित करता है।

राजता उचित और आवश्यक है—

राजता स्वामी और राष्ट्र राष्ट्रों के बीच में एक व्यवस्थाओं और निम्न बातों को कि—  
 अपना पूर्णतम विकास कर सकते हैं।  
 राष्ट्रों में स्वयं अपना विकास करने की शक्ति नहीं हो सकती, पर स्वामी के प्रयत्न से राष्ट्र अपना कुछ विकास कर सकते हैं। यदि राष्ट्र उसकी ठीक नहीं बना होती है, तो राष्ट्र

शक्तिशाली की दृष्टि से भी राजता ठीक होती है कि सब समता वाले प्रणाली को

राजता का व्यावहारिक रूप—

यदि हम भारतु के सामाजिक व्यवस्था का व्यावहारिक रूप देना कठिन मान्य होगा कि जो राज है, उनका पास स्वामियों की तब स्वामियों को कहे राज बनाया जाय ? भारतु इस विषय पर मीन है। या इसलिये वह सुनानियों को राज बनाया कहता है कि सुनानी प्रकृति से ही प्राप्त करने तक में कोई तथ्य नहीं सोचना कि बुद्धिमानों लिये हारे हुए लोगों की राज बनाया प्रकृति किसी को राज बनाया जाता है और प्रकृति जाती है, तो 'जिसकी माटी उसकी मूर्त' वाली चाहिये। पर यह बात किसी भी संदर्भ में ठीक

भारतु ने राजता के संबंध में जो विचार की सुझाव में राष्ट्रों के प्रति काफी सहायता का प्रयत्न पर तो जोर दिया कि राष्ट्र प्रयास और लोगों को अपना जीवन आवश्यक

व्यवस्था दोनों के लक्ष्य के विकास के संघर्ष के समुप्य में लड़ नहीं हो सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व के द्वारा ही व्यक्ति सकता है। संपत्ति कारण ही समाज बनाने का प्रयत्न

दित होना चाहिये। इसमें वह परंपरागत शिक्षा हुआ या कि यथार्थ प्रकृति के लिये आवश्यक सामन है, का पठन करते हैं। होते हैं इसी कारण

और सामाजिक दो संस्था की सामोचना रहता है कि संघर्ष का समित्व और उतका ग ठीक नहीं। प्रकृति मनुष्य 'निजी' ही और सामूहिक। सामूहिक प्रकृति की को परभाव

कि मनुष्य सभी प्रकृति न करता है, जब प्रकृति सामूहिक

मनुष्य की प्रकृति

बिहीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। इसलिये जब ख्रीष्टियों ने इस मठ का प्रचार किया कि संसार में सभी मनुष्य समान हैं और बास मनुष्य के रूप में नहीं बल्कि बास नाम के कारण ही उत्पन्न है, तो इस नई विचारधारा से बुनानियों की सामाजिक संस्थाएँ बदलने लगीं। बुनानी धरने को सम्मता का प्रतीक मानते थे और यह समझते थे कि केवल उनमें ही मनुष्यता और केशव के गुण हैं, इसलिये जब कुछ केषों में नर्करा जातियों के भलाभा बुनानियों को भी बास बनाया जाने लगा तो बासता पर विचार करना अनिवार्य हो गया। इसलिये इस प्रचलित संस्था पर धरस्तू के सिधे कुछ निरुत्साह भावस्थक ना। परन्तु बीसा बार्कर ने लिखा है "धरस्तू बासता को धारस्थक संस्था बनाकर उसको उचित व्यवस्था का प्रयत्न करता है एक उदत्त वैज्ञानिक की भांति मनुष्यों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष नहीं निर्यासता। धरस्तू के समय में बासता को उचित बतलाने के सिधे व्यावहारिक और वैज्ञानिक धारस्थकता थी। धरस्तू वैज्ञानिक प्रीतिरु बतलाने का प्रयत्न करता है, परन्तु बीसा हम जाने देखेंगे वह अपने प्रयत्नों में विफल रहा है।

**बासता प्राकृतिक है:—**

धरस्तू बासता को प्राकृतिक मानता है और वह अपने सिद्धान्त को तीन तर्कों पर आधारित करता है:—

१ प्रकृति में सभी मनुष्य समान नहीं हैं। अपनी शैक्षिक क्षमताओं के कारण सभी असमान हैं।

२ प्रकृति में जो उच्च समता के प्राणी होते हैं वे शासन करते हैं और निम्न क्षमता के प्राणी इनका प्राधिपत्य स्वीकार करते हैं।

३ क्षमताओं के अनुसार प्राणियों को अपने काम करना चाहिये।

धरस्तू का कहना है कि कुछ व्यक्तियों में बुद्धि और विवेक के कारण जीवन का निर्देशन करने और शासन करने की क्षमता होती है। अन्य लोगों में बुद्धि और विवेक बहुत ही कम होता है, इतना कम कि वे स्वतंत्रता का उपयोग नहीं कर सकते तथा अपने जीवन को संभालित नहीं कर सकते हैं। दूसरों के दिने मने धारस्थक का पालन धारस्थक कर सकते हैं। प्रथम धरणी के लोग स्वामी होते हैं, स्वतंत्र नागरिक होते हैं, और दूसरी धरणी के लोग बास। वह स्वाभाविक है कि विवेक का शासन हो। विवेक द्वारा संभालित होने पर ही निम्न धरणी

कि छोटे सरसक बर्न के लिये निजी संपत्ति और कौटुंबिक व्यवस्था दोनों के समाप्त करने के पक्ष में है। परस्तू परस्तू मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये इन दोनों को आवश्यक मानता है। बिना निजी संपत्ति के मनुष्य में उदात्ता दानशीलता व्यक्तित्व सरकार धारि गुणों का विकास नहीं हो सकता। निजी संपत्ति प्रशस्ति-सम्मान के लिये आवश्यक है और उससे मनुष्य का व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक स्थिति मानुस होती है। निजी संपत्ति के द्वारा ही व्यक्ति श्रेय-कार्यों में भाग लेकर अपनी नागरिकता का परिचय दे सकता है। संपत्ति का समान वितरण आवश्यक नहीं। असमान वन-वितरण के कारण ही मनाक्य लोगों को लोक सुविधाओं की रक्षायें बनाकर जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है।

परस्तू निजी संपत्ति और इनका असमान वितरण मर्यादित होना चाहिये। मर्यादा का सिद्धान्त परस्तू के विचारों की कुली है और इसमें वह परंपरागत यूनानी विचारों को ही मानता है। ईस्टी के मंदिर पर ही लिखा हुआ था कि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा हो। इसलिये संपत्ति केवल आवश्यकता पूर्ण के लिये ही न अधिक न कम। चूंकि वन नैतिक जीवन के लिये आवश्यक साधन है, इसलिये कम और अधिक वन दोनों ही इस नैतिकता का पतन करते हैं। व्यापार और उद्योग यदि अधिक वन कमाले के लिये होते हैं इसी कारण परस्तू शिक्षाकार बर्न को प्रशस्त नहीं समझता।

परस्तू के अनुसार धारण राज्य में संपत्ति निजी और सार्वजनिक दो भागों में बँटना चाहिये। रिपब्लिक की साध्यकारी व्यवस्था की सातोचना

करते हुए वह कहता है कि संपत्ति का सामाजिक स्वामित्व और उसका सामूहिक उपयोग ठीक नहीं। अच्छा ही यदि स्वामित्व निजी हो और प्रसवा उपयोग सामूहिक। सामूहिक स्वामित्व में संपत्ति की काँ परवाह नहीं करेगा, क्योंकि मनुष्य सभी इच्छा और दसता से काम करता है, जब वस्तु उसरी होती है। दूसरे सामूहिक स्वामित्व में प्रापनी मर्यादा के बन्ध की संभावना होगी है जिससे साम्यवादी व्यवस्था में अच्छा का उदय नहीं होसकता।

### सम्पत्ति

- (१) मनुष्य के विकास के लिए प्राव देवक।
- (२) सम्पत्ति मर्यादित हो।
- (३) निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति।
- (४) स्वामित्व निजी उपयोग सामूहिक।

संभावना होगी है जिससे साम्यवादी व्यवस्था में अच्छा का उदय नहीं होसकता।



विद्याना चाहिये। वह जिसका है कि स्वामी का हाथों पर साधन गढ़ीरिये का मेड़ बकरियों पर साधन के समान नहीं है।

### बासता

बिनमें बौद्धिक अमत्ता नहीं के बाध होये इसलिये बासता प्राकृतिक। बासता स्वामी और बास दोनों के हित में।

बासता का सिद्धान्त व्यवहार में लागू करना असम्भव।

तर्कहीन और अर्बन्नामिक।

समकालीन विचारों से प्रभावित ठिठ भी सहानुसृतिपूर्वक।

तर्क के आधार पर धरस्तू को बास प्रथा को अप्राकृतिक बनाना चाहिये प्राकृतिक नहीं।

### सिस्वकार—

धरस्तू सिस्वकारों को हाथों की मखी में ही रखता है, क्योंकि सिस्वकार भी आधुनिक अम करने वाले मनुष्य हैं जिन्हें उच्च जीवन प्राप्त करने के लिये अवकाश नहीं है। सिस्वकारों की परिस्थिति तो हाथों से भी बुरी है, क्योंकि उन्हें अपने स्वामी के जीवन और आदेशों से लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं मिलता। यह धारणा भी बात है कि सिस्वकार और बास नागरिकों को अवकाश देने के लिये आवश्यक माने गये हैं, पर स्वयं अवकाश से वंचित होने के कारण धरस्तू इन्हें नागरिकता और उच्च जीवन से वंचित रखता है। किन्तु अन्त में होता कि धरस्तू ऐसी सामाजिक व्यवस्था बनाता जिसमें सबको अवकाश मिल सकता है। वैज्ञानिक होते हुए भी धरस्तू अपने मूल के संकुचित विचारों से मुक्ति नहीं पा सका है। ऊँची के अनुभव यह इस बात में निश्चास करता है कि आधुनिक अम और किसी काम में उच्च होने से ही मनुष्य का पतन होता है।

### संपत्ति और मुद्रा—

धरस्तू के मुद्रा और संपत्ति सम्बंधी विचार हम उसके हाथ की पई प्लेटों की आलोचना और आदर्श राज्य के विचार में मिलते हैं। हम देख चुके हैं।

वि प्पटो सरलक बर्ष के लिये निजी संपत्ति और औद्योगिक व्यवस्था दोनों के समाप्त करने के पक्ष में है। परस्तु परस्तु मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये इन दोनों का आवश्यक मामला है। बिना निजी संपत्ति के मनुष्य में उदारता दानशीलता आदि सत्कार आदि गुणों का विकास नहीं हो सकता। निजी संपत्ति आत्म-सम्मान के लिये आवश्यक है और उससे मनुष्य का व्यक्तित्व और उसकी सामाजिक स्थिति मान्य होती है। निजी संपत्ति के द्वारा ही व्यक्ति राज्य-कार्यों में योग देकर अपनी नागरिकता का परिचय दे सकता है। संपत्ति का समाप्त बितरण आवश्यक नहीं। असमान धन-वितरण के कारण ही पनाक्य लोगों को लोक सुविधाओं की संस्थाएँ बनाकर जनता की सेवा करने का अवसर मिलता है।

परस्तु निजी संपत्ति और इसका असमान वितरण मर्यादित होना चाहिये। मर्यादा का सिद्धान्त परस्तु के विचारों की कुंजी है और इसमें बड़े परपरायण मूलानी विचारों को ही मानता है। कैम्प्री के मंदिर पर ही निष्ठा हुआ या कि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा ही। इसलिये संपत्ति केवल आवश्यकता पूर्ति के लिये ही न अधिक न कम। बूँक पन वैदिक जीवन के लिये आवश्यक साधन है, इसलिये कम और अधिक धन दोनों ही इस वैदिकता का पतन करते हैं। व्यापार और उद्योग के अधिक धन कमाने के लिये होत है इसी कारण परस्तु विनाकार बर्ष को अक्षय नहीं समझता।

परस्तु के अनुसार आदर्श राज्य में संपत्ति निजी और सामाजिक दो भागों में बँटना चाहिये। रिपब्लिक की साम्यवादी व्यवस्था की आलोचना करते हुए वह कहता है कि संपत्ति का

### सम्पत्ति

- (१) मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक।
- (२) सम्पत्ति मर्यादित हो।
- (३) निजी और सामाजिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति।
- (४) सामाजिक निजी उपयोग क्षाम्य हिक।

सामाजिक स्वामित्व और उनका सामूहिक उपयोग ठीक नहीं। अर्थात् हो यदि स्वामित्व निजी हो और उनका उपयोग सामूहिक। सामूहिक स्वामित्व में संपत्ति की को परवाह नहीं करेगा, क्योंकि मनुष्य अभी इच्छा और ददाता से काम करता है, जब वस्तु अपनी होती है। दूसरे सामूहिक स्वामित्व में आपसी भयों के बन्ध की

संभारता दानी है जिससे साम्यवादी व्यवस्था में एकता का उदय नहीं होसकता।

प्लेटो की आलोचना करते समय संपत्ति के संबंध में धरस्तू ने निम्नलिखित बातों पर भी प्रकाश डाला है। प्लेटो निजी संपत्ति को राज्य को बुवाई की जड़ समझता है। धरस्तू का कहना है कि धरुई की जड़ संपत्ति नहीं मनुष्य का नैतिक पतन है। बुवाई को हटाने के लिये धार्मिक साम्यवाद की नहीं शिक्षा की आवश्यकता है। साम्यवादी व्यवस्था किसी भी युग में प्रचलित नहीं रही जिससे स्पष्ट है कि निजी संपत्ति का अधिकार धार्मिक साम्यवादी है।

प्लेटो कौटुम्बिक व्यवस्था को राज्य की एका के लिये बाधक समझता है, और ऐसा प्रावधान करता है कि जिसमें एक समय के उत्पन्न बच्चे सब घरदारों की संतान मानी जाय जिससे घरदारों का प्रम धार्मिक व्यापक हो सके और केवल कुछ ही व्यक्तियों में केन्द्रित न हो। धरस्तू का कहना है कि व्यापक प्रम धार्मिक धीरे होता है। प्रम विकसित करने के लिये सीमित होना आवश्यक है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास विवाह और संतान से सम्बन्धित होता है। कुटुंब नागरिक जीवन की सर्वोच्च पाठशाला है कुटुंब प्राकृतिक है और राज्य का बीज स्वल्प। इसलिये उसे नष्ट करना अप्राकृतिक कार्य होता है।

( ५ )

### नागरिकता और संबिधान

पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक में धरस्तू नागरिकता और संबिधान पर विचार करता है। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि पहिली पुस्तक में जहाँ यह कुटुंब को राज्य का सबसे छोटा अटक मानता है, जहाँ तीसरी पुस्तक में यह शिक्षता है कि राज्य नागरिकों का समूह है। इस तरह नागरिकों को राज्य का अटक मानकर यह नागरिकता के सिद्धान्तों की खर्चा करता है।

प्रचलित आरक्षणों को आधीनता करते हुए धरस्तू यह प्रश्न उठाता है कि नागरिक कौन है ?

१. केवल विवाह से ही कोई व्यक्ति नागरिक नहीं हो सकता क्योंकि विदेशी और दास भी राज्य में रहते हैं।

२. मूकबला बनाने का अधिकार भी नागरिकता प्रदान नहीं करता क्योंकि संविधानों द्वारा विदेशियों को भी यह अधिकार प्राप्त है। वे केवल

सांख्य रूप में ही नागरिक है, ठीक उन्हीं तरह जिस तरह वास्तव और वृद्ध पूर्ण नागरिक नहीं।

३. जिसकी नागरिकता छीनी गई है या जिन्हें देश निकाला मिल चुका है, वे भी नागरिक नहीं हैं।

४. जन्म से ही कोई नागरिक नहीं है, क्योंकि यदि जन्म नागरिकता का गुण हो तो प्रथम नागरिक का प्रश्न कैसे हल किया जाता ?

धरतू के अनुसार न्यायिक कार्यों और सार्वजनिक पदों और सेवाओं में भाग लेना या कहना चाहिये कि विचार परिपक्वों और न्यायालयों में सदस्यों की हस्तियता से बचना ही नागरिकता के गुण है। धरतू को यह परिभाषा केवल प्रजातन्त्रों में ही ठीक हो सकती है। जो प्रजातन्त्रिक शासन-व्यवस्था में नहीं है या जिनमें नियत रूप से लोक-समाज नहीं बैठती या जिन का न्याय संबंधी कर्म कुछ विविध आयुओं के हाथ में होता है, वहाँ नागरिकता की यह परिभाषा सीमित दृष्टि से ही लागू हो सकेगी।

धरतू की परिभाषा की विशेषता यह है कि वह सक्रियता को महत्व देता है। नागरिकता केवल जन्म निवास-स्थान या वैयक्तिक अधिकारों से ही नहीं मिल पाती। नागरिकता राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने से और सार्वजनिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने पर ही प्राप्त हो सकती है।

धरतू दुरुप्य प्रश्न भी उत्पन्न है। क्या धर्म्ये आरामी के गुण और धर्म्ये नागरिक के गुण एक हैं या भिन्न भिन्न ? नागरिक राज्य का सत्य है और प्रत्येक समाज का धर्म्ये एक विविध उद्देश्य होता है इसलिये धर्म्ये नागरिक वह है, जो उस विविध समाज के उद्देश्यों को पूरा करे। इस तरह नागरिकों का सहाचार विविध शासन व्यवस्था से संबंधित है। चूंकि संसार में भिन्न २ शासन व्यवस्थाएँ हैं, इसलिये नागरिकों के गुण सब जगह और देश में एक नहीं हो सकते।

परन्तु धर्म्ये मनुष्य के गुण सब देश काल में एक ही होंगे। इसलिये वहाँ धर्म्ये नागरिक के गुण राज्य से सम्बन्धित या सापेक्ष होते हैं, वहाँ धर्म्ये मनुष्य के गुण निरपेक्ष होते हैं।

फिर राज्य में सभी नागरिकों के गुण एक से नहीं होते क्योंकि प्रायः राज्य सममान सदस्यों द्वारा बनता है। इनमें कुछ शासित होते हैं और कुछ शासक। इसलिये पद के अनुसार राज्य के भीतर रहने वाले नागरिकों के गुण भी एक से नहीं होंगे।

परन्तु क्या कोई ऐसी परिस्थिति है, जब अन्धे मनुष्य और अन्धे नागरिकों दोनों के गुण एक हों ? अन्धे मनुष्य में सदाचार और बुद्धिमानी ये दो गुण आवश्यक हैं। साक्षित वर्ग में सदाचार

### नागरिकता

सबसे—भौतिक कार्यों और सार्वजनिक सेवाओं में भाग लेना।

इसलिए नागरिकता के गुण संविधान से सम्बन्धित।

केवल उस राज्य में जहाँ व्यक्ति बारी-बारी से शासक (बुद्धिमत्ता) व साक्षित (सदाचार) होता है अन्धे नागरिक व अन्धे मनुष्य में अन्तर नहीं होता।

मिलता है, और साक्षक वर्ग में बुद्धिमानी। इसलिये निरक्षर साक्षकों में अन्धे मनुष्य और अन्धे नागरिकों के पण एक से नहीं हो सकते। परन्तु सैवनात्मिक राज्यों में जहाँ प्रजा साक्षक वर्ग बन सकती है, वहाँ प्रत्येक नागरिक को साक्षक करने और साक्षित होने का अवसर प्राप्त होगा। साक्षित होते समय बुद्धिमत्ता का कुछ अवसर प्राप्त होगा परन्तु चूँकि उसे साक्षक भी बनना है इसलिये उसमें बुद्धिमत्ता का कुछ भी होना चाहिए।

### संविधान :—

संविधान राज्य के शासन-पद्धति विशेषकर सबसे उच्च पक्षों का संज्ञक है। इसलिये इन शासन-पद्धति पर बिना प्रकृति के जोन आधीन हूँगी वही क अनुसार राज्य का जीवन संसाधित होगा। दूसरे राज्यों में हम यह कह सकते हैं कि साक्षक-वर्ग अपने सर्वोच्च के अनुसार राज्य का निर्माण करेंगे। इसलिये वैसे साक्षक वर्ग होना वैसे ही राज्य होना। साक्षक वर्ग ही राज्य या संविधान बनाता है।

प्राथमिक काल में हमें संविधान का यह अर्थ कुछ विभिन्न या मालूम होता है, क्योंकि आज हम सरकार के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध और शक्तियों की शक्ति का निकषण संविधान के अन्तर्गत करते हैं। परन्तु अस्तु के विचार समझाधीन बुनानी बटनार्यों से प्रभावित है। वहाँ अब एक वर्ग दूसरे वर्ग को हटाकर शासन अधिकार या लेता या तो पहिले वर्ग को पूर्ण रूप से समाप्त कर देता या और अपने आदर्शों और सिद्धान्तों के अनुसार राज्य के जीवन को व्यवस्थित करता या। इसलिये अस्तु साक्षक वर्गों की प्रकृति को संविधान की प्रकृति बताता है। वास्तव में संविधान जीवन का अर्थ या।

दीनिक कहता है कि संविधान एक विशिष्ट जीवन को व्यक्त करता है। प्रत्येक संविधान इस जीवन की व्यवस्था के अनुकूल साक्षित वर्ग बनाता करता

या । समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के भिन्न-भिन्न जीवन सिद्धान्त होते थे । इसलिये जब कोई नया सिद्धान्त अपनाया जाता है, जो हमका धर्म होता है कि नये धर्म के ह्रास में सत्ता आ गई है । इस प्रकार संविधान के परिवर्तन का धर्म होता है, सिद्धान्त का परिवर्तन जीवन व्यवस्था का परिवर्तन । इसी कारण

### संविधान

संविधान राज्य के जीवन को व्यक्त करता है ।

घासक बग की प्रकृति संविधान को निर्मित करती है ।

राज्य का प्रमुख ताक बलों की प्रकृति है । इसी कारण घरस्तू राज्यों का वर्णिकरण बलों की प्रकृति के आधार पर करता है ।

( ६ )

### राज्यों का वर्णिकरण

घरस्तू राज्यों का वर्णिकरण दो आधारों पर करता है

(१) सर्वोच्च शक्ति किस वर्ग के पास है, उसकी संख्या के आधार पर और

(२) सत्त्व के आधार पर (जिसके अनुसार घासक वर्ग राज्य बसाता है) । चूँकि राज्य का सत्त्व धर्मों जीवन की प्रतिप्लव करता है, इसलिये जो राज्य सबसे अधिक सत्त्व हैं और समान रूप से सबके लिये धर्मों जीवन की व्यवस्था करते हैं, वे प्रकृत राज्य हैं । जहाँ घासक सबका हित न देखकर केवल अपना हित देखते हैं, वे विकृत राज्य हैं । इन आधारों पर घरस्तू के राज्यों का वर्णिकरण इस प्रकार होगा ।

संख्या

प्रकृत

विकृत

(सबका हित)

(पानकों का हित)

एक का शासन

राजतन्त्र

निरंकुश राज

अल्पवर्ग का शासन

दुर्जनतन्त्र

पनिवर्तन

बहुसंख्यक लोगों का शासन नगर-व्यवस्था (Polity)

राजतन्त्र

संविधानों के वर्गीकरण में परस्तू ने वास्तविक महत्व प्राप्तियों की संख्या को नहीं दिया। शासक वर्ग की प्रकृति और उसके ऊँच स्तर को दिया है। क्योंकि यदि किसी राज्य में समुद्रिपासी व्यक्तियों की संख्या अधिक हो जाय तो वह अनतन्त्र नहीं होगा और न अल्प-संख्यक गरीबों का शासन बलिकतन्त्र

कहसायेगा। "राज्य के सर्वोच्च वर्ग

वर्गीकरण का आधार

- (१) शासक वर्ग की संख्या।
- (२) शासक वर्ग का उच्च स्तर—स्वार्थ (विकृत) या सर्वहित (प्रकृत)।
- (३) शासक वर्ग की प्रकृति—गरीबी धर्मोरी।
- (४) शासन-यंत्र विवरण का सिद्धांत।

का बहुसंख्यक या अल्प संख्यक होना बलिकतन्त्र और प्रजातन्त्र की एक प्राकृतिक बटना है, क्योंकि संसार भर में बनी सोच कम और गरीब अधिक है। प्रजातन्त्र और बलिकतन्त्र में बिना जाने वाला वास्तविक सफल गरीबी और धर्मोरी है।"

राजवर्णन— सर्वश्रेष्ठ (अष्ट व्यक्ति)  
 कुलीनतन्त्र— , (समाचार)  
 नगर-व्यवस्था (व्यावहारिक आधार)  
 अनतन्त्र (समाजता)  
 बलिकतन्त्र (धन)  
 निरंकुश (बोधेबाजी)

साथ ही परस्तू यह भी बताता है कि बहुसंख्यक और अल्प-संख्यक वर्ग की सरकारों में ऐसी सरकारें कम ही हैं, जो राज्य के वास्तविक उच्च स्तर को पूरा करती हैं। इस प्रकार कुलीनतन्त्र और नगर व्यवस्था व्यवहार में पाये जाने वाले तन्त्र नहीं हैं।

संविधानों में अन्तर केवल शासक वर्ग की प्रकृति के कारण ही नहीं होता जिनमें जिस सिद्धान्त पर पदों और अधिकारों का विवरण होता है, उन सिद्धान्तों के कारण भी अन्तर होता है। कुलीनतन्त्र में समाचार के आधार पर लोगों को शासन-यंत्र मिसता है, बलिकतन्त्र में धन के आधार पर और अनतन्त्र में स्वतन्त्र धन या समाजता के आधार पर।

राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति का शासन है। कुलीनतन्त्र कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का। वे दोनों तन्त्र जेटो के शासनिक राजाओं के समान हैं, जिनका होना अशक्य वा ही है, क्योंकि इस संसार में ऐसे व्यक्तियों का अभाव है। नगर व्यवस्थातन्त्र ही ऐसा आदर्श है जो वास्तविकता का रूप ले सकता है, और यदि लोकतन्त्रात्मक राज्यों का ठीक से संभालन हो तो वे इस आदर्श के अनुरूप बन सकते हैं। नगर व्यवस्था में मर्यादा का सिद्धान्त अपनाया जाता है, और इसमें पदों का विभाजन संश्लेषण के आधार पर होता है।

विद्वत् तन्त्रों में परतन्त्र सबसे अच्छा है, क्योंकि इसमें समानता के सिद्धान्त को धरनाया जाता है, उनके बाह्य परिदृश्य का स्थान जाता है, क्योंकि इसमें राज्य के लिये व्यावहारिक पक्ष के आधार पर पदा का विवरण होता है। निरंकुश शासकों का कुछ घोड़ेबाजी और जालसाजी है, इसलिये यह सबसे खराब शासन है। उत्तमशा के ज्ञान में परतन्त्र संबंध ठ है और निरंकुश शासन सबसे बुरा। सर्वप्रथम में इसका स्थान कुम्भोजतन्त्र का है, जिसका विद्वत् रूप परिदृश्य है, जो निरंकुश शासन से अच्छा और प्रजातन्त्र से बुरा है। मगर व्यवस्था व्यावहारिक भावार्थ है, इसलिये यष्ट शासनों में इसका स्थान तीसरा है। इसका विद्वत् रूप प्रजातन्त्र है, जो विद्वत् शासन तन्त्रों में सबसे अच्छा शासन है।

धामोचना—

धरत्यू के वर्गीकरण की हम निम्नलिखित धामोचना कर सकते हैं—

१ धरत्यू का वर्गीकरण प्रापुनिक काम के लिये उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रापुनिक काम के संसारामक और साम्प्रदायिक तथा पणामक और संचालक शासनों को इस वर्गीकरण में स्थान नहीं दिया जा सकता।

२ धरत्यू का वर्गीकरण कुछ कठोर है। प्रजातंत्र और परिदृश्य के धरत्यू ने ही स्वयं कई रूप माने हैं, जिन्हें इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखना कुछ कठिन हो जाता है। धरत्यू स्वयं निश्चित राज्य के पक्ष में था। इस राज्य के लिये भी इस वर्गीकरण में स्थान नहीं है।

द्वितीय धरत्यू के वर्गीकरण में कुछ नवीनताएँ हैं—

१ उसका वर्गीकरण का टीका प्लेट में व्यवस्थित किया है परन्तु प्लेटों को यदि इस वर्गीकरण को केवल संख्या पर आधारित न कर शासक वर्ग की प्रकृति पर भी आधारित किया है। वर्ग की प्रकृति का ध्यान में रखते हुए हम शासक भी राज्यों का वर्गीकरण पूँजीवादी और साम्यवादी लोचन और भविक संघ में करते हैं।

२ हमने 'नगर-व्यवस्था' की बजाय 'व्यवहारिक व्यावहारिक' है। उस प्रकार की व्यवस्था हमें प्लेटों में नहीं मिलती।

३ धरत्यू ने राज्य के उद्देश्य को भी वर्गीकरण में स्थान दिया है। प्रापुनिक काम में हम भी राज्य के उद्देश्य को देखकर राज्यों का पुनिक काम मोरक व्यवस्थापक राज्य, व्यक्तिवादी (पूँजीवादी) और समाजवादी राज्यों में



बर्नीकरा करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भरतू राज्य के नैतिक पक्ष को ही सामने रखा है, प्राकृतिक युग में हम राज्यों के नायों को देखते हैं।

( ७ )

### विधि की महत्ता

राजवर्तन की चर्चा करते हुए भरतू इस बात को मानता है कि किसी समाज में ऐसा व्यक्ति मिल सके जिसके वैयक्तिक गुण सर्वश्रेष्ठ हों और सबके सामूहिक गुणों से अधिक हों तो उसे शासक बनाना अच्छा होगा क्योंकि वह मनुष्यों में देखता है। परन्तु बर्बर जातियों को छोड़कर अन्य राज्यों में ऐसे व्यक्ति का मिलना कठिन है, क्योंकि अन्य राज्यों के नागरिकों में राजनीतिक चेतना होती है, और वे राजनीतिक असमानता को स्वीकार नहीं करते। इसलिये अधिकतर राज्यों में ऐसे व्यक्ति को देख निकलना मिल जाता है। यदि देख निकलना न भी मिले तो भी यह बात विचारणीय है कि क्या अन्य समाजों के नागरिकों के सामूहिक गुण इस एक व्यक्ति के व्यक्तिगत गुणों से हलके पड़ेंगे? यदि नहीं तो जनता को ही अधिकार देना उत्तम होगा। फिर ऐसा राजा प्राकृतिक नहीं हो सकता क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि पिता के पुत्र पुत्र में भी प्रौढ़ हों। सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति नियमों के बंधन से मुक्त रखा जा सकता है, परन्तु यदि उसमें दुर प्रकृति आवृत्त हो गई तो विधि के बंधन से मुक्त राजवर्तन निरनुत्तरण में परिवर्तित हो जाते हैं, जो सबसे बुरा हुआ तंत्र है।

इसलिये सर्वश्रेष्ठवादी सर्वश्रेष्ठ राज्य की अपेक्षा भरतू संवैधानिक या नियमों के बंधन से बने हुए राजवर्तन को अच्छा समझता है। इसी संबन्ध में वह विधि की महत्ता की चर्चा करता है, और विधि के शासन को किसी एक व्यक्ति के शासन से अच्छा समझता है।

प्लेटो ने रिपब्लिक में विधि-बंधन मुक्त दार्शनिक राजाओं के शासन को सर्वश्रेष्ठ माना है, और सॉज में विधित विधि के शासन को द्वितीय सर्वोत्तम। भरतू सॉज की विचारधारा से प्रभावित है और प्लेटो के द्वितीय सर्वोत्तम को ही सर्वोत्तम राज्य घोषित करता है। उसकी कल्पना में बीस हम देख चुके हैं विधि बंधन मुक्त राजवर्तन न केवल अभ्यावहारिक है, बल्कि उसकी निरनुत्तरण

में बहलने की प्रकृति भी होती है। इसलिये ऐसे शासन को वह सर्वोत्तम राज्य के लिये उपयुक्त नहीं समझता।

विधि की विवेचना करते हुए वह लिखता है कि समाज का रीतिरिवाज हमारी संवित बुद्धि है। रीतिरिवाजों का प्रादुर्भाव ही अश्वे जीवन को प्रतिष्ठित करने के लिये होता है, इसलिये विधि

विधि की महत्ता  
सांस्कृतिक राजा की कल्पना  
साम्प्रदायिक है।

विधि-संपन्न-मुक्त राजा निर्दम्य होता  
है।

विधि का राज्य सर्वोत्तम  
क्योंकि विधियाँ पुरुषों का ज्ञान  
है  
राज्य के उद्देश्य को पूरा करती  
हैं,

निष्पन्न होती हैं, शासना रक्षित  
होती हैं।

विधि में परिवर्तन समूह द्वारा  
होना चाहिये।

विवेक और नीतिवता का पर्यायवाची  
है। जिस समाज में विधियों की महत्ता  
रखी है, वह समाज अपने प्राय  
सर्वोत्कृष्ट उद्देश्यों को पूरा करते हैं।  
विधि के शासन की सबसे बड़ी विवेकता  
यह है कि विधियाँ सबकुछ साथ समान  
व्यवहार करती हैं और निष्पन्न रहती  
हैं जबकि व्यक्ति का शासन पराजित  
पूरा हो सकता है। विधि में मादनायों  
का सम्मिलन नहीं हो सकता।

इसमें सदेह नहा कि परिवर्तित  
समाजों के लिये विधि का शासन ठीक  
नहीं रह सकता क्योंकि विधि का  
शासन परिस्थिति के अनुकूल नहीं बहल

सकता इसलिये कानून की दुर्बलताओं को मिटाने का उत्तरदायित्व एक व्यक्ति को न देकर कुछ या धनक व्यक्तियों को दिया जाना चाहिये। धनक व्यक्तियों की सामूहिक बुद्धि एक व्यक्ति की बुद्धि से अधिक होती है। धनक व्यक्ति धानानी से पराजित भी नहीं हो सकते और न उन पर शासन का दोष सपाया जा सकता है। इस प्रकार धरन्तू कानून की समष्टुता का समर्थक है, व्यक्ति की समष्टुता का नहीं।

( ८ )

शासन राज्य

धरन्तू की रीति की कर्षा करते समय हम बता पाते हैं कि धरन्तू समुदायवादी का और वह कल्पना की अपेक्षा व्यवहार को अधिक महत्ता देता

है। धरतू की वैज्ञानिक प्रकृति समकालीन राज्यों को ही धारदर्श राज्य बनाने की धोर चुकी हुई थी। इसलिये यह धारदर्श राज्य की चर्चा करते हुए हम नाथ पर धोर देता है कि धारदर्श राज्य वही ठीक कहा जा सकता है, जो इस संसार में समझ हो सके।

धारदर्श राज्य की रूपरेखा खींचना तुलनात्मक अध्ययन में विचित्रस्वी बेने बसे धरतू के मनोनुकूल न था। इसलिये पुस्तक के दूसरे भाग में प्लेटो के धारदर्श राज्य की आलोचना कर तीसरे भाग में उसने धारदर्श राज्य की चर्चा प्रारंभ नहीं की है। तीसरे से आठवें भाग तक उसने वास्तविक राज्यों की समीक्षा की है। सातवें और आठवें भाग में ही यह धारदर्श राज्य के विषय पर आता है परन्तु यहाँ भी यह एक धारदर्श की नहीं बल्कि राज्य के धारदर्शों की चर्चा करता है। इन भागों में यह धारदर्श राज्यों की शिक्षा व्यवस्था इनके लिये उपयुक्त भूमि जनसंख्या नगर योजना पर ही लिखता है, धारदर्श के समयन या धारदर्शन पर नहीं। मामूय ऐसा होता है कि धारदर्श राज्य का धारदर्श उसकी प्रकृति के प्रतिरूप या इसलिये उसने इस प्रकार की चेष्टा ही छोड़ दी।

सातवें और आठवें भाग में यह जिस सामाजिक व्यवस्था का वर्णन करता है, यह उसकी नगर व्यवस्था तब की पूरक है। बीसा हम बता धारदर्श नगर व्यवस्था तब व्यावहारिक है। इसलिये धरतू की दृष्टि से नगर व्यवस्था तब व्यावहारिक धारदर्श तब बनाता है। परन्तु इस तब की चर्चा उसने वास्तविक राज्यों की समीक्षा के साथ की है। इसलिये यहाँ हम केवल सातवें और आठवें भाग में धारदर्श के विचारों को ही बतायेंगे और नगर व्यवस्था के संबंध में धारदर्श चर्चा करेंगे।

धरतू यूनानी परंपरा का समर्थक था, इसलिये उसके धारदर्श राज्य में हमें तीन सिद्धान्त स्पष्ट रूप में दिखाई देते हैं :

- १ राज्य का सत्य व्यक्ति की नैतिक उपरि करना है
- २ मर्त्या का सिद्धान्त और
- ३ विधि की सप्रभुता।

धरतू के अनुसार प्रत्येक समुदाय का यह रूप गुण है। गुण बुद्धि और सदाचार के द्वारा मिलता है नैतिक धारदर्शों के द्वारा नहीं। पर नैतिक धारदर्श भी राज्य के लिये धारदर्शक है। इसलिये एक सीमा में इनका होना आवश्यक है, इनकी प्रति व्यक्ति और राज्य दोनों के लिये बुद्धि है।

पारस्य राज्य के धार्मिक उपादान—

राज्य की भूमि न तो बहुत धार्मिक हो न बहुत कम इसकी जनसंख्या भी एक मर्यादा में हो। कम भूमि और कम जनसंख्या होने से राज्य स्वमर्याद नहीं हो सकता और न अपनी सुरक्षा कर सकता है। मर्यादा से धार्मिक होने पर इसमें एकता का समावेश होया। भूमि और जनसंख्या सभी पारस्य कहीं या सकेमी जब वह निवासियों के मौखिक साधनों को पूरा कर सके और उसके सिवाही एक बूढ़े से जानकारी रख सकें। नागरिकों में बुद्धि और उत्साह दोनों का गुण हो और दासों की संख्या इतनी हो कि नागरिक बर्ग संस्कृतिक कार्यक्रम और सहाचारी जीवन में भाग ले सकें। इसकी स्थिति ऐसी हो कि वह कार्रमणों से सुरक्षित रहे। बुद्धि अथवा नागरिक और अथवा मनुष्य के गुण उसी समय एक होते हैं जब नागरिकों को धार्मिक होने और धार्मिक कार्य करने के धारण समान हों इसलिये सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की हो कि नव युवक बर्ग सेना का कार्य करें और बृद्ध जनों द्वारा धारण हो। नवयुवक बर्ग को धार्मिक प्राप्त करने पर धार्मिक से धार्मिक धारण अतिकार मिल जानेवा। ऐसी सामाजिक व्यवस्था में धार्मिक और धार्मिकों के बीच कोई संघर्ष न होगा। इनके धार्मिक बर्ग नव धार्मिक बर्ग बनेगा ता वह धार्मिकों के हितों को अथवा तरह धारण के कारण उन्हें ही पूरा करेगा। नागरिकों के पास व्यक्तिगत संघर्ष भी होंगे परन्तु कुछ संघर्ष नागरिक उपयोग के लिये भी रखी जावेगी। संघर्ष के इस विवरण में परम्पू का यह निम्नलिखित सिद्धांत स्पष्ट दिखाई देता है।

पारस्य राज्य की विशेषता—

पेहो ने रिपब्लिक में तीन प्रमुख कार्य बताये थे— धार्मिक, नैतिक और राज्य संचालन। इन्हीं के अनुरूप—सबे तीन बर्गों की व्यवस्था की भी धीरे धीरे प्रत्येक बर्ग को धार्मिक एव ही कार्य करने को कहा था। परम्पू ने राज्य के धी प्रकार के नाम बताये—साथ सामन्ती का प्रथम दस्तकारी की व्यवस्था गुरका कार्य संघर्ष की बुद्धि सामान्य कार्य और पूजा पाठ। प्रथम दो कार्य तो साथ ही धीरे धीरे धार्मिक बर्ग द्वारा हुये परन्तु अन्य सब कार्य नागरिकों द्वारा हुये इसलिये प्रत्येक नागरिक सभी कार्य करने का धार्मिक है। पुनावरण में बहू धार्मिक कार्य करेगा परिपक्व अवस्था में सामान्य का धीरे बुद्धिबद्धता में पुत्रारी का। इस प्रकार राज्य न धार्मिक और धार्मिक बर्गों के बीच संघर्ष की सम्भावना नहीं है। राज्य की रचना बनाये रखने के लिये बहू धार्मिक विद्या की व्यवस्था भी करता है। राज्य का संचालन बयोबुद्ध और अनुभवों सीधों के द्वारा संघर्ष

के कारण यह सर्वभद्र व्यक्तियों की सरकार होगी। पर इसका स्वरूप जन  
 धार्मिक राज्य  
 धार्मिक का विमल धरतू को  
 मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं।  
 यह व्यावहारिक धार्मिक राज्य  
 होता है।

राज्य की वैदिक चहुँप मर्दावा  
 धीर विधि की सप्रमुता अपमाना  
 चाहिये।

भूमि धीर जनसंख्या की मर्दावा  
 हो।

आसित वर्ग शासक बन सके।

राज—दुषि धीर शासकारी।

नागरिक—जीवन काल में सैनिक

प्रोद्गाववा में शासक

दुद्गाववा में पुत्रापी

सम्पत्ति—निधी धीर सार्वजनिक।

इस तरह राज्य का भद्र जीवन धीर  
 बन सकते हैं।

धरतू का यह धार्मिक राज्य  
 व्यावहारिक दृष्टि से सिद्धा क्या है।  
 इसी कारण जनसंख्या धीर भूमि के  
 संबंध में जो सुझाव रखे पाये हैं, वे  
 प्रथम व्यावहारिक हैं।

धरतू संपत्ति धीर दुद्गाव को  
 मनुष्य के विकास के लिये धार्मिक  
 मन्मथा है, इसलिये इनको समाप्त  
 नहीं करता। उसके अनुसार राज्य  
 की एकता विभिन्नता पर आधारित है।

व्यक्ति का विकास दोनों ही एक साथ

( ६ )

### वास्तविक राज्यों की समीक्षा

वास्तविक राज्यों की समीक्षा करने में धरतू ने अपनी टीका दृष्टि  
 प्रसन्नोक्त धीर अनुभव का परिचय दिया है। इस कार्य के लिये उसने १२०  
 सभितानों को एकत्रित किया था। वास्तविक राज्यों की समीक्षा उसकी नई  
 प्रथम रीति का परिचय देती है। वास्तविक राज्यों की समीक्षा में वह राज्यों  
 के परिवर्तन चक्र को देखता है। इन परिवर्तनों के कारण जो होता है धीर यह  
 सुझाव देता है कि किस प्रकार लोगों की परिस्थितियों के अनुसार राज्यों के  
 स्वरूप को परिवर्तित किया जा सकता है। उसके अनुसार शासन तंत्र को देश  
 जन का ध्यान रखना चाहिये। शासन तंत्र सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

इन शासन-तंत्रों की क्रांतियों से बनाने के बहु उपाय भी बताता है। इन उपायों को बनाने में नीतिकलावादी भारत अपने नीतिशास्त्र को एक किनारे रख देता है क्योंकि यदि निरंकुश तंत्र एक शासन है, मने ही बहु बुरा हो तो एक वैज्ञानिक के सिधे उधे भी सुरक्षित करने के उपाय जानना आवश्यक है, चाहे ये उपाय अनैतिक ही क्यों न हों।

वास्तविक शासन-व्यवस्थाएँ भारत के वर्गीकरण के विरुद्ध तंत्र ही हैं। इसलिये इनमें बहु अनतंत्र जनिक तंत्र और निरंकुश-तंत्र की कर्षा करता है। उसके समकामीन नगर राज्यों में अनतंत्र और जनिकतंत्र का ही बोसबासा था।

जनतंत्र—

जनतंत्र बहु शासन है, जिसमें बहु सम्पक गरीब शासन करते हैं। लोकतंत्र का मूल आधार स्वतन्त्रता और समानता है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को शासन में भाग लेने का समान अधिकार रहता है और प्रत्येक अपनी इच्छानुसार जीवन धारण करने के सिधे स्वतंत्र होता है। जिसमें एक व्यक्ति दूसरे को धारण न है उनके इसलिये नागरिक बापी बापी से शासन और शासित वर्ग बनाते हैं। अपने अधिकारी चुनने का सबको समान अधिकार होता है, और निर्वाचकों के सिधे संपत्ति की योग्यता नहीं रखी जाती। जिसमें सबको शासन करने का अवसर मिल सके, इसलिये शासकों की पर-अर्षि धस्तकासीन होती है।

वास्तविक राज्य

सर्विधान हीत काल के अनुकूल  
सापेक्ष होते हैं।

वर्तित्थितियों के अनुसार इनमें  
परिवर्तन होते हैं इसलिये इन्हें स्थायी  
बनाने के उपाय भी जानना आवश्यक।  
जनतंत्र—गरीब बहुतरयक का शासन।

मुख—स्वतंत्रता और समानता।

जनिक तंत्र—सम्पत्ति की योग्यता।

मुख—जन वर्ग सधर्ष।

निरंकुश तंत्र—शासन का स्वार्थ।

मुख—जन।

प्रजातंत्र के ये ससलु मिश्र-मिश्र  
राज्यों में मिश्र-मिश्र धंधों में मिलते  
हैं। इस कारण लोकतंत्र कई रूप ले  
सकता है। भारत पांच प्रकार के  
सोवतंत्र बताता है। रूपकों का लोक-  
तंत्र सर्वोत्तम होता है और उधे लोकतंत्र  
सबसे निम्न। उधे लोकतंत्र में भ्रम  
धीवियों तथा बस्तकारियों में सगे  
सोमों की प्रजातंत्र होती है जो विवा  
सोथ विचारों नागरिकता के नियमों  
को और शासन वर्ग की इच्छानुसार  
बदलते रहते हैं। ऐसे प्रजातंत्र का  
जीवन उच्छ्वल होता है।

## बनिक-तंत्र—

बनिक-तंत्र में नागरिकता की योग्यता सम्पत्ति पर आधारित होती है, इसलिये इस तंत्र में गरीब नागरिक भाग नहीं ले सकते। सामंत तंत्र के भी चार भेद हैं, परन्तु इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है। १—जिसमें भन की प्रधानता हो। २—जिसमें धानुबंधिकता को प्रधानता दी जाती हो। परन्तु ये श्रमिक तंत्र के कुछ बोरों पर भी प्रकाश डाला है। बनिकतंत्र राज्य की सेवा न केवल भन लेकर बरन् अस्वारोही सेना बनाकर करते हैं। परन्तु इसका सबसे बड़ा शोष यह है कि इसमें गरीब और धनीयों के बर्न संघर्ष प्रारंभ हो जाते हैं।

## निरकुत्र तंत्र—

यह शासन का सबसे बिकड़ा रूप है। इसके तीन रूप हो सकते हैं। प्रथम दो रूप तो राजतंत्र से मिलते हैं परन्तु अंतिम रूप स्वेच्छाचारिता का रूप ले लेता है। यह बल पर आधारित होता है और इसमें शासक केवल अपना ही हित देखता है।

( १० )

## नगर-व्यवस्था या मिश्रित राज्य

वास्तविक राज्यों की बर्न करते हुए परन्तु इस विषय पर आता है कि वह कौन सा राज्य है, जो श्रमिक व्यावहारिक है और साथ ही सर्वश्रेष्ठ ? नगर व्यवस्था इस प्रकार का राज्य है, जो प्रशंसित शासन पद्धतियों में जोड़ा बहुत सुधार करके प्राप्त किया जा सकता है। बनिक तंत्र और जन तंत्र दोनों में ही शोष है दोनों में ही बर्न संघर्ष की संभावना होती है। इसलिये राज्य की एकता बनाने में बही तंत्र उत्तम हो सकता है जिसमें लोकतंत्र और सामंत तंत्र का मिश्रण हो। यदि बनिक तंत्र अल्प संख्याक बनिकों का राज्य है और जन तंत्र बहुसंख्याक गरीबों का तो नगर व्यवस्था यह शासन है जिसमें मध्यम बर्न के पास सत्ता होती है, जो न श्रमिक बनी होता है और न श्रमिक गरीब।

मिश्रित राज्य में मध्यम बर्न का प्राधान्य होना चाहिये अर्थात् इनकी संख्या गरीबों और धनीयों की सम्मिश्रित संख्या से अधिक रहे।

नगर-व्यवस्था जनतंत्र और बनिकतंत्र का मेल है। पर व्यवहार में मध्यम बर्न के बाहुल्य के कारण, जिसमें प्रजातंत्र का भाग अधिक होता है, उसे नगर

व्यवस्था का नाम दिया जाता है। जिसमें धनिकतंत्र की महत्ता रहती है, वह कुलीन तंत्र कहलाता है। इसलिये नगर-व्यवस्था जनतंत्र और कुलीन तंत्र के भेद को स्पष्ट करना आवश्यक है। राज्य में हमें अमीर और गरीब के दो वर्ग नहीं मिलते। उसमें हमें तीन तत्व मिलते हैं

- १ स्वतंत्र गरीब नागरिक
- २ धनिक वर्ग
- ३ यष्ट व्यक्तियों का वर्ग

इसलिये कुलीनतंत्र वह है, जिसमें यष्ट व्यक्तियों को स्थान मिलता है और नगर व्यवस्था उस संविधान को कहेंगे जो स्वतंत्रता और जन इन दो तत्वों को ही मांगता देता है।

स्वतंत्रता और जन के इन तत्वों को तीन प्रकार से मिलाया जा सकता है इसलिये नगर व्यवस्था के तीन रूप हैं। पहिला रूप यह है, जिसमें हम पूरे जनतंत्र को पूरे धनिक तंत्र से मिलाते हैं दूसरे में हम जनतंत्र और धनिक तंत्र के बीच का मार्ग घपनाते हैं और तीसरे में जनतंत्र के कुछ तत्वों का धनिक तंत्र के तत्वों से मिश्रण करते हैं। इस तरह नगर व्यवस्था मिश्रित संविधान है। धरस्तू के अनुसार स्पार्टा का संविधान इसका उदाहरण है।

धरस्तू मिलता है 'स्वयं सहाचार मध्यम मार्ग है, मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन अनिर्वाय रूप में यष्ट जीवन है और यह मध्यम मार्ग ही ऐसा है, जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव है।<sup>१</sup> इसलिये मिश्रित संविधान पूर्ण व्यावहारिक संविधान है, जो अधिकतर राज्यों और मनुष्यों द्वारा अपनाया जाता है। मध्यम मार्ग का अनुसरण करने के कारण यह सर्वोत्तम भी है।

राज्यों में मध्यम वर्ग जनबानों और गरीबों के बीच का वर्ग है। मध्यम श्रेणी के लोगों में न तो जनबानों की समिसायावे होती है और न गरीबों की मनुष्यवृत्ति। जनबान केवल शासन करना जानते हैं, गरीब याचित होना। इसलिये धनिक तंत्र और जन तंत्र स्वामियों या दासों के राज्य होते हैं, पूणा या तिरस्कार के राज्य होते हैं इनमें सामाजिकता और मित्रता की भावना नहीं होती। सामाजिकता मित्रता पर अवनवित है इसलिये नगर राज्यों का एक समान और एक प्रवृत्ति के मनुष्यों का समाज होना चाहिये।

<sup>१</sup> धरस्तू, पॉलिटिक्स पुस्तक ४ ११



केवल मध्यम वर्ग ही के लोग ही ऐसा राज्य बना सकते हैं। चूंकि ऐसे राज्य में न तो शासकों के प्रति ईर्ष्या होती है और न शासकों में आसित वर्ग का शोषण की भावना इसलिये इसमें वर्ग संघर्ष नहीं होते और राज्य स्थायी रहता है। चूंकि मध्यम वर्ग सब प्रकार की अधिपत्ती प्रवृत्तियों से मुक्त होता है इसलिये यह बलवत् राजनीति की अपेक्षा सर्वोत्तम विचारधारा का पक्षपाती है।

समकालीन राज्यों में अस्तु नगर व्यवस्था के उदाहरण नहीं पाया क्योंकि इनमें मध्यम वर्ग केवल सीमित संख्या में ही पाया जाता है। अल्प संख्या होने के कारण प्रजातंत्र और बहिष्कृत वर्ग लोगों में ही यह वर्ग शासकों का अधिकार बनाता है। इसी कारण नगर व्यवस्था नहीं हो सकती है, जहाँ धनी और गरीबी सर्वाधिक हों या मध्यम वर्ग ही का बाहुल्य हो।

( ११ )

### क्रान्तियाँ

शासन व्यवस्थाओं के अस्थिर करने के पश्चात् अस्तु राज्यों के पतन और क्रान्तियों के कारणों की विवेचना करता है, साथ ही यह इन क्रान्तियों से बचने के उपाय भी बताता है।

अस्तु में नगर राज्यों में होने वाली क्रान्तियों को वेत्ता या घोर उनकी विवेचना करने के लिये उसके पास पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री थी। उसका विश्लेषण ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है। क्रान्तियों के यह सामान्य और विशिष्ट कारण बताता है। इन क्रान्तियों से बचने के लिए राज्य में स्थायित्व रखने के उपाय भी उपाय बताये हैं, वे व्यावहारिक हैं इसलिये अस्तु में इनमें नैतिक धार्मिक का विचार नहीं रखा। कहीं-कहीं तो इसमें कौटिल्य और मैकिमावली की सजक दिखाई देने लगती है।

साधारणतः क्रान्तियाँ अस्थिरता के कारण होती हैं। क्योंकि नायकों की दान्तरिक इच्छा समान अक्सर और अधिकार पाने की होती है।

पद की असमानता लोगों को उतनी नहीं छतती जितनी पद और सम्मान की। चासक वर्ग संपत्ति धन्य या बसता के कारण पद अधिकार का उपभोग करता है, तो जनता का इनके विरुद्ध होना स्वाभाविक हो जाता है।

क्रान्ति के कारणों को पूर्णतया नहीं मिलाया जा सकता। परन्तु क्रान्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते हैं। कुछ लोगों द्वारा लाभ और सम्मान की अत्यधिक प्राप्ति और दूसरों को अन्याय पूर्वक उनसे वंचित रचना चासकों की पूर्णता महात्माकांक्षी व्यक्तियों का तिरस्कार, कुछ व्यक्तियों का अधिकतम सम्मान राज्य के किसी वर्ग की असंतुलित बुद्धि चुनाव में पर्यन्त और बस बड़ी छोटे-छोटे परिवर्तनों के प्रति असहिष्णुता। इन प्रकार क्रान्तियाँ चासकों के शोष के कारण होती हैं चासितों के शोष के कारण नहीं।

क्रान्ति करने के पश्चात् क्रान्तिकारी लोग कभी पूरी व्यवस्था को बदल सकते हैं या केवल चासनाधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट रह जाते हैं। क्रान्तियों का परिणाम तबों पर भी पड़ता है। क्रान्तियों के पश्चात् जनतंत्र और धनिक तंत्र या तो अधिक उन्नामी हो जाता है या अधिक हसका। कभी-कभी क्रान्तियों का सीमित समय भी होता है, जैसे किसी एक विधेय संस्था या व्यक्ति को समाप्त करना।

अगर धरस्तु ने क्रान्तियों के सामान्य कारण बताये। परन्तु इनके प्रति रिक्त विभिन्न घामनतंत्रों में कुछ विधेय कारण भी होते हैं। जनतंत्र में घामकों की अथ प्रवृत्तियों से दृष्ट होकर धनिक वर्ग जनतंत्र को उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर हो जाता है या कभी-कभी लोकनायक ही निरस्तुत चासक बन बैठता है। धनिकतंत्र का उत्पीड़क घामन प्रजा को विरोध के लिये मड़का देता है। धनिक वर्ग की घामसी पूरा या किसी व्यक्ति की अन्धाकांक्षा भी धनिक तंत्र को समाप्त करती है। बुलीन तंत्र में कुछ लोगों के पास ही शक्ति रहती है इनलिये धन्य महात्माकांक्षी नामों में इ प की भावना जाग्रत होने लगती है। अगर व्यवस्था में यदि जनतंत्र और धनिक तंत्र के तत्त्वों का उचित सम्मिश्रण नहीं होता तो इनमें भी क्रान्ति होती है। क्रान्ति के पश्चात् कोई तंत्र क्या रूप लेना, यह विचार के साथ नहीं कहा जा सकता।

क्रान्ति से बचने के उपाय—

धरस्तु का कहना है कि घामन में स्थायित्व लाने के लिये कुछ सामान्य नीतियों को धरनाना आवश्यक है। यदि घामक जनता के प्रति समझदारी का बर्ताव करें, उनसे अथ संघर्ष बनाव रणें जनता के मन का अग्रहण न करें

केवल मध्यम वर्गी के लोग ही ऐसा राज्य बना सकते हैं। चूंकि ऐसे राज्य में न तो शासकों के प्रति ईर्ष्या होती है और न शासकों में शासित वर्ग के शोचण की सामंजस्य इसलिये इसमें वर्ग संघर्ष नहीं होते और राज्य स्थायी रहता है। चूंकि मध्यम वर्ग सब प्रकार की अधिनामी प्रवृत्तियों से मुक्त होता है इसलिये यह बलभूत राजनीति की प्रयत्ना सर्वोत्तमी विचारवादा का पक्षपाती है।

समकामीन राज्यों में भरतू नगर व्यवस्था के उदाहरण नहीं पाया क्योंकि इनमें मध्यम वर्ग केवल सीमित संख्या में ही पाया जाता है। प्रत्येक होने के कारण प्रजातंत्र और नैतिक तंत्र दोनों में ही यह वर्ग शासकों का अधिकार बतता है। इसी कारण नगर व्यवस्था नहीं हो सकती है, जहाँ प्रजातंत्र और नैतिक नैतिकता ही या मध्यम वर्गी का बाहुल्य हो।

## ( ११ )

### क्रान्तियाँ

शासन व्यवस्थाओं के प्रथम काल के पश्चात् भरतू राज्यों के पतन और क्रान्तियों के कारणों की विवेचना करता है, साथ ही यह इन क्रान्तियों से बचने के उपाय भी बताता है।

भरतू ने नगर राज्यों में होने वाली क्रान्तियों को देखा था और उनकी विवेचना करने के लिये उसके पास परम ऐतिहासिक सामग्री थी। उसका विश्लेषण ऐतिहासिक और नैतिक है। क्रान्तियों के यह सामान्य और विशिष्ट कारण बताता है। इन क्रान्तियों से बचने के और राज्य में स्थायित्व रखने के लिये जो उपाय बताये हैं, वे व्यावहारिक हैं इसलिये भरतू ने इनमें नैतिक नैतिक का विचार नहीं रखा। कहीं-कहीं तो इसमें कौटिल्य और मैकियावेली की कल्पना दिखाई देने लगती है।

साधारणतः क्रान्तियाँ असमानता के कारण होती हैं। क्योंकि नागरिकों की सामाजिक दृष्टि से असमान और अधिकार पाने की होती है।

बन की प्रसमानता लोगों को छतनी नहीं बसती बितनी पर धीर सम्मान की ।  
शासक बर्न संपत्ति बन्म या दसता के कारण जब अधिकार का उपभोग  
करता है, तो जनता का इनके विरुद्ध होना स्वाभाविक हो जाता है ।

क्रान्ति के कारणों को पूर्णतया नहीं मिलाया जा सकता । परन्तु क्रान्ति  
के प्रमुख कारण निम्नलिखित हो सकते हैं । कुछ लोगों द्वारा नाम धीर सम्मान  
की अत्यधिक प्राप्ति धीर दूसरों को अत्याप पूर्वक उनसे अधिक रखना शासकों  
की घृष्टता महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का विरस्कार, कुछ व्यक्तियों का अधिकतम  
सम्मान राज्य क किसी धंग की प्रसंगुसित बुद्धि चुनाव में परम्यन धीर वन  
बंदी, छोटे-छोटे परिवर्तनों के प्रति असह्यपानी । इस प्रकार क्रान्तियां शासकों  
के दोष के कारण होती हैं शासितों के दोष के कारण नहीं ।

क्रान्ति करने के पश्चात् क्रान्तिकारी लोग कभी पूरी व्यवस्था का बदल  
नासते हैं या केवल शासनाधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट रह जाते हैं । क्रान्तियों  
का परिणाम तंत्रों पर भी पड़ता है । क्रान्तियों के पश्चात् जनतंत्र धीर धनिक  
तंत्र या तो अधिक उपनामी हो जाता है या अधिक हलना । कभी-कभी क्रान्तियों  
का सीमित समय भी होता है, जैसे किसी एक विशेष संस्था या व्यक्ति को  
समाप्त करना ।

ऊपर धरतू ने क्रान्तियों के सामान्य कारण बताये । परन्तु इनके प्रति  
रिक्त विभिन्न शासनतंत्रों में कुछ विशेष कारण भी होते हैं । अनतंत्र में शासकों  
की उप प्रवृत्तियों से दृष्ट होकर धनिक धर्म जनतंत्र को उखाड़ फेंकने के लिये  
तत्पर हो जाता है या कभी-कभी लोकनायक ही निरकुच शासक बन बैठता है ।  
धनिकतंत्र का उत्पीड़क शासन प्रजा को विरोह के लिये मड़का देता है । धनिक  
धर्म की प्रापसी घृष्ट या किसी व्यक्ति की अत्याकांक्षा भी धनिक तंत्र को समाप्त  
करती है । दुर्भाग्य तंत्र में कुछ लोगों के पास ही शक्ति रहती है, इसलिये अन्य  
महत्वाकांक्षी लोगों में इस की भावना जागृत होने लगती है । तब व्यवस्था  
में धनिक जनतंत्र धीर धनिक तंत्र के तत्त्वों का अधिक सम्मिलन नहीं होता,  
तो इनमें भी क्रान्ति होती है । क्रान्ति के पश्चात् कोई तंत्र क्या रूप लेगा,  
यह विरबास के साथ नहीं कहा जा सकता ।

क्रान्ति से बचने के उपाय—

धरतू का कहना है कि शासन में स्वास्थि खाने के लिये कुछ सामान्य  
नीतियां को प्रनाता यावत्यक है । यदि शासक जनता के प्रति समन्वयता का  
वर्ताव करें, उनके अध्ये सबध बंधाये रहें जनता के मन का अग्रहण न करें,



का प्रयोग करने को कहा है, वे पूर्ण धार्मिक हैं। इसमें संदेह नहीं कि धरस्तू सदाचारनिष्ठ जीवन की प्रतिष्ठा करना ही चाहता है। यदि उसने निहट्ट पंडितियों के स्थापित क उपाय बतलाये हैं तो केवल वैज्ञानिक होने के नाते धार्मिक हल के नाते नहीं। वैज्ञानिक प्रगती वस्तु की बिबेचना में उचित अनुचित का भ्रान नहीं रहता।

(१२)

### धरस्तू की बेन

राजनीति दर्शन के इतिहास में धरस्तू का महत्वपूर्ण स्थान है। यह राज नीति शास्त्र का प्रथम वैज्ञानिक है। राजनीति शास्त्र और नीतिशास्त्र में उसने प्रथम प्रथम अध्ययन रीतियों का प्रयोग कर राजनीति शास्त्र को नीति शास्त्र से अलग करने का प्रयत्न किया है। प्राचिनिक कास के तुलनात्मक ऐतिहासिक प्रबलोजन और नियमन पद्धति का अनेक धरस्तू ही है। विभिन्न संविधानों का संग्रह कर उनके बिस्लेषण करने का प्रयत्न करने वालों में वह सर्वप्रथम है। वैज्ञानिक होने के नाते वह प्रत्येक शासनतंत्र को भले ही वह निरंकुशतंत्र क्यों न हो कटस्थ होकर अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

इसमें संदेह नहीं कि धरस्तू अपने बिचारों के लिय जेठो का बहुत श्रेणी है। विभिन्न सरकार की कारण उसने जेठो से ही भी जो। राज्य को वह भी वैधिका संस्था मानता है और सदाचार निष्ठ जीवन को ब्यक्ति का एकमात्र उद्देश्य। वह भी जेठो की भांति राज्य को वर्ग संबंध से बचाने और जनम एकता स्थापित करने के लिये जन्मक या। परन्तु जेठो से प्रभावित होते हुए भी उसके बिचार अपने निजी बिचार हैं। उसने अपने मत की पुष्टि अनुभवों और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर की है। उसने जेठो की तुलना में राज्य के स्वरूप को अधिक प्रबली तरह समझा है, क्योंकि वह राज्य की ब्यवस्था को कौटुम्बिक ब्यवस्था से भिन्न मानता है। जेठो धर्म की कारण द्वारा क्यों को प्रथम प्रथम करता है। धरस्तू भिन्नता प्राकल्पक समझता है पर इस भिन्नता में एकता स्थापित करने की चेष्टा करता है।

धरस्तू को मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक बिचारों में इज्जत अधिक परिचर्जन थाया कि धरस्तू के साथ ही उसके बिचारों का जम भी उजान हो जाता है

धीरे नये राजनीतिक चरण का सम्बुद्ध होता है। भरतू की मृत्यु के समय एक हजार वर्ष बाद उसकी पुस्तकों का प्रचार फिर प्रारंभ हुआ। मध्य युग में भरतू ही एकमात्र राजनीतिक दार्शनिक माना जाता था। भरतू ने बिबि के शासन को महत्ता दी थी। यह सिद्धान्त मध्ययुगीन संस्थाओं में धीरे कीसिल मान्योक्तों में पूर्ण रूप से पाया जाता है। आज के इंग्लैंड में धी बिबि का राज्य है। इसलिये बार्कर सिद्धता है कि भरतू की राजनीतिक दर्शन को जो सबसे बड़ी देन है, वह है संवैधानिकता।

---

## कौटिल्य

- |  |                             |
|--|-----------------------------|
| ( १ ) धर्मशास्त्र की परम्परा ।             | ( २ ) धर्म्ययन रीति ।       |
| ( ३ ) राज्य का स्वरूप और सुनांग सिद्धांत । | ( ४ ) स्वामी ।              |
| ( ५ ) धर्मार्थ और धन्य प्रकृतियाँ ।        | ( ६ ) अन्तर्राज्य सम्बन्ध । |
| ( ७ ) देश की सुरक्षा ।                     | ( ८ ) कौटिल्य की देन ।      |

( १ )

### धर्मशास्त्र की परम्परा

धर्मशास्त्र की मूल्य ३२२ ई० पू० में हुई। इसी वर्ष के अश्वमेध यज्ञ का समाप्त-काल प्रारम्भ होता है। अश्वमेध का राजमुद्र विष्णुगुप्त या कौटिल्य इन्हीं दिनों अपना धर्मशास्त्र नामक ग्रन्थ लिख रहा होगा। कौटिल्य आदि पश्चिमी विद्वान् धर्मशास्त्र का तीव्ररी इसी की वृत्ति मानते हैं। श्री अण्डीकर न इसे इसी की प्रथम उदाहरी का ग्रन्थ मानता है। परन्तु डा० राम शास्त्री और बाणीप्रसाद जीतवान इन दोनों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार प्रस्तुत धर्मशास्त्र बही धर्मशास्त्र है, जिसे प्रधान मंत्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पद-प्रस्ताव हेतु लिखा था। धर्मशास्त्र का रचना-काल धर्मो भी विवादास्पद है। एश्वमेध करण के समयक दृष्टी से कुछ धर्मशास्त्र को देगा या बहु समयों में या और उस समय उसमें ही महत्त्व द्योतक है। जो धर्मशास्त्र हमें मिलता है, उसमें यद्यपि यह द्योतक है कि इस धर्मशास्त्र में ही महत्त्व द्योतक है।



परन्तु इनकी सख्या ही हजार से कम है और इसमें कुछ ही स्तोक बोलों मिलते हैं। यह ही उक्त है कि जो धर्मशास्त्र हमें प्राप्त है, वह कौटिल्य के ही धर्मशास्त्र का नवीन संस्करण ही।

धर्मशास्त्र की परिभाषा—

धर्मशास्त्र प्राथमिक धर्मशास्त्र का पर्यवर्तनी नहीं है। इसमें धर्मशास्त्र और राजनीतिशास्त्र बोलों का समिश्रण है। कौटिल्य ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग मनुष्य की नीतिका (धृति) के लिये किया है 'मनुष्याणां धृतिरर्थः। मनुष्य वासी भूमि को ही उन्होंने धर्म माना है। इसलिये धर्मशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें मनुष्यों वासी भूमि के नाम और उसके निवासियों के पालन-पोषण के उपायों का वर्णन किया गया हो।<sup>१</sup> इस परिभाषा से धर्मशास्त्र केवल प्राथमिक धर्मशास्त्र मान्य होता है। परन्तु धर्मशास्त्र के पढ़ने से हमें यह मान्य होता है कि कौटिल्य ने धर्मशास्त्र के अर्थ को केवल वस्तु या सम्पत्ति के उत्पादन उपभोग विनिमय और वितरण तक ही सीमित नहीं रखा है। वह भूमि के प्राप्त करने के उपाय बताता है, जगत् में मुख्यवस्था स्थापित करने की चर्चा करता

कौटिल्यीय-धर्मशास्त्रम्

रचना काल—

कौच—तीसरी सताब्दी ई०

संसारकर—प्रथम सताब्दी ई०

शाम शास्त्री अक्षयलाल—४ वी

घ० ई० ५

विषय—धर्म (धृति)—भूमि प्राप्त करना व उसे सुरक्षित रखना।

इसलिये धर्मशास्त्र और लोक प्रशासन (राज्य शास्त्र)

ही और धर्म और धृतिपूर्वक धर्म के उपायों के नियमों का वर्णन किया गया हो वह धर्मशास्त्र कहलाता है।

१ तत्त्वाः धृतिभ्यां सामपातलोपामः शास्त्रधर्मशास्त्रमिति ॥ धर्म० १२ घ० १ पा० ३

धर्मशास्त्र और राज्य-शास्त्र—

राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से धर्मशास्त्र का क्षेत्र केवल नई मूमि को प्राप्त करना और राज्य में शान्ति-स्थवस्था रखने तक ही है। इसलिये धर्मशास्त्र केवल या मुख्यतया प्रशासन से सम्बन्ध रखता है। इसमें राज्य के स्वरूप उद्देश्य, शासन का ऋणोकरण आदि विषयों को बर्चा मील है। इस प्रकार कौटिल्य क धर्मशास्त्र का विषय मूलानी विचारकों के राज्य शास्त्र से मिश्र था। जेटो और धरन्नु प्रशासन की सतनी बर्चा महीं करने जितनी राज्य के स्वरूप और उसके उद्देश्य की। इसलिये जहाँ शीघ्र का राजदरसन नैदानिक और नैतिकतावासी है, वहाँ कौटिल्य का धर्मशास्त्र धार्मिक व्यावहारिक है। शीघ्र के राज्य-शास्त्र और कौटिल्य के धर्मशास्त्र की मिश्रता हम कौटिल्य के धर्मशास्त्र की विषय वस्तु देखकर बता सकते हैं। कौटिल्य शासन के प्रमुख धर्म राजा मग्नी दूत कोष कुर्ग पुर आदि की बर्चा करता है, जो राज्य में शान्ति-स्थवस्था के लिये आवश्यक हैं। साथ ही इसमें धन्तराज्य के सम्बन्ध की बर्चा है, जिसका सफल नई मूमि की प्राप्ति और बाह्य शाक्रमण से मूमि की सुरक्षा है। पुस्तक का मूल विषय राजतन्त्र ही है, जो कि इसमें कुछ अध्यायों में लोकतन्त्र की बर्चा भी की गई है। धर्म अध्याय राज्य की धार्मिक नीति और राज्य-नियंत्रित उद्योगों के संयोजन में सम्बन्धित हैं। इसमें हमें विभिन्न राजकीय विभागों का ऋणोकरण संयोजन और विभिन्न पक्षों पर काम करने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति, उनके कार्य और अधिकारों का बलुन प्रमुख रूप से मिलता है। राज बंद की बर्चा नैदानिक रूप में नहीं बरन राजपर के क्या कार्य हैं तथा राजा को कैसे सुरक्षित रखना चाहिए राज्य के उत्तराधिकार नियम क्या हैं आदि विषयों पर की गई हैं। यही बात राज्य के धर्म ८८ धर्मों के विषय में भी बरी जा सकती है। ये सब विषय धार्मिक काल में हम लोक प्रशासन का (Public Administration) क धन्तरगत रखते हैं राज्य शास्त्र के धन्तरगत नहीं। इसलिये यह कहना धार्मिक उदयुक्त होना कि कौटिल्य का धर्म शास्त्र मुख्यतया लोक प्रशासन से सम्बन्धित है राज्य शास्त्र से नहीं।

धर्मशास्त्र और राजधर्म—

इस बात की पुष्टि हम धर्मशास्त्र धर्म की राजधर्म के साथ विवेचना करके कर सकते हैं। स्मृति और धर्म मूर्तों में बार्तों बर्तों के धर्मों की बर्चा के धन्तर दंत राजधर्म की भी बर्चा हुई है। इस प्रकार राजधर्म की राजनीति का एक धर्म है। परन्तु राजधर्म में और धर्मशास्त्र में बड़ा धन्तर है। राजधर्म में केवल

राजाओं के धर्म की चर्चा है, जबकि धर्मशास्त्र भूमि या राज्य से संबंधित है, और स्वयं और अन्य राज्यों की चर्चा करता है। इसलिये राज-धर्म की अपेक्षा धर्मशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है और वह नीति से नहीं बल्कि लोक प्रशासन से संबंध रखता है। राजधर्म मनुष्य के धर्मों का एक भाग है, जो वैदिक धर्म पर आधारित है। इसलिये राजधर्म का स्रोत धर्म है। धर्मशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है, जो समाज का अध्ययन करने वाले व्यक्तियों द्वारा मिलता गया है। इसलिये मातृवत्त्वय धर्मशास्त्र को बिद्या कहता है, धर्म नहीं। याज्ञवल्क्य और अश्विनि स्मृतिकार यद्यपि धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों को राज्य के नियमों का स्रोत मानते हैं, परन्तु यदि इन दोनों स्रोतों में कोई विरोध होता है, तो स्मृतिकार धर्मशास्त्र को अधिक प्रमाणित मानते हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि वहाँ धर्म शास्त्र 'सेकुलर' (Secular) है, वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक है। वहाँ धर्मशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है, वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक

| धर्मशास्त्र                             | राजधर्म                                   |   |
|---|---|---|
| (१) व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित— बिद्या। | (१) स्मृति व धर्मसूत्रों पर आधारित— धर्म। | का स्रोत मानते हैं, परन्तु यदि इन दोनों स्रोतों में कोई विरोध होता है, तो स्मृतिकार धर्मशास्त्र को अधिक प्रमाणित मानते हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि वहाँ धर्म |
| (२) केशरीय विषय— भूमि।                  | (२) केशरीय विषय— राजा का धर्म।            | शास्त्र 'सेकुलर' (Secular) है, वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक है। वहाँ धर्मशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है,  |
| (३) व्यावहारिक राज नीति से सम्बन्धित।   | (३) धार्मिक लोक विधियों से सम्बन्धित।     | वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक है। वहाँ धर्मशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है,   |
| (४) धार्मिक साधनों का समावेश।           | (४) केवल नीति का समावेश।                  | वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक है। वहाँ धर्मशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है,   |

और लोक विधियों से संबंध रखता है। राज-धर्म राजाओं के कर्तव्य को बताता है, इसलिये यह नीति से संबंधित है। धर्मशास्त्र राज्य की सुरक्षा और उत्थिति से संबंधित है, इसलिये इसमें राजाओं के कर्तव्यों का विवेचन राज्य के हित को देखते हुए किया गया है और राजाओं को राज्य के हित में धार्मिक धर्म तक करने की सूझ दी गई है।

भारतीय शास्त्रकार राजशास्त्र के सिद्ध राजनीति का भी प्रयोग करते हैं। परन्तु राजनीति का क्षेत्र धर्मशास्त्र से सीमित है क्योंकि इसमें केवल शासक के हित और उसके प्रयोग की ही चर्चा मिलती है।

कोटिस्वय ने अपने पुस्तक का नाम धर्मशास्त्र क्यों रखा ?—

भारतीय राज्य शास्त्र के लिये चार धर्मों का प्रयोग हुआ है। राजधर्म

दंडनीति धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र । कौटिल्य ने नी धरने धर्मशास्त्र में दंड नीति शास्त्र का प्रयोग किया है और गुण्ड ने नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र और दंडनीति शास्त्रों का प्रयोग किया है, जिससे मान्य होता है कि ये दण्ड पर्यायवाची है । विद्याओं का सर्वोत्कर्ण करने समय कौटिल्य ने धार्मिकता की सभी शक्तों और दंडनीति का विद्याओं विद्या है । इसमें धर्मशास्त्र नामक विद्या की शक्ति नहीं है । तब कौटिल्य ने धरनी पुस्तक का नाम धर्मशास्त्र क्यों रखा ? दंडनीति दंड के विद्याओं या सरकार से संबंधित है, जब कि धर्मशास्त्र धर्म या भूमि की प्राप्ति में संबंधित है । शक्ति इति पदुशासन और धरनीय से संबंधित है । कौटिल्य ने धरनी पुस्तक में भूमि की सुरक्षित करने और भूमि क विस्तार बढ़ाने की शक्ति की है । इननिय दंडनीति का धर्म नीमित्त हान क कारण 'दंड नीति शास्त्र' नाम पुस्तक क विषय को छोड़ टीक व्यक्त नहीं करता । शक्ति शास्त्र धरने क्षेत्र में बल ही व्यापक है । कौटिल्य ने धरनी पुस्तक में कुछ शक्ति क विषय और कुछ दंडनीति क विषय दोनों की शक्ति की है । भूमि की सुरक्षित करने या उसका विस्तार करने के नियम हम परिपूर्ण कोष और गुण्ड केना की धर्मशास्त्रा द्वारा या धर्म शक्ति द्वारा विषय संबंधित है । इतिनिये कौटिल्य का धर्मशास्त्र पूर्ण दंडनीति और शक्ति क कुछ धर्मों से संबंधित है शक्ति के संबंध उन धार्मिक विषयों में धरनीय शक्ति पर प्रभाव पड़ता है । कौटिल्य की पुस्तक के २ ३ और ४ से धर्मशास्त्र धार्मिक विषयों से ही संबंधित है ।

गुण्ड क नीतिशास्त्र का विषय कौटिल्य क धर्मशास्त्र से भी व्यापक है । नीतिशास्त्र में गुण्ड न सामाजिक धरन और समाज शास्त्र का अध्ययन किया है । नीतिशास्त्र का ही धर्म होता है

धर्मशास्त्र भूमि से सम्बंधित होने के कारण दंडनीति और शक्ति के कुछ विषयों का अध्ययन करता है ।

नीतिशास्त्र पूरी सामाजिक नीति से सम्बंधित होने के कारण धार्मिक विद्या है ।

सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उन नीतियों को बताना जिन्हें मनुष्य को धरनीय चाहिए । इतिनिये नीति शास्त्र मानव समाज की सुरक्षित करने की विद्या है । यह मनुष्यों के पूरे सामाजिक जीवन में संबंधित है । इननिये नीतिशास्त्र दण्ड शक्ति की धर्मशास्त्र और सामाजिक नित्यता से संबंधित हान के कारण धर्मशास्त्र की

गुण्डा में धार्मिक व्यापक है । कौटिल्य ने सामाजिक धरनीय और धर्मशास्त्र

राजाओं के बर्न की बर्ना है जबकि धर्मशास्त्र मुमि या राज्य से संबंधित है, और स्वस्थ और इच्छु राज्यों की बर्ना करता है। इसलिये राज-बर्न की अपेक्षा धर्मशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है और यह नीति से नहीं बल्कि लोक प्रशासन से संबंध रखता है। राजबर्न मनुष्य के बर्नों का एक भाग है, जो वैदिक बर्न पर आधारित है। इसलिये राजबर्न का श्रोत धर्म है। धर्मशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है, जो समाज का सम्भयम करने वाले व्यक्तियों द्वारा सिखा गया है। इसलिये याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र को विद्या कहता है, धर्म नहीं। याज्ञवल्क्य और अन्तिम स्मृतिकार यद्यपि धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों को राज्य के नियमों का श्रोत मानते हैं, परन्तु

| धर्मशास्त्र                            | राजबर्न                                  |   |
|--|--|---|
| (१) व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित—विद्या। | (१) स्मृति व धर्मसूत्रों पर आधारित—धर्म। | यदि इन दोनों श्रोतों में कोई विरोध होता है, तो स्मृतिकार धर्मशास्त्र को अधिक प्रमाणित मानते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि वहाँ धर्म शास्त्र 'सेक्युर' (Secu-lar) है, वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक है। वहाँ धर्मशास्त्र व्यावहारिक राजनीति से संबंधित है, वहाँ धर्मशास्त्र धार्मिक और लोक विधियों से संबंधित है। |
| (२) केन्द्रीय विषय—मुमि।               | (२) केन्द्रीय विषय—राजा का धर्म।         |   |
| (३) व्यावहारिक राज नीति से सम्बन्धित।  | (३) धार्मिक लोक विधियों से सम्बन्धित।    |   |
| (४) धार्मिक शास्त्रों का समावेश।       | (४) केवल नीति का समावेश।                 |   |

और लोक विधियों से संबंध रखता है। राज-बर्न राजाओं के कर्तव्य की बटाता है, इसलिये यह नीति से संबंधित है। धर्मशास्त्र राज्य की सुरक्षा और सन्तति से संबंधित है, इसलिये इसमें राजाओं के कर्तव्यों का विवेचन राज्य के हित को देखते हुए किया गया है और राजाओं को राज्य के हित में धार्मिक कर्म तक करने की छूट दी गई है।

भारतीय शास्त्रकार राजशास्त्र के लिये राजनीति का भी प्रयोग करते हैं। परन्तु राजनीति का क्षेत्र धर्मशास्त्र से सीमित है, क्योंकि इसमें केवल शासक के बर्न और उसके प्रयोग की ही बर्ना मिलती है।

कोटिच्य के धर्मनी पुस्तक का नाम धर्मशास्त्र क्यों रखा ?—

भारतीय राज्य शास्त्र के लिये चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। राजधर्म

दंडनीति धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र । कौटिल्य ने भी अपने धर्मशास्त्र में दंड नीति शब्द का प्रयोग किया है और शुक्र ने नीतिशास्त्र धर्मशास्त्र और दंडनीति शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे मामूम होता है कि ये शब्द पर्यायवाची हैं । विद्याओं का वर्गीकरण करते समय कौटिल्य ने धार्मिककी तृतीयांश और दंडनीति चार विद्याओं में गिनाई है । इसमें धर्मशास्त्र नामक विद्या को नहीं है । तब कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम धर्मशास्त्र क्यों रखा ? दंडनीति दंड क शिवालय या सरकार से संबंधित है, जब कि धर्मशास्त्र धर्म या भूमि की प्राप्ति से संबंधित है । बाताई इति पशुपालन और व्यापार से संबंधित है । कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में भूमि को सुरक्षित करने और भूमि क विस्तार बढ़ाने की चर्चा की है । इसलिये दंडनीति का शब्द सीमित होने के कारण 'दंड नीति शास्त्र' नाम पुस्तक के विषय का ठीक ठीक व्यक्त नहीं करता । बाताई शब्द अपने क्षेत्र में बहुत ही व्यापक है । कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में कुछ बाताई के विषय और कुछ दंडनीति के विषय दोनों की चर्चा की है । भूमि को सुरक्षित करने या उसका विस्तार करने क लिये हमें परिपूर्ण ज्ञेय और बुद्धि सेना की आवश्यकता होती है । केवल बाताई द्वारा मिल सकती है । इमीनिय कौटिल्य का धर्मशास्त्र पूर्ण दंडनीति और बाताई क कुछ धर्मों से संबंधित है, बाताई के केवल उन प्राथमिक विषयों में जिनका राजनीति पर प्रभाव पड़ता है । कौटिल्य की पुस्तक के २ ३ और ४ के प्राथमिक प्राथमिक विषयों में ही संबंधित है ।

शुक्र के नीतिशास्त्र का विषय कौटिल्य क धर्मशास्त्र से भी व्यापक है । नीतिशास्त्र में शुक्र ने सामाजिक वर्तन और समाज शास्त्र का अध्ययन किया है । नीतिशास्त्र का ही धर्म होता है

धर्मशास्त्र भूमि से सम्बन्धित होने के कारण दंडनीति और बाताई के कुछ विषयों का अध्ययन करता है ।

नीतिशास्त्र दुरी सामाजिक नीति से सम्बन्धित होने के कारण प्राथमिक विस्तृत है ।

शुक्रना में प्राथमिक व्यापक है । कौटिल्य ने सामाजिक व्यवहार और नीतिशास्त्र

सामाजिक प्राथमिक और राजनीतिक धर्मों में उन नीतियों को बताना सिद्ध मनुष्य को पतनाया चाहिए । इमीनिय नीति शास्त्र मानव समाज को सुरक्षित रखने की विद्या है । यह मनुष्यों के पूरे सामाजिक जीवन में संबंधित है । इमीनिय नीतिशास्त्र शब्द राजनीति धर्मशास्त्र और सामाजिक नीतिशास्त्र से संबंधित होने क कारण धर्मशास्त्र की

का उल्लेख अपनी पुस्तक में नहीं किया है, इसी कारण उसने अपनी पुस्तक का नाम धर्मशास्त्र रखा है नीतिशास्त्र नहीं।

(२)

### कौटिल्य की धर्मयत्न रीति

कौटिल्य के पहिले धर्मक धर्मशास्त्रों की रचना हो चुकी थी। कौटिल्य का कहना है कि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र की रचना प्राचीन धर्मशास्त्रों के सार को संग्रहीत करके की है।<sup>१</sup> अपनी पुस्तक में कौटिल्य मनु, बृहस्पति उषान् और पाण्डुर क मठों को उद्धृत करता है। भारद्वाज विशाखा पिप्लु वातस्याभि कौलपवन्त मेखकों के नाम भी इसमें पाये हैं। ऐसा मान्य होता है कि इन प्राचीन मेखकों ने भी धर्मशास्त्र में केन्द्रीय और स्थानीय प्रशासन

धनुमन पर आधारित इतिहास का प्रयोग केवल मठों की पुष्टि के लिये किया है—

क्या कौटिल्याय धर्मशास्त्रम्, मनु, बृहस्पति बभान् पारतर भारद्वाज विशाखाप् पिप्लु वात स्याभि कौलपवन्त के विचारों का संग्रहनाम है ?

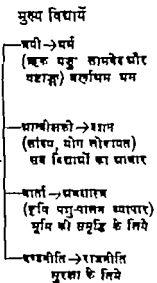
पूर्व के सारे धर्मशास्त्र लुप्त हो गये हैं। परन्तु कौटिल्य की प्रतिभा को देखते हुए यह भी निश्चय नहीं होता कि उसने प्राचीन मेखकों के विचारों को ही संग्रहीत किया है।

कौटिल्य महान सम्राट अशोक की राजनीति का राजमुद्र और प्रधान-मंत्री था। वह विद्वान और चतुर था। परंपराओं के अनुसार नंद वंश का नाश करने और अशोक के साम्राज्य को स्थापित करने में उसी का ही हाथ था। कौटिल्य की राजनीति का व्यापक और व्यावहारिक अनुभव था। इसलिये यदि उसने प्राचीन

<sup>१</sup> बुधिया नामे पातने च पावत्यर्षे शास्त्राणि पूर्वोक्तैः प्रस्थापितानि प्रायश्चित्तानि संहर्यैवनिबन्धनं शास्त्रं कृतम् ।

सर्वसाक्षिणों के विचारों को दिया भी है। तो उन्हें केवल अपने अनुभव की कसौटी पर नजर। अर्थ-शास्त्र का विभिन्न विज्ञानों से क्या संबंध है, इसकी कौटिल्य द्वारा की गई विवेचना से इस रूप की पुष्टि होती है। प्राचीन सिद्धकों के अनुसार प्रमुख विचारों चार हैं। यही आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति। कौटिल्य के अनुसार यही में तीन वेद एक यज्ञ और साम और उसके पढ़ांग होते हैं। आन्वीक्षिकी में सांख्य, योग और मोक्षायत (सांसारिक दर्शन) दर्शन होते हैं। वार्ता हवि, अनुपासन और व्यापार के संबंधित है और दण्डनीति दंड से। संक्षेप में 'यही धर्म', 'आन्वीक्षिकी दर्शन', 'वार्ता' अर्थशास्त्र और 'दण्डनीति' राज्यशास्त्र के लिये प्रयुक्त हुए हैं। मनु आन्वीक्षिकी को यही के अन्तर्गत मानता है (जिसका अर्थ यह हुआ कि निरौत्तरवादी सांख्य और श्रौतिकवादी मोक्षायत दर्शन आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत न रहेंगे)। इस प्रकार मनु के अनुसार केवल तीन ही विचारों हैं। बृहस्पति वार्ता और दण्डनीति को ही मुख्य विचारों मानता है। मुक्त के अनुसार दण्डनीति ही अध्ययन करने योग्य केवल एक ही विद्या है। कौटिल्य इन विचारधारारणों की जो आलोचना करता है, उसमें उनकी प्रतिभा और विचारशीलता मान्य होती है। वह चार विचारों मानता है और सिद्ध करता है कि किम तरह मनुष्य और उसके राज्य के लिये इन चारों की ही आवश्यकता है। आन्वीक्षिकी या दर्शन सब विचारों का आधार है। वह मुन और बुन में मस्तिष्क का संतुलित रहता है। इसलिये यह संसार के लिये सबसे सामान्य विद्या है।<sup>१</sup> यही अर्थप्रिय धर्म की अर्था करनी

कौटिल्यानुसार विचार



मनु → यही, वार्ता, दण्डनीति  
 बृहस्पति — वार्ता, दण्डनीति  
 मुक्त — दण्डनीति

१ प्रसिद्ध 'सर्वविद्यानामुपाय' मंत्र अर्थशास्त्र आध्याय 'सर्वविद्यानां पारशरणीयैः यदा। यदा १ य० २ अंतिम सूत्र।



है, जिसके द्वारा मनुष्य को स्वर्ग और समृद्धि की प्राप्ति होती है। राजा को नवी का ज्ञान आवश्यक है, जिसमें वह लोगों को बखर्चियम नर्म मानने को बाध्य कर सके। नार्ता का ज्ञान कोय और सेना के लिये आवश्यक है इसी के द्वारा राजा अपने और धनु के पल पर नियंत्रण रख सकता है। बंड मुरसा के लिये आवश्यक है और इसी के द्वारा संसार की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये राजा के लिये नार्ता और बहमीति का ज्ञान भी आवश्यक है।

कौटिल्य ने बड़े वर्कपूर्ण इन से परंपरागत धार विचारों के समय को स्पष्ट किया है और इन धारों को मनुष्य के लिये आवश्यक बताया है। इसीलिये मान्य होता है कि अपने केवल अपने पूर्व लेखकों के विचारों को संघटीत ही नहीं किया बरन् अपनी सीध्ण हृदि और व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा उनके विचारों को स्पष्ट और अधिक वर्कपूर्ण बना दिया है।

कौटिल्य ने अपने मत की पुष्टि करने के लिये इतिहास का भी प्रयोग किया है। परन्तु हम इसे ऐतिहासिक पद्धति नहीं कह सकते क्योंकि ऐतिहासिक पद्धतियों की नर्चा पूर्व निमित्त सिद्धांतों की पुष्टि के लिये की गई है, नये सिद्धांतों को बनाने के लिये नहीं। इसलिये उसकी रीति शार्धनिक अधिक है, ऐतिहासिक कम।

कौटिल्य का अनुभव व्यापक था इसलिये उसका धर्मशास्त्र प्राचीन धर्म शास्त्रों से अधिक व्यापक है। उसके परभाव भी कई लेखकों ने धर्मशास्त्रों की रचना की परन्तु वे इतने महत्वपूर्ण और मोक्षप्रिय न हो सके जितना कौटिल्यीय धर्मशास्त्र।

( ३ )

### राज्य का स्वरूप

हम ऊपर बता आए हैं कि कौटिल्य का धर्मशास्त्र धातन की कला या लोक प्रशासन से सम्बन्धित है—राज्य-शासन से नहीं। इसलिये हमें इसमें राज्य के स्वरूप या राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत की नर्चा को ढूँढना ध्यर्ष है। फिर भी कुछ भारतीय लेखकों ने कौटिल्य के धर्मशास्त्र में सामाजिक अनुबन्धनाद और ताबयबी सिद्धांत पाया है। इसलिये हम राज्य के स्वरूप में इन दो सिद्धांतों की नर्चा कर देना चाहते हैं जिससे यह अधिक स्पष्ट हो जायेगा कि धर्मशास्त्र राज्य-शासन से नहीं लोक-प्रशासन से सम्बन्धित है।

पहिनी पुस्तक के शुरुआत में एक गुणधर यह कहता है कि प्रारम्भ में राज्य नहीं थे लोगों में अराजकता थी और मानस म्याम प्रपन्नित या इसलिये लोगों ने ईश्वर मनु को अपना राजा निर्वाचित किया और धर्म का पशुधर और बस्तुओं का बरमाय देना निश्चित किया इसके बदले में राजा ने प्रजा के धर्म धर्म का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और उच्च उचित दण्ड व्यवस्था का आयोजन किया। राजा में पुरस्कार देने का अधिकार और दण्ड देने का भी यम दोनों के गुण हैं 'राजा की जो व्यवहारा करते हैं, वे ईश्वर दण्ड के भागी होते हैं।' इस कथन में गुणधर का उद्देश्य राजा के विरोधियों को ईश्वर दण्ड का भय दिखाकर विरोधियों को दान्त करना था। इसमें कीटिस्य राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं बताता और न सामाजिक अनुसंधान की चर्चा करता है। यह राजा के उग्र शासन की चर्चा करता है जिससे शान्ति व्यवस्था बनाई जा सकती है।

- सब बात तो यह है कि कीटिस्य राज्य को प्राकृतिक मस्था मानता है। इसलिये यह विचार कि राज्य मनुष्य के मजिहा पर आधारित है और प्राचीन काल में राज्य नहीं थे उनके विचारों के अनुसूत नहीं। कीटिस्य बर्णाधम व्यवस्था को सनातन मानता है, जो मनुष्यों के जन्म से ही प्रारम्भ हो गई थी। बर्णाधम व्यवस्था केवल राजा द्वारा कायम रखी जा सकती है क्योंकि वह के भय से ही लोग अपने अपने धर्म को पालने के लिये बाध्य बिये पाते हैं।' इसलिये राज्य प्राकृतिक है और प्रारम्भिक काल से ही रहा होगा। इस कारण कीटिस्य न सामाजिक समझौते को योजना व्यर्थ है।

यही बात राज्य के माधवरी सिद्धान्त के विषय में कही जा सकती है। कीटिस्य ने राज्य को नतप्रतिमुक्त माना है। य मात प्रकृतियों स्वामी समाय अन्तर दुर्ग लोग दण्ड और मित है। कीटिस्य ने राज्य की प्रकृतियों को राज्य के प्रवचन अन्तर संबोधित भी किया है। समाय का सिद्धान्त हमें



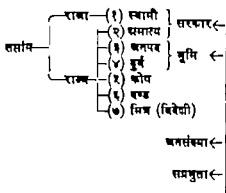
सैकुलर (Secular) हो सका है, क्योंकि स्मृतिकारों और देवों ने राजा के पुरोहित को व्यावहारिक राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदत्त किया था पर पुरोहित को राज्य के सत्ता में स्थान न मिलने से उसका महत्त्व क्रमशः कम होता गया। इसी कारण कौटिल्य के प्रशासन में पुरोहित के पर की चर्चा बहुत कम है।

कौटिल्य ने भारतीय परम्परागत सत्ताम सिद्धान्त को अपनाया प्रकृत है पर उसमें अपना एक विशेष योग दिया है। शाठ्ये अधिकरण के दूसरे अध्याय में यह लिखता है, "राजा राज्यमिति प्रकृति संशय" अर्थात् संशय में राज्य की केवल वो ही प्रकृति (धर्म) है—राजा और राज्य, इस प्रकार इन सात प्रकृतियों में यह राजा को प्रमुख स्थान देता है, और राज्य के अन्तर्गत अन्य सभी प्रकृतियों को रखता है।

शाक्यमी सिद्धान्त के अनुसार यह ठीक है। क्योंकि राजा यदि मस्तिष्क है तो उसका सर्वोच्च स्थान होना आवश्यक ही है। इन सात प्रकृतियों में राजा का महत्त्व इससे और स्पष्ट हो जाता है कि साम-सम्पन्न राजा गुणहीन और संपत्तिहीन प्रजा को भी गुण मय्य कर भेजा है और गुणहीन राजा प्रकृति बर्ष को भी नष्ट कर देता है।<sup>१</sup> शाठ्ये अधिकरण में विपत्ति समुदाय का विवरण करते हुए कौटिल्य राजा के महत्त्व को विशेष रूप से बताता है। कौटिल्य के पूर्व के प्राचार्यों का कहना था कि स्वामी भंभी जनपद दुर्ग कोय सेवा और मित्र में राज्य के लिये पहिले धाने वाली प्रकृति की विपत्ति उसके बाद धाने वाली प्रकृति की विपत्ति की तुलना में बहुत होती है—जवा हरणार्थ धाना की विपत्ति मित्र की विपत्ति से कम है। इस प्रकार प्राचीन प्राचार्यों के अनुसार मित्र की विपत्ति सबसे बुरी है और स्वामी की विपत्ति सबसे कम बुरी है। कौटिल्य विपत्तियों के इस क्रम को नहीं मानता। उसके विचार इनके विपरीत ही विपरीत है। यह स्वामी की विपत्ति को गुरुतम मानता है। बाद में धाने वाली प्रकृतियों की विपत्ति का दुस्त्व क्रमशः कम होता जाता है। उदाहरण के लिये प्राचार्य ब्राह्मण का कहना है कि स्वामी-व्यसन और भंभी-व्यसन दोनों एक साथ उपस्थित होने पर भंभी-व्यसन ही अधिक भय दायक होता है। किन्तु प्राचार्य कौटिल्य के अनुसार सम्राट-व्यसत की अपेक्षा राज-व्यसत अधिक भयानकपूर्ण है, क्योंकि राजा सम्राट के व्यसनी होने पर अन्य भंभियों की विपत्ति कर सकता है, और यदि स्वामी राजदुण संपन्न हो

तो वह अन्य प्रकृतियों को बुल-संपन्न कर सकता है। इसलिये कौटिल्य ने अपने सप्तांग सिद्धान्त में राजा को विशेष महत्त्व दिया है, और राजा को पूरे शासन की आधार-सिमा माना है।<sup>1</sup>

सप्तांग सिद्धान्त की आभाषना में यह कहा जा सकता है कि इसमें प्रजा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसका कारण स्पष्ट है। कौटिल्य का धर्मशास्त्र शासका के दृष्टिकोण से लिखा गया शासकों के पञ्च-प्रवर्धन हेतु



शासक राज्य के शासक

बनाया गया प्रजा है, इसलिये इसमें स्वामी की जहाँ धारस्वक है, प्रजा की नहीं। दूसरे कौटिल्य का धर्मशास्त्र शासन कार्य की सिद्धि किया जाय इस विषय से संबंधित है, राज्य के संवैधानिक नियम से नहीं जिसमें राजा और प्रजा के पारस्परिक संबंध प्रजा के अधिकार धारि का निरूपण आवश्यक होता है। यदि प्रजा को भी सत्ताय में सम्मिलित किया जाय तो राज्य में दो प्रतिस्पर्धी धर्म

स्वामी की महत्ता—

- (१) अन्य प्रकृतियों को प्रभावित करने वाला
- (२) स्वामी की विपत्ति दुष्प्रसन्न
- (३) बर्हाधम धर्म बनाये रखने वाला

हो जाते और चूंकि शासक में केवल एक ही संभालन-शक्ति हो सकती है, इसलिये सत्ताय में राजा को ही महत्त्व दिया गया है। कौटिल्य तथा अन्य प्राचीन सैन्यक धर्माय के बर्हाधम और सामाजिक व्यवहार को राजा पर ही आधारित मानते हैं। वे लिखते हैं कि यदि बर्हाधम राजा न रहे तो नती मनुष्य विवेक को निबल जायगा। अतएव बर्हाधम द्वारा सुरक्षित राजा

1 "The King is the master key to the working of the whole administrative machine appointing, guarding, correcting, strengthening and shaping its different factors."

अथवा प्रजाजन दुर्बल होते हुए भी पछियासी होते हैं। प्रजा में बर्णाश्रम धर्म को बंधपर ही परिचासित करता है।

बनुर्बर्णाश्रमो सोको रामा दडेन पालितः ।  
स्वधर्मकर्माभिरतो बर्तते स्वेषु धर्मसु ॥<sup>१</sup>

(४)

स्वामी

राज्य पद की आवश्यकता—

प्राचीन भारत में व्यक्ति क विकास के लिये बर्णाश्रम की व्यवस्था की गई थी। जिस प्रकार प्लेटो ने तीन वर्गों की कल्पना करके हर एक वर्ग को अपने ही कर्म करम में धर्म की कल्पना की है ठीक उसी प्रकार हमारे प्राचार्यों ने बनुर्बर्ण की व्यवस्था कर प्रत्येक वर्ण को अपना-अपना कार्य करण का आदेश दिया है। बर्णधर्म प्राप्तकर प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण मानव समाज से अपने को संबंधित करता और धर्म्य वर्गों के साथ मिसकर सामाजिक बन्धन के कार्यों में भाग लेता था। शाश्वत-धर्म उसका वैयक्तिक जीवन से संबंधित था। इसलिये बर्णाश्रम व्यवस्था का उद्देश्य शाश्वत-विकास के साथ ही साथ सामाजिक बन्धन और विकास भी था। कौटिल्य का कहना है कि बर्णाश्रम-व्यवस्था के ठीक प्रकार से पालन किये जाने में ही लोक बन्धन ही सकता है। 'जब बर्णाश्रम व्यवस्था की मर्यादा स्थापित कर ली जाती है, तो जमल प्रगम रहता है और कभी रुकी नहीं होता। बर्णाश्रम में ब्रह्मचर्य स्वधर्म का पालन करने से स्वयं अमल सुख और मोक्ष तक भी प्राप्ति हो सकती है। यदि लोग स्वधर्म का उल्लंघन करते हैं तो बर्ण भङ्ग होता है और समाज भङ्ग हो जाता है। इस बर्ण-व्यवस्था को बनाये रखने का काम राजा का होता है। उसका धर्म्य है कि प्राणियों को अपने धर्म से विचलित न होने दे। बर्णाश्रम के नियम का पालन करण से ही प्रजा समृद्ध और सुखी रहती है।

परन्तु मनुष्य में काम क्रोध लोभ मान मद और हर्ष छः विकार

राजपद की आवश्यकता

(पदधर्म) उत्पन्न होने

व्यक्ति का विकास—शाश्वत धर्म } (१) बर्णाश्रम व्यवस्था बनाना  
लज्जा का बन्धन—धर्म धर्म }  
ब्रह्मचर्य—काम क्रोध लोभ } (२) मासग्याय से प्रजा को सुरक्षित करना।  
मान मद हर्ष }

रहते हैं। ये पदधर्म उने धर्म की धीरे से जाते हैं और मानस न्याय का जन्म होता है। पदधर्म का प्रभाव में बचाने क

सिधे और बर्न स्थापना हेतु बन्ध और दण्डभाटी की आवश्यकता होती है । इसलिये राज्य में व्यवस्था बनाये रखने के लिये राज्य की उद्भूत पूर्ति के लिये लोक और वैयक्तिक कल्याण के लिये प्रत्येक समाज में राजा की आवश्यकता है ।

राजा के गुण—

राजा को प्रजा के सुख में अपना सुख और उसका हित में अपना हित समझना चाहिये । स्वार्थ राजा का हित नहीं है ।

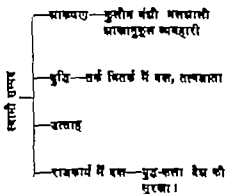
प्रजा सुखे सुखं राजाः प्रजाणां च हिते रतम् ।

नारमप्रियं हितं राजाः प्रजाणां तु प्रियं हितम् ॥<sup>१</sup>

इस प्रकार के आचरण वाला राजा ही उचित दण्ड की व्यवस्था कर सकता है । काम, क्रोध और प्रज्ञान के बन्धीरुत हो दण्ड का व्यवहार करने वाला नानप्रस्वी और परिजानकों को भी कुपित कर देता है, फिर दूहस्त्रों का कहना ही क्या ? इसलिये दण्ड का उचित प्रयोग राजा समाज के लक्ष्य की पूर्ति वही व्यक्ति कर सकता है, जिसमें विविध प्रकार के आचरण की क्षमता हो ।

### राजा के गुण

प्रजा सुखे सुखं राजाः  
प्रजाणां तु प्रियं हितम्



कौटिल्य ने इन गुणों को राजा की सम्पदा (स्वामि-सम्पद वा अस्व सम्पद) कहा है । इस स्वामी-सम्पद को हम चार भागों में बाँट सकते हैं ।

१—लोगों को आकर्षित करने वाले गुण जैसे—अच्छे कुल में उत्पन्न होना बचबानी कृशों के हाथ निश्चिन्ने हुए पत्र पर चलने वाला उत्साही, एक निश्चयी शास्त्र मर्यादा का अभिसारी आदि ।

१ अथि० १ अ० १६ श्लोक ३८ ।

१—बुद्धि के गुण—जैसे उचित बात या शास्त्र की सुनना बात का महत्त्व समझकर उसे हृदयमय करता सुनी हुई बात को याद रखना और बिसान, तकवितर्क और तन्त्र को जानना ।

३—शासक गुण—जैसे निर्भीकता पापाचार के प्रति असहिष्णुता, धीम कार्य-साधन की तत्परता और कार्य निपुणता ।

४—राजपद के विरोध गुण—जैसे अच्छा मापण देने वाला, बुरावर्ती गुठ कसा में प्रवीण सेना का रक्षा दुर्जितकाल में प्रजा में मन समुचित विवरण करने वाला निपुणता देखकर कर्मचारियों को नियुक्त करने वाला, अच्छी सँच करने में निपुण राज्यों की जानकारी रखने वाला पारि ।

इस प्रकार राजा में न केवल राजा के ही गुण आवश्यक हैं बरन् धीर शक्ति के भी गुण होना चाहिये । जेतों का दानविक राजा कम्पित हो सकता है । परन्तु कौटिल्य का राजा केवल शासनिक ही नहीं बरन् सर्वगुण-सम्पन्न व्यावहारिक गुण भीम है । राजा के इन गुणों का जो विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है उससे कौटिल्य की दीर्घ अवसोक्तन चर्चा का परिचय मिलता है । विनयाधिकरण में राजा के गुण बताते हुए कौटिल्य ने इस बात पर जोर दिया है कि राजा की जितेन्द्रिय होना चाहिये और धर्म धर्म और काम का समय पर सेवन करना चाहिये । यदि वह धर्म धर्म और काम में से किसी का भी अधिक सेवन करेगा तो वह धन्य और प्रजा का मुख्य साधन न बन सकेगा ।

कौन राजा अच्छा होता है—

८—जें अधिकरण में राजा और राज्य पर धार्य हुए सत्त्व की विशेषता करते हुए कौटिल्य कौन सा राजा और राज्य अच्छा होगा इसकी चर्चा करता है ।

प्राचीन शासकों का कहना था कि वैराग्य (राजा हीन) की अवस्था ईराग्य (जो स्वामियों वाला राग्य) विदेय बन्दायक होता है । कौटिल्य इस मत को नहीं मानता । उनका कहना है कि पिता-पुत्र धर्म का जो चाहों के पारंपरिक विरोध के कारण ईराग्य बनता है । एक ही गुण का भगना होने के कारण दोनों राजाओं का एक सा स्वार्थ रहता है । इसलिये जिन-एल इस मतों को ठीक गुना करने हैं । किन्तु राजा हीन धर्मों की धीने हुए राज्य को विदेय पराया राज्य मानकर भूख घोषण करता है । या उम किमो धर्म राजा के हृदय में बैठा है । इसलिये वैराग्य ईराग्य में पराज है ।



शास्त्रहीन राजा और शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्रानुसार न चलने वाले राजा में दूसरे प्रकार का राजा प्रकट नहीं है क्योंकि शास्त्रहीन अपने राजा को धर्मात्म अपनी बुद्धि के अनुसार चला सकते हैं। किन्तु स्वल्प ज्ञान वाला राजा अभिमान बस अपने राज्य को नष्ट करता है।

रोगी राजा और नये राजा में अत्यात्म प्राचार्य नये राजा को उत्तम बतलते हैं, परन्तु कौटिल्य रोगी राजा को उत्तम बतलाता है, क्योंकि वह राज्य-कार्य का संशासन पुरानी प्रथाओं के अनुसार करता है, जबकि नया राजा धर्म में पूर्ण हो मनमानी करता है।

नये राजाओं में उच्च कुल में उत्पन्न किन्तु कुशल और नीच कुलोत्पन्न

कौटिल्य का मत

प्रकटा

दुरा

(१) ईराज्य।

(१) वैराज्य।

(२) शास्त्रहीन राजा।

(२) शास्त्रानुसार न चलने वाला राजा।

(३) रोगी राजा।

(३) नया राजा।

(४) उच्चकुलीन निर्मल राजा।

(४) नीचकुलीन सबसे राजा।

बलवान राजा में पुराने प्राचार्य

बलवान नीच जन्मा राजा को

प्रकट समझते हैं क्योंकि वे प्रजाजन

धर्मात्म प्रादि को प्राणानी से अपने

पक्ष में पुरुषता सकते हैं। किन्तु प्राचार्य

चाहे वह दुर्बल ही क्यों न हो प्रकट

समझता है, क्योंकि उच्च कुल में उत्पन्न राजा स्वभावतः ऐश्वर्यशाली होता है, समृद्धि उसके साथ-साथ लपी रहती है।

इन तर्कों से मान्य होता है कि कौटिल्य उच्चकुल को राजा का आवश्यक पुरुष मानता है।

राजा की विमर्शों और उसकी शिक्षा—

राजा के जन्मजात गुणों का विकास करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। कौटिल्य ने राजकुमारों के लिये बड़ी व्यापक शिक्षा व्यवस्था रखी है। मुख्यतः संस्कार के परचात् युवराज को शिक्षना पढ़ना और मणित सीखना चाहिये। अनेक संस्कार के परचात् वह तीन बैर और प्राणहीनारी विद्या विद्वानों के पास जाकर सीखे। भारत विद्या बड़े-बड़े सरकारी अदमरों से तथा दर्शनीति प्रवचन पुरुष एवं प्रयोग कुशल नीतिज्ञ प्राचार्यों से सीखी जाय। १६ वर्ष में विवाह करने के परचात् भी समका विद्याध्ययन करते रहना चाहिये। इसके लिये विद्या-वृद्ध प्राचार्यों का संस्केण आवश्यक है। साथ ही राजा बुद्धिवारी एवं विद्या और परचात्स्व दिन के

प्रथम भाग में सीसे और सेपमाम में इतिहास का अध्ययन करे राजा के समय जिन-जिन विषयों को उसने पढ़ लिया है, उनका चिन्तन करे। इस प्रकार विद्या प्राप्त करके सुबराज विनयी होता है। इन्द्रियों को जीतना ही विद्या और विनय का उद्देश्य है। विद्या के द्वारा ही वह पदार्थों से बच सकता है। शास्त्र-निर्देशण को प्राप्त करने के लिये वह पहिले घनासक्त भाव का अभ्यास करेगा और उसका पदचात छात्रों में प्रतिपादित नियमों के अनुसार चलेगा। जो राजा शास्त्रबिहित नियमों के विपरीत चलता है और इन्द्रियों को बच में नहीं रखता, वह, चारों समुद्र तक फैली पृथ्वी का सम्राट ही क्यों न हो तत्काल नष्ट हो जाता है। ८ में अधिकरण में भी कौटिल्य लिखते हैं कि धानबीराकी आदि विद्याओं से प्राप्त होने वाले विनय के अभाव में ही पुण्य अवनो बनते हैं। कौटिल्य प्रतिपादित तथा कुछ पुत्र को राज्य के अधिकार देने का पद्य में नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आश्विन-धर्म के अनुसार कौटिल्य ने सुबराज के लिये प्राथमरी से लेकर उच्च विद्या का आयोजन किया है। वह न केवल

- विद्या-अवस्था  
 पुण्डन संस्कार पश्चात्—  
 शिक्षना पढ़ना धरित ।  
 अनेक संस्कार पश्चात्—  
 अथी आम्बोदाकी (विद्याओं से)  
 बर्ता (संस्कारों अक्षरों से),  
 इन्द्रनीति (शास्त्रों से) ।  
 विवाह पश्चात्—  
 बुद्धिधर्मों का संसङ्ग  
 आचार्य इतिहस ।  
 विद्या राजा को अतिशय ही और  
 विजयी बनाती है ।

चार प्रमुख विद्यायें ही पढ़ेमा बरन् इतिहास और सैनिक शास्त्र में भी रुचक होगा। विद्या के साथ ही साथ घनासक्ति आदि की भावना सुबराज में जागृत करने का आयोजन कर उसने अनुशासन पर भी और दिया है और कहा है कि बिना विनय के राजा समृद्धि धानी नहीं हो सकता है। अनुशासन प्राप्त करने के तीन माधन हैं छात्र का पढ़ना इन्द्रियों को जीतना समर्थ करना और शास्त्र-बिहित नियमोंको जीवन में पालना। इस प्रकार कौटिल्य ने अरिज और बुद्धि-विज्ञान के लिये एक सुगठित विद्या-अवस्था का प्रावधान किया है।

यदि राजा तीसो प्रजा में विज्ञान करत हूण कौटिल्य के अनुसार राजा को सर्वोत्तम उत्तम विचार एवं अनेके आचरण जाना होना चाहिये। उसे दूसरों के लिये आह्वरण प्रस्तुत करना चाहिये। कौटिल्य ने राजा की पूर्ण

दिनबर्षा १९ बें अध्याय में की है। दिन रात के १९ प्रहर में रात के केवल २ प्रहर सोने के लिये रखे हैं, बाकी समय उसने राजकार्य करने कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करने और स्वाध्याय में लगाने को कहा है। राजा के कल ध्य—

राजा के मुख्य कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं :

(१) पर्याप्त धर्म को बनाये रखना और सभी प्राद्विषों की अपने धर्म से विचलित न होने देना :—यद्यपि 'जिस प्रजा की धर्म मर्यादा व्यवस्थित रहती है वो सर्व और धामम के नियमों का पालन करती है और वो नवी (तीन वर्ष) द्वारा विहित विधान से रक्षित रहती है वह प्रजा सर्वत्र प्रसन्न रहती है। उसका कमी नाश नहीं होता।'<sup>१</sup>

(२) बंध की व्यवस्था करना — बंध अप्राप्य वस्तु को प्राप्त कराता है— जो प्राप्त हो चुका है, उसकी रक्षा करता है, रक्षित वस्तु को बचाता है और बड़ी हुई वस्तु का उपयोग करता है। समाज और सामाजिक व्यवहार बंध पर निर्भर है। परन्तु राजा को बंध यथोचित देना चाहिये क्योंकि कठोर बंध से प्रजा उद्विग्न होती है और मृदु बंध देने वाला राजा प्रजा के द्वारा सतत्या जाने ममता है। यथोचित बंध देने वाला राजा पूज्य होता है। केवल समुचित बंध ही प्रजा को धर्म धर्म काम से परिपूर्ण करता है। "यदि काम प्रोष या प्रदान बंध बंध दिया जाता है, तो जनसाधारण की कौत कहे, मानप्रसन्न और सन्तुष्टी तक मनुष्य हो जात है। यदि बंध का उचित प्रयोग नहीं होता तो जनमान मनुष्य निर्बन्धों को बँधे ही जा जाते हैं जैसे बड़ी मछली छोटी को।"<sup>२</sup>

(३) धाम-ध्वज सम्बन्धी :—राजा को यह कार्य समाहर्ता के द्वारा करना चाहिये। धाम और ध्वज के स्वर्णों का निरूपण कौटिल्य ने हुएरे अधिकारस के दृष्टि अध्याय में किया है।

(४) निपुणता सम्बन्धी :—राजा प्रमात्य सेनापति और प्रमुख कर्मचारियों की निपुणता करता है। अपने कर्मचारियों की परोक्षता करता है, धाम ही उनके काम का निरीक्षण करता है।

(५) लोकहित और सामाजिक कल्याण के काय :—इस अंगी में कौटिल्य ने जो राजा के कार्य निश्चित किये हैं वे इस प्रकार के हैं जिन्हें हम आज समाजवादी या लोककल्याणकारी कार्य कहेंगे। इसके अन्तर्गत राजा दास

१ अधि० १ प० १

२ अधि० १ प० ४

देषा घोर शोक कम्पायु के कार्य करेगा। घनाद वृद्ध घसहाय भोगों के पासन-पोपण की व्यवस्था करेगा। घसहाय यमवती स्थितों की उचित

व्यवस्था करेगा घोर उनके बच्चों का भरण पोपण करेगा। जो किसान घेती

### कर्त्तव्य

- (१) अर्थापन्न व्यवस्था बनाये रखना। न करके जमोन परती छोड़ देते हों
- (२) इच्छ की व्यवस्था करना। उनके पास से जमीन लेकर बहु किसी दूसरे किसान को देगा। कृषि के लिये
- (३) धान-व्यय सम्भरणी। शीघ्र बनवाना जसमार्ग स्थल मार्ग
- (४) निपुक्ति सम्भरणी। बाजार, बसाधाय धारि बनाना। शुभिस
- (५) सामाजिक करमायु काय। क समय जसता की सहायता करना
- (६) मुद्ध करना। घोर उह बीज देना भी राजा का कार्य

है। यदि इससे भी काम नहीं चल सजता तो उस बनवानों पर अधिक कर लगाकर घन को गरीबों में बाँट देना चाहिये।

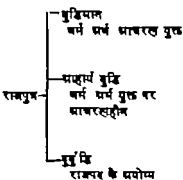
साम्राज्यवादी कार्यों के अन्तर्गत राज्य क उन कार्यों का भी वर्णन कर देना उचित है जो राज्य के द्वारा संजानित होंग। कौटिल्य के अनुसार लक्ष्मणें वस्तुओं का निर्माण जसमें से इमारती सकड़ी घोर हाबियों को प्राप्त करना अथवे लस क जानबर्तों को पैदा करने का प्रबंध धारि राज्य क कार्य हेमि। इसलिये कौटिल्य पूरे दुसर अधिकरण में कृषि अथवाह जंसल सान बाहिय्य धारि के कर्मचारियों की लक्षियों घोर कर्त्तव्यों का वर्णन करता है।

(६) मुद्ध करना — धातुनिक काल में मुद्ध करना हम राज्य का कार्य नह्य मानिये। हम धातु सेनाओं को मुद्ध के लिये नही सुरक्षा के लिय रखते हैं। लेकिन कौटिल्य का उह ल्य नई भूमि को प्राप्त करना है घोर उसक अर्थशास्त्र का केन्द्र बीजदीपु है। इसलिये कौटिल्य की दृष्टि से मुद्ध करना इतना महत्वपूर्ण कार्य है कि बहु राज्य की सभी धारिक संस्थाओं की महत्ता इमी मापदंड से ही केगता है कि वे मुद्ध क लिये कहीं तक पर्याप्त हैं। नई भूमि को प्राप्त करना अर्थशास्त्र का इजना प्रमुग विषय है कि अर्थशास्त्र के १५ अधिकरणों के ६ अधिकरण प्रयत्न घोर अर्थशास्त्र ल्य से मुद्ध क संबंध रखत हैं।

कौटिल्य का कहना है कि राजा का प्रत्येक कार्य इग भावना स होना चाहिये कि प्रजा क गुण स हो राजा का गुण घोर प्रजा क सम्पाण से हा राजा का कल्याण होगा है। राजा का धाना व्यक्तिगत बोर्द मुग नह्य है इसलिये कर्मवीर होकर राजा को नीति क अनुसार प्रजा का लक्षण करना चाहिये।

राजा के उत्तराधिकार नियम—

कौटिल्य का कहना है कि सामान्यतः राज्य का अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलना चाहिये यदि उसमें उचित गुण हों। यदि ज्येष्ठ पुत्र में इन गुणों



कुलीन और गुणवान् राजपुत्र ही  
राज्यपर योग्य प्रत्यक्षा शासन  
व्यवस्था को।

का अभाव हो तो उसे राज्यपर नहीं देना चाहिये। उचित गुण सम्पन्न राजपुत्र को राजा बनने की वयस काल में पुत्रराज या सेनापति पर पर नियुक्त कर सकता है। राजपुत्र तीन प्रकार के होते हैं। बुद्धिमान साहार्थ्य बुद्धि और बुद्धि। बुद्धिमान राजपुत्र धर्म और धर्म की प्राप्ति करता है और उसका भाचरस्य भी उत्तम होता है। साहार्थ्य बुद्धि राजकुमार धर्म और धर्म की उपलब्धि तो करता है परन्तु उसका भाचरण अच्छा नहीं होता। जिसमें इन सभी गुणों का अभाव होता है वह बुद्धि पुत्र है। बुद्धि राजकुमार को

राज्यपर कभी नहीं मिलना चाहिये। इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार गुणवान् व्यक्ति ही राज्यपर पा सकता है। यदि पुत्र या पौत्र या पुत्री का पुत्र भी राजसिंहासन के प्रयोग्य है तो राज्य वंशावत द्वारा चलना चाहिये क्योंकि इससे राज-व्यवस्था ठीक चलेगी है और राज्य क्षु से पराजित नहीं हो पाता। बंध की कुलीनता पर कौटिल्य विशेष धोर बैठे हैं। इसलिये नीच जाति स्त्री से उत्पन्न पुत्र बुद्धिमान होते हुए भी राज्यधिकारी नहीं हो सकता।

क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है ?

कौटिल्य के अनुसार राज्य का सर्वप्रथम राजा है, इसीलिये वह कुलीनवर्तन प्रजातन्त्र धारि की चर्चा नहीं करता। इसमें संदेह नहीं कि कुछ अधिकारणों में कौटिल्य ने गणराज्यों की व्यवस्था की है, परन्तु राजा की वैशेषिक नीति के प्रसंग में ही इनकी चर्चा हुई है और इनकी चर्चा इसलिये संक्षिप्त है कि यह स्पष्ट है कि कौटिल्य राजतंत्र को ही केवल एक स्वाभाविक तंत्र मानता है। परन्तु कौटिल्य निरंकुश राजतंत्र के पक्ष में नहीं है। राजा की शक्तियों को सीमित करने वाली अन्य दृष्टी शक्तियाँ भी हैं। पहिली शक्ति मन्त्रि परिषद की है और

चूँकि राज्य सभी राज के राजा और मंत्रि-परिषद् दो बंध हैं इसलिये मंत्रि परिषद् का अधिकार राजा के बराबर ही है। दूसरे राजा का शासन वर्णधर्म के अनुसार ही चलना चाहिये इसलिये राजा मनमानी नहीं कर सकता। प्रापञ्चिक स्वामीय रीतिरिवाजों को भी राजा को मान्यता देना आवश्यक है। इसलिये राजा के अधिकार धर्म और रीतिरिवाजों से सीमित हो जाते हैं। धर्म्य प्रजा अपने राजा को स्वयं उपास कर देती है।<sup>१</sup> परन्तु राजा पर सबसे

राजसत्ता सीमित करने  
वासी शक्तियाँ

- (१) मन्त्रि-परिषद् ।
- (२) स्मृति और रीति-रिवाज ।
- (३) धर्म्य की भावना ।

अधिक प्रभुता उसकी निजी नैतिक बंधन भावना है। कौटिल्य निरंकुश शासक के बंध करने और परम्पुत्र करने का अधिकार प्रजा को नहीं देता पर यह बात इसलिये नहीं छूट जाती क्योंकि धर्मशास्त्र शासकों को सामन रखकर सिद्धा यथा है, शासकों को नहीं। इसका दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि कौटिल्य स्वयं में विश्वास करता है। जब प्रत्येक बड़े धनमा-धनमा धर्म प्राप्त करता है तभी व्यवस्था बनी रहती है। इसलिये भारतीय परंपरा में प्रायक बड़े के कर्तव्यों और धर्म का निरूपण हुआ है अधिकारों का नहीं। नागरिकों के अधिकार वास्तव में राजाओं के धर्म के रूप में रहे गये हैं। राजा का एक मात्र धर्म है प्रजा के हित में शासन करना।

( ५ )

धर्मात्य और धर्म्य प्रकृतियाँ

मन्त्रि-परिषद् की आशास्पकता—

जैसे एक पहिये से रथ का चलना धर्ममय रहता है वैसे ही धर्म्य राजा राज्य का दुर्गह नाम मंचन नहीं कर सकता। इसलिये राजा को मंत्रियों की नियुक्ति करना चाहिये और उनकी बात सुनना चाहिये। धर्मात्य विधि से राजा की रक्षा करते हैं और प्रमाद प्रवृत्त राजा को पथ पर लाते हैं। राज्य धर्म्य इतना अटल होता है कि कौटिल्य का कहना है कि ममत्त कार्यों का प्रारंभ ममत्त कर देने के उपरांत ही होना चाहिये। फिर राजा के पास बड़े-बड़े नाम होते हैं जो एक ही समय में भिन्न भिन्न स्थानों में पूरे नहीं हो

सकते इसलिये राजा को मंत्रियों की सहायता आवश्यक है। घमासों के कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। जनपद के सारे कार्य जैसे जनपद की सुरक्षा और कल्याण उसके विपत्तियों का निवारण बजर मुनि का सुधार और उनमें कर धारि बनाने का कार्य मंत्री ही कर सकते हैं।

मंत्रि-परिषद् की संख्या कितनी होनी चाहिए इस पर प्राचीन शासकों के विभिन्न मत रहे हैं। बनु, बृहस्पति और जयान ऋषि के अनुयायियों ने यह संख्या छम से १२, १६ और २० बताई है। इन्हें मंत्रि-परिषद् में एक हजार ऋषि थे। परन्तु कौटिल्य का मत है कि राजा को छम परिशिष्टि और प्रत्यक्षताद्वारा मंत्रि-परिषद् की सदस्य-संख्या निश्चित करना चाहिए परन्तु मंत्रणा करने के लिये तीन या चार मंत्री प्रत्यक्ष होना चाहिए, न इतने कम और न इतने अधिक। इन्हें मान्य होता है कि राजा की तीन या चार मंत्रियों की संख्या परिषद् होती थी और शासन कार्य बनाने के लिये छम मंत्री रहते होते जिन्हें मंत्रणा देने का अधिकार न रहता होता। इन छम मंत्रियों को कौटिल्य समस्त कहता है। इस बात को मंत्रियों की नियुक्ति संबंधी शिक्षार्थों का अन्वेषण करते हुए भी कौटिल्य ने स्पष्ट किया है। यह निश्चय है कि जिन व्यक्तियों में प्रभाव्य कुछ है—जहाँ देश कात और कार्य व्यवस्था देखकर राजा प्रभाव्य बना सकता है, परन्तु उसके सहसा मंत्री वह वर विपुल नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रभाव्य वास्तव में कार्य सचिव होते हैं और उन्हें मंत्रणा देने का अधिकार नहीं दिया गया है। महाभारत में भी भीष्म ने इसी प्रकार की मंत्रि-परिषद् और संतरण परिषद् की बनी की है। मंत्रि-परिषद् की बैठकें स्वतंत्र रूप से होना का प्रावधान किया गया है और इसकी प्रभाव्यता राजा नहीं करता। केवल महत्वपूर्ण विषयों के उपस्थित होने पर ही राजा मंत्रि परिषद् को बुलाता था।

मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की योग्यता भी कौटिल्य ने निर्धारित की है। जो व्यक्ति अपने ही जनपद (राज्य) और उत्तम कुल में उत्पन्न हो उत्तम बन्धु बान्धवों से सम्पन्न प्रत्येक विषय का जानने वाला कार्य कुशल भावण देने में अतुर, उत्साही और प्रबंध करने वाला राजमन्त्र और सर्वप्रिय हो वही मंत्रि पद के योग्य होता है। अपमूर्ख सर्वकुल मंत्र्य मंत्री उत्तम मंत्री माना गया है। जिसमें तीन चौथाई कुल ही वह मन्मथ मंत्री है, और जिसमें पांचे ही कुल ही वह मन्त्र मंत्री कहलाता है।

वाचान मुनि के अनुसार राजा को अपने सहपाठियों को ही प्रभाव्य

बनाना चाहिये । परन्तु आचार्य विद्यासाय का कहना है कि साथ में वेसा हुआ

मन्त्रि-परिषद् की आवश्यकता

- (१) मन्त्रणा के लिये ।
- (२) सङ्घस्य प्रयत्नाने के लिये ।
- (३) सब कामों को एक साथ करने के लिये ।
- (४) जनसह के शासन के लिये ।

—•—

(१) मन्त्रि-परिषद्—१ या ४ मन्त्रणा होने वाले ।

(२) प्रमात्य—काय सचिव ।

परिस्थिति के अनुसार विदेव गुप्त घोर सव्या के प्रमात्य नियुक्त किये जायें ।

गुप्त मन्त्रणा की आवश्यकता ।

हुआ सहपाठी अपने मित्र राजा की प्रशंसा कर सकता है, इसलिये सहपाठी को मंत्री नहीं बनाना चाहिये । पाराशर मुनि के अनुसार राज्य मन्त्र को घोर पिपुनाचार्य के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति को प्रमात्य पर पर होना चाहिये । आचार्य कोणपदन्त प्रमात्य बराजों को ही इन पर के योग्य समझते हैं । कौटिल्य इन सभी सिद्धान्तों को मान्यता देता है, परन्तु उसका मत है कि वेद नाम के अनुसार मित परिस्थिति में बिग मुण्ण वाले प्रमात्य की आवश्यकता हो उसके अनुसार उन मुण्णों से सपन्न किसी भी व्यक्ति को प्रमात्य नियुक्त करना उचित होगा ।

मन्त्रि-परिषद् से राजा को गुप्त

मन्त्रणा करना चाहिये । मन्त्रणा का प्रबट

हो जामा राजा व मन्त्री दोनों के लिये महिष्टकर है । इसलिये (१) मन्त्रणा का स्थान ऐसा हो कि पक्षी भी इन स्थान पर न पहुँच सकें । (२) मन्त्रियों को घोर राजा का अपने बहरे या बाहरण से मन्त्रणा के रहस्य को प्रबट नहीं करना चाहिये । (३) मन्त्रणा घाबि कमजोरियों से दूर रहना चाहिये तथा एकान्त में होना चाहिये । (४) कामासक्त, अभिमानी घोर तिरङ्गुन मन्त्रियों को दूर रहना चाहिये । (५) मन्त्रणा होने पर अपने निरपेय को कार्यान्वित करने में बिलंब नहीं समाना चाहिये ।

मन्त्रणा होने के सिवाय मन्त्रियों के अन्य कार्य भी हैं । उन्हें अपने राज्य घोर कर राष्ट्र का विचार करना चाहिये जो कार्य प्रारम्भ नहीं किये गये हैं उन्हें प्रारम्भ करना चाहिये प्रारम्भ बिष हण कार्यों को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये घोर त्रिन कार्यों को समाप्त हो चुको है उनमें बिद्ययता सानी चाहिये ।

मन्त्रि-परिषद् की बर्षा करण हण हयें कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की मन्त्रित बर्षा कर देना आवश्यक है । दूत घोर मुन्यवर राज्य के लिय आवश्यक जाने



पये हैं। बिना इनके राज्य सुपक्षित नहीं रह सकता। शासन का कार्य बताने के लिये राजा को अमात्य पुरखों से सपन्न विभिन्न विभागों के अध्यक्ष नियुक्त करना और विभागों का निरीक्षण समय-समय पर करना चाहिये। राजा के पास अनुपदेशनी सेना होगी चाहिये और प्रत्येक धर्म को प्रसन्न-प्रसन्न मुखिया के शीशे रखना चाहिये। कोष और सेना विभाग को राजा को अपने ही पास रखना चाहिये जिसमें बड़े मंत्रियों के प्रसवृद्ध होने पर अगती रखा कर सके।

जनपद दुर्ग और कोष—

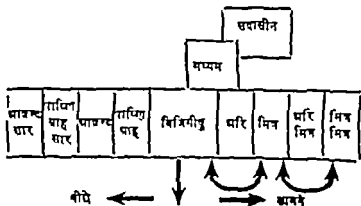
जनपद को हम प्राथमिक भाषा में देहाती भूमि कह सकते हैं और दुर्ग को पहरी भूमि को गुरका के लिये बहार-बीबापी से बिछी हो। जनपद दुर्ग से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दुर्ग के कोष और सेना संबंधी कार्य जनपद पर अवलंबित हैं। साथ ही कृषि पशुपालन और मनुष्य-संख्या जनपद पर अवलंबित है। दुर्ग कोष से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि कुछ प्रांतीय प्रांत और राज्य से बचाव दुर्ग पर निर्भर है। यदि दुर्ग एक न हुआ तो कोई भी कोष छूट सकता है। एक दुर्ग एक और कोष बिहीन राजा को इरादा नहीं हो सकता। जनपद में निम्न लिखित कुछ होना चाहिये—(१) सुरक्षा की व्यवस्था (२) आर्थिक-शासन प्रवर्धन कृषि चरायाह, पशुधन पदार्थ और नमसंपत्ति सपन्न (३) राष्ट्रीय जनजात, राष्ट्रीय कार्यकुशल जितने व्यापार बढ़ सके (४) उद्यमशील जनसंख्या से पूर्ण। इस प्रकार जनपद राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति का साधन है। दुर्ग कोष की सुरक्षा और सैनिक-प्रशिक्षण के लिये आवश्यक है। पहला पर स्थित दुर्ग नदी पर स्थित दुर्ग से प्रच्छन्न होता है, और मैदान में स्थित दुर्ग सबसे खराब। ध्यान रखने की बात है कि जनपद और दुर्ग की महत्ता राजा की सैनिक कार्यवाहियों से ही सम्बन्धित है।

( ६ )

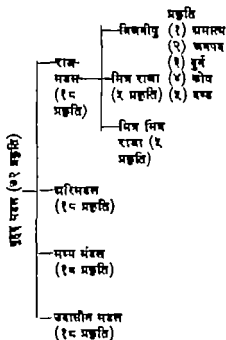
अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध

नई भूमि को प्राप्त करने और नए भूमि के निवासियों के समुचित शासन प्रदान करने के उपायों को बताना कौटिल्य ने अर्थशास्त्र का उद्देश्य माना है। इसलिये जब हम नई भूमि प्राप्त करने और नई भूमि पर उपनिवेश बसा की बातें प्रारंभ कर रहे हैं। परन्तु इनके पूर्व हमें कौटिल्य की राज्य-संरचना का धारणा वैदिक नीति के घ. ४५ राज्य की तीन परिस्थितियों और राजा के तीन शक्तियों को समझ लेना आवश्यक है।

राज मंडल का धर्म—कौटिल्य से पूर्व धर्मशास्त्रियों ने राज्य मंडल के विस्तार का निर्धारित कर दिया था। ऐसा मान्य होता है कि उत्तर वैदिक काल के उत्तरी भारत में लगभग १६ राज्य के घोर पन्डो के संघर्ष को देख कर धर्मशास्त्र में राज्य-मंडल की धारणा बनाई गई। बिजयीयु (बिजयामिसापी राजा) की दृष्टि से राज्य-मंडल में चार प्रकार के धर्मों का, मित्र मध्यम घोर पदाधीन राज्य हो सकते हैं। पड़ोसी राज्य स्वामाबिक रूप से राज्य राज्य होता है क्योंकि हमें पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और सीमा संबंधी समस्याएँ पड़ी होती हैं। बिजयामिसापी राजा सबसे पहिले इसी राज्य को हड़प कर सकता है। परन्तु हमें हड़प करने के लिये उसे पड़ोसी राज्य के दूसरी घोर सने हुए राज्य की सहायता आवश्यक होती है। इसलिये वे मित्र-राज्य होंगे। मित्र राज्य के धामे धरि मित्र (या शत्रु के मित्र) का राज्य होगा और उसके धामे मित्र के मित्र का राज्य। बिजयीयु के दूसरी तरह भी राज्यों का यही क्रम होता है जिन्हें कौटिल्य क्रमशः पाण्डिप्राह, पाण्डु, पाण्डिप्राह-सार और पाण्डु सार से संबोधित करता है। मध्यम-राजा वह है (म) जिसके राज्य की सीमा बिजयीयु घोर राज्य के राज्यों से लगी होती है, (पा) जो इतना शक्तिशाली होता है कि वह मध्यम का नाम कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर इन दोनों राज्यों का एक ही साथ धमक कर सकता है। पदाधीन राज्य मध्यम राजा से परे होता है और वह बिजयीयु, धरि घोर मध्यम राज्य को धमक-धमक या एक साथ सहायता दे सकता है। वह इन तीनों से बलवान भी होता है। इन चार प्रकार के राज्यों की स्थिति को हम इस प्रकार चित्रित कर सकते हैं।



इस प्रकार धरि (सब) राज्य मित्र राज्य मध्यम राजा और उदासीन राजा अपने-अपने राज मंडल बनाते हैं ।



विजयीपु, मित्र राजा और उसके मित्र का मित्र राजा एक समूह बनाते हैं और इन तीन राज्यों के तीन राजा तीन प्रकृति या भंग होते हैं । प्रत्येक राज्य की पाँच प्रकृतियाँ और होती हैं प्रमात्प, जगपव, बुर्ग, कोप और बख । इस प्रकार के पंद्रह प्रकृतियाँ (३ × ५) और ऊपर के विजयीपु और मित्र राजा मित्र मित्र राज्य की तीन प्रकृतियाँ मिलकर कुल सठारह प्रकृतियाँ बूँद । विजयीपु राजा की दृष्टि से वे १८ प्रकृतियाँ राज मंडल बनाती हैं ।

इसी तरह धरि मंडल मध्यम-मंडल और उदासीन मंडल बनाते हैं । और इनकी भी अपनी-अपनी सठारह प्रकृतियाँ होती हैं । इस प्रकार राज मंडल मध्यम मंडल और उदासीन मंडल को मिलाकर ७२ प्रकृतियों कुल को मंडल बनाता है उसे बृहत्-मंडल कहते हैं । इस मंडल में बाउह राजा होते हैं ।

मंडल के इस सिद्धान्त पर दो धारणाएँ सठारह जा सकती हैं । (१) मंडल की धारणा भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है, परन्तु यह धारणा नहीं कि पड़ोसी राज्य सर्वत्र ही सबू राज्य हों । सबूता और मित्रता केवल भौगोलिक स्थिति पर निर्भर नहीं । (२) राज्यों के धारणी सम्बन्ध भौगोलिक दृष्टि से ही स्वामी समझे नये हैं पर उनके स्वामी रहने का विशेष कारण नहीं । राज्यों के अपने-अपने हित हो सकते हैं और इस कारण राज्यों के धारणी संबंध भी बदलते रह सकते हैं ।

बैरोधिक नीति और राज्य की परिस्थितियाँ—

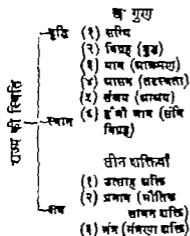
बैरोधिक नीति का उद्देश्य राज्य की वृद्धि है। वृद्धि का अर्थ है राज्य में विचारों व्यापार के साधन आदि बढ़ाना दुर्ग निर्माण करना आदि। राजा को ऐसे कार्य नहीं करना चाहिये जिससे राज्य का विनाश या क्षय हो और राज्य की वृद्धि हो। जब बैरोधिक सम्बन्ध से राज्य की न उन्नति हो न विनाश तो इस परिस्थिति को स्थान कहते हैं। इस प्रकार राज्य की तीन परिस्थितियाँ हो सकती हैं—वृद्धि क्षय और स्थान।

अपने प्रकृत मद्दत में विद्यमान विविधोपु राजा छः प्रकार के युद्धों का प्रयोग करके विनाश की अवस्था से स्थान की अवस्था और स्थान की अवस्था से उन्नति की अवस्था में पहुँच सकता है। ये छः युद्ध हैं—संधि विग्रह (युद्ध) मान (युद्ध पर चढ़ाई करना), आसन (उत्पत्ता) संघर्ष (असहान का आशय लेना) और द्वेषी भाव (संधि और युद्ध का एक साथ प्रयोग)।

संधि के द्वारा विविधोपु राज्य को निर्बल और अपने को सबसे बनाने का समय प्राप्त कर लेता है। इसलिये यदि विजयाभिषापी राजा देखता है कि नयि करके वह बड़े-बड़े कार्यों को संपादित कर राज्य को क्षय पहुँचा सकता है या राज्य के शत्रुओं से साम उठ सकता है या उसे राज्य की योजनाओं को समाप्त करने का अवसर मिल सकता है तो उसे संधि करना चाहिये। कौटिल्य के अनुसार संधि कई प्रकार की हो सकती है। दूसरा युद्ध विग्रह है। परस्पर रूप से एक दूसरे के अकार में लग जाना विग्रह बहुमाता है। राजा अपनी बैरोधिक नीति में विग्रह युद्ध को उसी समय अपनाता है, जब वह राज्य की तुलना में अपने को अधिक सामर्थवान समझता है। जब राज्य और विविधोपु एक दूसरे को नष्ट करने की शक्ति नहीं रखते और कुछ काल के लिए शांत होकर बैठ जाते हैं तो यह आसन की स्थिति होती है। यदि विजयाभिषापी राजा अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रवर्ण कर राज्य का नाश करने के लिये आक्रमण करने का निश्चय कर लेता है तो वह राज्य के विग्रह अभियान करता है या मान युद्धों का आशय लेता है। यदि राजा राज्य को हानि पहुँचाने की शक्ती नहीं रखता तो ही यदि वह अपनी रक्षा करने के लिये असमर्थ है तो उसे असहान राजा का आशय लेना चाहिये। पर यह स्थान अपनाता चाहिये कि जिस राजा का आशय सिद्ध जा रहा है, वह राज्य से अधिक शक्तीशाली हो। यदि इतना शक्तीशाली राजा न मिले, तो सबल

राज्य का प्रायव लेना ही उचित है। इस समस्या को संभव गुण कहते हैं। एक राजा से सधि करना और दूसरे से विग्रह करना ही भी भाव है।

शाकम्बाधि के अनुसार उपर्युक्त छः गुण केवल दो गुण—सधि और विग्रह—के अन्तर्गत धा सकते हैं। परन्तु कौटिल्य का कहना है कि परिस्थिति के कारण वे दो गुण अलग-अलग रूप में सेते हैं, इसलिये इन छः गुणों को अलग-अलग मानना ही उचित होगा।



राज्य के विग्रह युद्ध करने में राजा के बाह्य तीन शक्तियाँ होंगी चाहिये—उत्साह शक्ति प्रभाव शक्ति और मंत्र शक्ति। यदि राजा उत्साही और, अतिशयानी और मुद्रकता में प्रवीण होता है और प्रभाव शक्ति या भौतिक साधनों में प्रयुक्त तो भी वह युद्ध में विजयी होता है। यदि उसमें उत्साह

शक्ति नहीं है, केवल प्रभाव शक्ति है तो प्रकृत साधन इन्हीं रूप में वह शक्तिसाही राजा द्वारा हराया जा सकता है। भौतिक साधनों के अभाव में मंत्री या उत्साह-शक्ति अर्थ है। इस प्रकार इन तीन शक्तियों में उत्साह-शक्ति को कौटिल्य ने प्रधानता दी है।

सुधि अर्जित करने की नीति—

नये देश को जीतने की रीतियों का वर्णन कौटिल्य ने युद्ध-विजय के अन्तर्गत किया है। युद्ध विजय करने के पाँच तरीके हैं—

(१) उपजाय—वर्षात ऋतु के दान में अनेकोप पैदा करना। राज्य के अन्त में विजिबीयु की सर्वज्ञता का विज्ञापन करना देश शासकिकार का प्रचार करना कुशधरों को भेजकर जनता में राज्य की पराजय की भावना को ब्रूयना राजा की बबालुता का वर्णन करना आदि उपाय अयनाकर प्रजा को राजा के विरुद्ध उभाड़ना।

(२) योगसाधन—अपराध मूल पीठ से अन्न का नाश करना। अण्ड द्वारा राज्य को दुर्ग से बाहर निकालने के लिये विजिबीयु को तयस्वी ग्यायना

महत, घोड़ा हानी बेचने वाले के रूप में गुप्तधरों को मैत्रता चाहिये और उनके हाथ राजा का बंध कर देना चाहिये । सुमया-प्रमी कामी राजाओं को वह सातव बेकर नष्ट कर सकता है ।

दुग विजय की ५ रीति

- (१) उपवास (राज्य में असन्तोष)
- (२) घोरवासन (राज्य का नाश)
- (३) अघतर्ष (भिक्षियों को मैत्रता)
- (४) परपूषासन (घेरा डालना)
- (५) अकमह (आक्रमण करना)

(३) अघतर्ष—अर्थात् राजु राज्य में भिक्षियों को मैत्रता । विजिगीषु को चाहिये कि अपने विरुद्ध संबंधियों को हरेप रिगाकर राज्य से बाहर निकाल दे जिसमें वे राजु राज्य में आशय से राजु के विरुद्ध पाष हो जाय और अंत में उसका नाश कर सकें ।

(४) परपूषासन—अर्थात् बेच डालना । दुर्ग के चारों ओर पैदा डालकर राजु की रसद रोकना छोड़ी फसल नष्ट करना नागरिकों की हत्या करना और उग्र स्थान छोड़ने के लिये विवस करना ।

(५) अकमह—अर्थात् आक्रमण करना और विरुद्धपाठ हाथ दुर्ग पर विजय पाना ।

एक रीतियों को अपना कर विजयानितापी राजा राजु की सुमि पर कब्जा कर सकता है । राजु को समाप्त कर वह मध्यम राजा के राज्य को प्राप्त करने का उद्योग करे, उत्तरस्थात् उत्तरीय राज्य को । वृष्ठी पर विजय प्राप्त करने का यही मार्ग है ।

भीठी हुई सुमि को अपने बंध में करने के लिये राजा को नई प्रजा के प्रति दयानुता का व्यवहार करना चाहिये अपने गुणों को व्यक्त करना चाहिये और जिन लोगों ने विजय प्राप्ति में सहायता दी है, उन्हें सम्मान और प्रतिष्ठा देना चाहिये । अपने को बनता का शुभचिह्नक बनाने के लिये उसे उन्हे की भाषा, वैशंपुषा पिडाचार अपनाना चाहिये और उनके रीतिरिवाजों और अन्तर्गम में भाग लेना चाहिये ।

(७)

रोग की सुरक्षा

राज्य के सुरक्षा संबंधी विचारों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं । राजा और प्रजा की सुरक्षा जनरद को बनाना धार्मिक-समृद्धि और अन्तर्गमदीय उद्यम ।

राजा और प्रजा की सुरक्षा—

राज्य के लिये राजा की सुरक्षा सबसे आवश्यक है, इसलिये कौटिल्य ने युवराजों राजमहर्षिओं प्रमात्य प्रादि घसी से राजा की सुरक्षा का प्रावधान किया है। राजा को भोजन सदन उत्सवों में भाग लेने तथा चिकार प्रादि करते समय अपनी सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये। साथ ही उसे अपने कर्मचारियों को सन्तुष्ट रखने के लिये विभिन्न विभागों में सुसज्ज रखना चाहिये।

प्रजा की सुरक्षा के लिये भी युवराजों की नियुक्ति आवश्यक है। उसे अक्षय्य जनता को साम शान बंध और भेद द्वारा अपने पक्ष में रखना चाहिये। कंटक शोषण प्रतिकरण के अन्तर्गत वह उन अपराधियों के बंध करने की व्यवस्था बनाता है, जो व्यापारी शिस्तकार जाहूर के रूप में प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं। दुर्मिष्ट भाइ बगली जानवर प्रादि प्राकृतिक शक्तों से पीड़ित जनता की सहायता राजा को करना चाहिये। जो कर्मचारी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, उन्हें परन्तुष्ट करना आवश्यक होता है।

जनपद को बसाला—

नई भूमि को बसाने के लिये राजा को व्यवस्थित कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। इन नई भूमियों पर सूत्र कुपको के एक ही से लेकर पाँच ही कुटुम्बों का एक-एक गाँव बसाला उचित है। चार ही से साठ ही गाँव के बीच में एक बड़ा शहर और एक छोटा शहर बसाया जाना चाहिये जहाँ पर बुर्ज हों। इन्हीं के साथ सशोषण पथे अन्तिम परावों का भी विकास होना चाहिये। ग्रामीण-प्रमोद के साथ मनुष्य के लिये आवश्यक होते हैं, इसलिये इनका भी प्रावधान करना आवश्यक है।

नई भूमि बसाने में कौटिल्य का मुख्य उद्देश्य राज्य की सैनिक प्राधिकार और प्रशासकीय आवश्यकताओं को पूरा करना है। इन नई भूमि पर सुरक्षा के लिये मन्त्र-तन्त्र बुर्ज बनाये जायें।

प्राधिकार समृद्धि—राज्य के लिये कोष बहुत आवश्यक है। इसलिये यदि कोई सहायक धर्म नकट या पड़ ही राजा को कर बड़ाकर अपने राज्य का कोष बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार के कर न केवल कुपकों से ही लिये जायें बल्कि सभी जनपद निवासियों से इन्हीं का तृतीय या चतुर्थ भाग माँगना उचित होगा। सोना चाँदी और छोटे हाथी प्रादि व्यापारिक वस्तुओं से  $\frac{1}{2}$  भाग कर वच में लेना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं पर कर की दरें कौटिल्य

न ही हैं। मन एकत्रित करने के धीर भी दूसरे तरीके कौटिल्य ने बताये हैं जिन्हें हम नीतिक नहीं कह सकते। जैसे प्रजा में यह प्रसिद्ध कर कि इस स्थान पर भूमि छोड़कर देवता निकले हैं। मन एकत्रित करना या राक्षस का भय दिना कर जनता से रपया बसूम करना। एक जगह तो कौटिल्य यह भी लिखता है कि गुप्तचर बीस्य बनकर ज्ञय-बिज्ञय का व्यापार प्रारम्भ कर दे धीर जब सोच उठे बड़ा सैठ समझ कर अपने बहुमुख्य भ्रामुपण धीर भगव उसके पास समानत रख दें, या अपनी जया रजय उसे रोजगार में लगान मूढ पर उभार दें हैं तो राजा को उमरु घर में छोटी कराके सारा मन राज्य कोय में जमा करा देना चाहिये। कौटिल्य सिगठा है कि यह मन दुर्ग से ही लेना चाहिये जैसे सोग बाग से पक पके ही फल तोड़ते हैं जगी प्रकार राजा बुद व्यक्तियों को ही पकड़ धीर जहाँ स मन मग्रह करे। जैसे बर्षाके के कण्व पत्र तोड़ना उत्तम नहीं होता उसी प्रकार राजा अपने विनाश की प्रायदावण कोई ऐसा कण्व मन संघह न करें, जिससे प्रजा के कुपित हो जाने का भय हो।

अन्तर्गत्रीय सबय—

इसके अन्तर्गत कौटिल्य ने यह बताया है कि अशक्त राजा किस प्रकार अपने देश की रक्षा कर सकता है।

( ८ )

### कौटिल्य की बेन

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कौटिल्य के पूर्व कई अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी परन्तु कौटिल्य न अपने विचारों को इतने स्पष्ट धीर लक्षपूर्ण ढंग से रखा है कि उसका अर्थशास्त्र राजनीति पर सर्वप्रथम पुस्तक है। यह है धीर उसका प्रभाव न केवल राजनीति शास्त्र की पुस्तकों बल्कि साहित्य के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा है। स्मृति काण्व कोप दर्शन पर लिगी गई पुस्तकों में हम उसकी पुस्तकों के उद्धरण मिलने हैं महामारुत के राज धर्म मनु धीर गुड के नीतिमारों में अर्थशास्त्र। सिद्धान्तों को हमें स्पष्ट भनक दिता देती है।



## मैकियाबली

( १४६१—१४२७ )

- |                                   |                             |
|-----------------------------------|-----------------------------|
| (१) जीवन ।                        | (२) मैकियाबली तक राजवर्षन । |
| (३) कुम का सिधु ।                 | (४) अश्वयन की पीठि ।        |
| (५) मानव प्रकृति-सम्बन्धी विचार । | (६) नैतिकता और बर्म ।       |
| (७) राजा के आचरण ।                | (८) अश्व सिद्धान्त ।        |
| (९) राजवर्षन में स्थान ।          | (१०) मैकियाबली और कौटिल्य । |

( १ )

### जीवन

कौटिल्य के राजवर्षन के अश्वयन के पश्चात् हम मैकियाबली का अश्वयन प्रारंभ कर रहे हैं। यह भी एक संयोग की बात है—क्योंकि कौटिल्य और मैकियाबली के विचारों और दृष्टिकोणों में इतनी अधिक समानता है कि कौटिल्य को कुछ सोग पूर्व का मैकियाबली कहते हैं। दोनों ही राज्यशासन का वहीं बरतु शासन-तंत्र का अश्वयन करते हैं दोनों की ही पुस्तकें शासकों की दृष्टि से लिखी गई हैं, दोनों का ही उद्देश्य था नये राज्य को जीतना और राज्य में शांति और व्यवस्था बनाने रखने के लिये अल्पसंख्यकी केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना। अपने इस लक्ष्य को पूरा करने के लिये शासक कोई भी साधन अपना सकता है—उन साधनों तक को भी जो व्यक्ति की दृष्टि से अनैतिक दृष्टिये जाते हैं—क्योंकि नैतिकता और अनैतिकता की पारस्परिक व्यक्ति के लिये है, राज्य के लिये नहीं। राज्य नैतिक अनैतिक भावना से परे है।

दानों को ही शासन तथा वा व्यावहारिक अनुभव का धोर दलों न अनुभव पर ही ध्यान कर्त्तों को सिया है ।

मैक्रियावली का जन्म १८६६ म नटमी क प्रसिद्ध नगर फ्लोरेंस में हुआ था वा इस समय पुनर्जागरण ( ज्ञान क पुनरात्म्य ) का बन्द स्वस था । उसका पिता प्रसिद्ध वकील था धोर प्रमुखाधीन पढाने का बंधक । फ्लोरेंस म इस समय मैक्रियावली राजसत्ता क लोपो का शासन था धोर प्रारम्भ म मद्रिछी बस के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण मैक्रियावली क पुत्रता को बन्धीपूह में प्राण त्यागना पड़ वे । इस कारण मैक्रियावली धोर मद्रिछी क बरतनों म पानदायी दुःखनी थी । १८६२ म फ्रांस न फ्लोरेंस को चीत सिया धोर बहा करने धधीन मत्सुरात्म्य स्थापित किया । मणरात्म्य परिषद म मैक्रियावली का सचिव के रूप म काम करने का अवसर मिला । बाद ही रिलों म धरतों प्रतिभा धोर विद्रोहा के द्वारा न बबल फ्लोरेंस में बरत् विदेशों में भी उसने धरनी धाक जमा दी । फ्लोरेंस का अणुगत अधिका दिन न रह बाया । मैक्रियावली बंध के हाथ में फिर राजसत्ता था नई इसमिय मैक्रियावली देव स निवास दिया गया । इस काल में उनने प्रसिद्ध पुस्तक 'जिस' धोर 'डिसकोवेंड घोस लिबीन डिस्ट्री' लिपी । जिस लिखने का उसका उद्देश्य मैक्रिछी मण्य को धरने बस म करना था । परन्तु उसके इस उद्देश्य को पूर्ति न हो सकी । मैक्रियावली की धम्य को पुस्तकें धोर हैं 'दि घाटें घाक बार्' धोर 'डिस्ट्री घाक फ्लोरेंस को राजकीर्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही हैं । 'डिसकोवेंड' में उनन मणुकात्मक राज्यों की विगपतायें बताई हैं, परन्तु 'जिस' अधिका लोकाग्रिय है, धोर मैक्रियावली को स्थाति इती पुस्तक पर आधारित है ।

( २ )

अरस्तू से लेकर मैक्रियावली तक राजनैतिक दर्शन

मैक्रियावली के विचारों का अध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व हमें अरस्तू से मैक्रियावली तक की राजनैतिक स्रपाधों धोर विचारों के विकास का मौलिक परिचय प्राप्त कर लेना धरना हीना । उनको धोर अरस्तू नदर राज्यों क दाय निरु वे । उनका दर्शन सहाधी बुद्धियों का दर्शन था, इसमिये सत्सोप धोर मैक्रियावली भावना बर जोर देना उनके लिये स्वाभाविक था । उनका विचारों का सार यही था कि अधिका धरना नीतिक विद्वान राज्य में स्वरु ही कर

सकता है। परन्तु भरस्तू की मृत्यु के पश्चात् राजनैतिक परिस्थितियाँ इस तीव्रता से बढ़ती कि उनके विचारों का व्यावहारिक महत्व कुछ भी न रह गया। सिन्धु नदी महान साम्राज्य स्थापित कर नगर राज्यों को सोप कर दिया। उसके पश्चात् रोम का महान साम्राज्य आया। इन साम्राज्यों की शासन व्यवस्था में व्यक्ति का भाव सेना असम्भव था। इसलिये यह धारणा प्रचलित हो गई कि व्यक्ति अपना विकास राज्य से स्वतन्त्र व अलग रहकर कर सकता है। शासन व्यवस्था में सम्राट के हाथ ही सारी शक्तियाँ होना चाहिये वही न्याय शक्ति और नियमों का स्रोत है।

इसी जमाने ईसाई धर्म का प्राकृतिक हुआ जिसने लौकिक जीवन की अनेक पारलौकिक जीवन को महत्वपूर्ण बताया और यह कल्पना रखी कि संसार के साम्राज्यों से परे ईश्वर का महान साम्राज्य है, जिसमें सभी मनुष्य समान हैं चाहे वे बाघ हों या बर्बर जाति के। इसका प्रतिद्वन्द्वता ईश्वर है, जो ईश्वर विधियों और प्राकृतिक नियमों के द्वारा शासन करता है। इन विधियों का निष्पत्तय धर्म-युक्तकों में हुआ है और संसार में उसका प्रतिनिधि पोप है। इस प्रकार लोगों के सामने दो साम्राज्य थे—लौकिक जिसका सर्वोपरि शासक सम्राट था और ईश्वरीय जिसका सर्वोपरि शासक पोप था। इन दोनों साम्राज्यों के बीच शक्ति के लिये संघर्ष होना स्वाभाविक था। बाइबली और तेरहवीं शताब्दी में पोप लौकिक और पारलौकिक दोनों मामलों में

लौकिक्य की शक्ति संक्रियामन्त्री का भी केन्द्रीय विचार है सदात्त शासक।

संक्रियामन्त्री को कूटनीति का पूर्ण अनुभव था।

उसके पक्ष में : अस्त (राजतंत्र) --  
 जिसकी शक्ति धर्म विचारों द्वारा ही  
 (पक्षतंत्र) कि हिरदी धर्मोक्तियों से  
 कि धर्मोक्तियों का धार।

सर्वोपरि हो गया और विभिन्न राजा और सम्राट उसके अधीन। शक्ति महा क्रिस्ती को भी भंग कर सकता है और फिर सर्वोच्च शक्ति तो प्रकृति के लिये सबसे अधिक उत्तरदायी है। पोप के भद्र शासन के विरुद्ध चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में ही धारावाहक उठाई जाने लगी। जिससे धार्मिक-सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए। परन्तु अभी भी सुधार आन्दोलनों का दुग नहीं आया था।

पाँचवाँ शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का काल मध्ययुग कहलाता है। इसके उत्तरार्ध को संवकार युग कहते हैं, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान

सुख ही पये थे, समाज अचिन्तित पर चल रहा था, राजनैतिक जीवन स्थानीय हो गया था और अधिकतर लोगों को अपने गाँव को छोड़ बाहरी दुनियाँ का कुछ भी ज्ञान न था। शासकमण्डल का शासन न होने से लोगों का अत्यन्त घोर जीवन स्थानीय हो गया था। गाँव का जमींदार सब कुछ था। प्रजा का राजा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था बहू तो केवल जमींदार को ही जानती थी। इस प्रकार मध्य युग का सामाजिक जीवन स्थानीय और सार्वभौमिक था। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हम राष्ट्रीयता की भावना की भूमक दिखाई देने लगती है। स्थानीय जीवन की भावना ने उनमें स्थानीय ऐतिहासिक घोर विचारधाराओं के प्रति निष्ठा पैदा कर दी थी। इसलिये जब से जड़े-जड़े जमींदार सम्राट और पीप से मुक्त होकर स्वयं अपना राष्ट्रीय राज्य बनाते लगे। सोनहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्य और निरनुप राज्यधारा का सम्मुख हुआ और प्राकृतिक युग की नींव पड़ी।

प्राकृतिक युग की विशेषता है राष्ट्रीय राज्य और संप्रभुता की पारलान। प्राचीन युगात्त में अरर राज्य से मध्य-युग में विश्व-शासक्य की कल्पना भी इसलिये प्राचीन और मध्य युग की राजनैतिक संस्थाओं हमारे प्राकृतिक युग की राजनैतिक संस्थाओं से भिन्न थी। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय राज्य और संप्रभुता की भावना का सम्मुख होने लगा था। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी मध्य युग और प्राकृतिक युग का संक्रमण काल है। मैकियावली इसी संक्रमण-काल में लिख रहा था इसलिये मैकियावली जहाँ मध्य-युगीन धाराओं को व्यक्त करता है वहाँ वह महीन युग का भी प्रकृतिक है। मैकियावली के विचारों को समझने के लिये हमें मध्य-युग और प्राकृतिक युग की प्रमुख विचारधाराओं को समझ लेना आवश्यक है।

मध्य-युग और प्राकृतिक युग—

मध्य-युग के अन्त में समाज का जीवन मानिक शिक्षाओं द्वारा संभावित होता था। लोगों का एकमात्र उद्देश्य था प्राप्त करना था इसलिये इनका ध्यान एक लोको को प्रेरणा परलोक की घोर धारिक था। मनुष्य को नियमों के द्वारा शासित होता था मानवीय नियम जितने बड़े धारें इन लोक के जीवन की अचिन्तित पर संकता था, और ईश्वरिय नियम जितनी महत्ता से बड़े धारें परलोक लुपार संकता था। मानवीय नियम का संभावित लोकि संकटा विषय करता था और ईश्वरिय नियमों का अर्थ घोर संकटा अतिनिधि लेने। यद्यपि इन दोनों का अर्थ स्वर्ग या परलु मध्य युग की

सामाजिक व्यवस्था और विचारों के अनुसार पोप और ईसाई नियमों का स्थान सम्राट और लौकिक नियमों से ऊपर था। इस युग में आबागमन के शासनों के प्रभाव के कारण जीवन स्वामीय था और सोम रूप-मनुष्य के। व्यक्ति का अपना किसी महत्व नहीं था। वह धार्मिक नियमों सामाजिक नियमों और परंपरा का दास था।

मध्य-युग की विचार-धाराओं और जीवन को समाप्त करने का अर्थ रिनासेन्स (ज्ञान का पुनरोद्भव) और रिफॉर्मेशन (धार्मिक सुधार आंदोलन) को है। रिनासेन्स का प्रारंभ प्लेटिन से हुआ जहाँ मीक्रियावली पैदा हुआ था। इसलिये रिनासेन्स की पूरी प्रकृति में मीक्रियावली से व्यक्त होती है। सुधार आन्दोलन मीक्रियावली के पश्चात् प्रारंभ हुआ इसलिये इन आन्दोलनों का प्रभाव मीक्रियावली के विचारों पर नहीं पड़ा। यद्यपि कुछ ही वर्ष पूर्व ही ग्रीस और रोमन साहित्य का प्रचार यूरोप में हो चुका था परन्तु पत्र-पत्रों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़नी बार व्यक्त हुआ। ग्रीक-रोमन साहित्य तथा दर्शन के अध्ययन से किर नहीं अध्ययन होती प्रारंभ हुई जो इन प्लेटो व धरस्तू में पाते हैं। प्लेटो व धरस्तू व्यावहारिक जगत से संबंध रखते थे। व्यक्ति की स्वतंत्रता उनके दर्शन में विद्येय स्थान रखती है। इनके प्रभाव के कारण इस युग में किर परसोक की ध्येया इस लोक पर ध्यान दिया गया। ईसाईय नियम और ईसाईय

मक्रियावली तक सामाजिक दशा धरस्तू की धृष्ट के पश्चात् व्यक्ति की शक्तिता राज्य से लब्ध न रही। मध्ययुग में ईसाईय राज्य की कल्पना प्रारंभ हुई जिसका इस लोक में पोप प्रतिनिधि माना जाता था।

इसलिये मध्ययुग में दो साम्राज्य और दो नियमों की धारणा थी— ईसाईय राज्य और ईसाईय नियम तथा लौकिक साम्राज्य और सम्राट के नियम। जनता धार्मिक थी इसलिये पोप सम्राट से शक्तिशाली था।

अध्ययन का जीवन सामान्यतया ईसाईय व धर्मविश्वास में पूर्ण था।

धार्मिक युग ज्ञान के पुनरोद्भव से प्रारंभ होता है इसकी विशेषता है राष्ट्रीय राज्य। सोलहवीं शताब्दी में निरंकुश राजतंत्र स्थापित हो गये और व्यापारी वर्ग की शहायता से सामंत शक्ति समाप्त होने लगी तथा वर्ग का महत्व गिर गया।

साम्राज्य के स्थान पर किर मानवीय नियम और समाज का अध्ययन प्रारंभ हुआ। मनुष्य और प्रकृति संस्थाओं अध्ययन का नेत्र बन गई। इन नये सिद्धांतों में धरने मत की पुष्टि के लिये बाइबिल के सिद्धान्त को नहीं

बल इतिहास अनुभव और व्यवसाय को कमीटी बनाया गया। इस प्रकार ज्ञान का फिर से उदय हुआ। क्रोमवेल ने इसी युग में अमेरिका को खोजा या परन्तु क्रोमवेल तो केवल एक प्रतीक मात्र है, क्योंकि यह पूरा समाज ज्ञान की नई दुनिया का पता लगा रहा था। बड़े-बड़े जहाज बुर-बुर देणों से व्यापार करने लगे थे इसलिये दुनिया अब पाँच या जमींदार के क्षेत्र तक ही सीमित न थी। दूर दूर से व्यापार करने के लिये नये व्यवसायी वर्ग का अस्तित्व हुआ जिसमें प्रथम अंग्रेजों का, जो नये-नये उद्योगों के लिये नये-नये व्यापारिक जल और स्थल मार्ग ढूँढ रहे थे। इस वर्ग को व्यापार के नियम सुरक्षा की आवश्यकता थी। सामंतों के स्थानीय नियमों से काम नहीं चल सकता था इसलिये वे राजा की सहायता चाहते थे। इस राजा भी योग्य ही सत्ता से युक्त हो रहे थे और अपनी प्रभुता स्थापित करने में लगे थे। व्यापारी वर्ग की सहायता से उन्हें सामंतवाद को भी समाप्त करने का अवसर मिल गया इस प्रकार राजा और प्रजा का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया। तीसहरी अठारवी निरंतुच राज्यों की अठारवी है।

स्थानीय-धीरज और नियमों ने राष्ट्रीयता की भावना को भी उभाड़ा था इसलिये मध्य-युग के महान साम्राज्यों के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने लगे। इन राष्ट्रीय राज्यों में योग्य नहीं, राजा अग्रभूत था। इसी कारण आधुनिक युग का राजनीतिक चिन्तन राष्ट्रीय राज्य और संभ्रमण से सम्बन्ध रखता है। अग्रभूत लोकिकवादी राष्ट्रीय राज्य के अस्तित्व से ही मध्य-युग समाप्त होता है और आधुनिक युग प्रारम्भ होता है।

इन युग के निरंतुच राजतंत्र बल पर आधारित थे। इन राजतंत्रों ने सामंतवाद और मध्ययुगीन सर्वपात्रितावाद को समाप्त कर दिया और वर्ग पर ही ध्यान प्रमुख बना दिया।

वीरक्रियावली का तीसरा राजनीतिक व्यवस्था—

इन प्रकार के अयोग्य अज्ञानकारी राजाओं का अस्तित्व पान स्पेन और इटली में ही हुआ था और इन घामकों के अंतर्गत इन देशों में बड़ी उन्नति हो थी। इटली और स्पेन का तो यह अज्ञान काय था। इन देशों का जहाज बुर-बुर देणों से व्यापार करने और राष्ट्र की समृद्धिप्राप्ति बना रहे थे। इनकी नैतिक शक्ति भी बड़ी बड़ी थी। परन्तु इस समय इतनी ही बड़ी बुरी दशा थी। इतनी इस समय पाँच बड़ी बड़ी रिपब्लिकों का बँटा हुआ था। वैदिक और पुरोहित में अज्ञान राज्य से और वैदिक तथा विज्ञान में सामंतों का

राज्य था। इन छोटे-छोटे राज्यों में सर्वत्र युद्ध होते रहते थे और इन प्रायसी सझाइयों का सबसे अधिक धाम पोष उठाते थे क्योंकि राज्य शासकों की अपेक्षा

पोष अधिक दृष्ट नीतिज्ञ होता था।

समकालीन राजनैतिक परिस्थिति  
 स्पेन अंत और इंग्लैंड के  
 राष्ट्रीय राज्य समस्त राजतंत्रों के  
 प्राचीन क्षमति कर रहे थे परन्तु  
 इटली में मेडिसि गिनाल के सामन्तों  
 वेनिस और फ्लोरेंस के मन्तव्यों और  
 रोम के पोप के बीच समर्थ चल  
 रहा था।

इटली राजनैतिक दृष्ट, बह्यंग  
 अन्वेषण का घर था।

पर फ्लोरेंस है ही ज्ञान का  
 पुनरोदय प्रारम्भ हुआ जिसने  
 मैक्सिमिली को व्यक्तिवादी मानवता-  
 वादी और राष्ट्रवादी बनाया।

की। परन्तु यहाँ हम कह चुके हैं इटली ज्ञान के पुनरोदय का केन्द्र  
 था। मैक्सिमिली बड़ा बेधमल्ल था वह इटली को एक समृद्ध राष्ट्र  
 बनाना चाहता था। रिलासेन्स की मनीन बाधुति ने उसे व्यक्तिवादी  
 मानवतावादी और इस सोच में विमलस्वी रखने वाला बना दिया था।  
 जैसे भी हो देश महान हो जाये। शासक को यदि धर्मनैतिक साधन भी  
 उपलब्ध पड़ते हैं, तो इस समय के विषे उनके अनुचित होने का प्रसन्न नहीं  
 उठता। मैक्सिमिली इटली की इस विधि हुई राजनैतिक सामाजिक और नैतिक  
 दुःखवस्था फ्लोरेंस में ब्रह्म रिलासेन्स की भावना और प्राधुनिक युग के पनपते  
 हुए राष्ट्रीय राज्य की भावनाओं एवं भावों को व्यक्त करता है। वह अपने मुन  
 का सिधु था।

पोप के कारण अन्य पड़ोसी राष्ट्रीय  
 राज्य भी इटली पर आक्रमण कर  
 इन छोटे छोटे राज्यों को समाप्त कर  
 इटली में एकठा स्थापित करने में  
 प्रसमर्थ थे। पोप में भी वह शक्ति  
 नहीं थी कि वह सारी इटली को अपने  
 नियन्त्रण में कर इटली का राष्ट्रीय  
 राज्य स्थापित कर सकता। फिर पोप  
 का इतना प्रोग विलास मन् जीवन  
 हो गया था कि जनता उसका शासन  
 बेटी। सारा इटली बह्यंग अन्वेषण  
 और दृष्टनीति की प्राय में चल रहा  
 था। राजा और पादरियों की तो  
 बात ही क्या साधारण जनता भी  
 नैतिक प्रादेशों की अपेक्षा कर रही

युग का सिमु

बल् हम मैक्रियाबसी को अपने युग का सिमु कहते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल यही होता है कि अल्प दार्शनिकों की अथेता जम पर समकालीन परिस्थितियों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था क्योंकि सीमित अर्थ में जेटो अरस्तू कीटिस्य सभी अपने युग के सिमु थे । परन्तु जहाँ इन सेक्टरों की अतिवा जाहे वे किसी वेद्य या काम में लिखी जातीं अपने महत्त्व रणतीं जहाँ मैक्रियाबसी को अोलहसी अतासी ही महान दार्शनिक बना लकती थी । अपर हम उसके विचारों को देखें तो इनका के ये अरर कि मैक्रियाबसी अपने समय का सिमु है, और जोस का ये विचार कि मैक्रियाबसी रिनासेन्स और फ्लोरेस का सिमु है, पूरे अही अररते हैं—

(१) बहु असीमित राजतंत्र के पक्ष में था—

अल्प युग में सीमित राजतंत्र और सीमित पोप-अता के अान्दोलन असे ये परन्तु अोलहसी अतासी से इङ्ग्लैण्ड से हेनरी सप्तम अरंभ में मुई अ्यारहवें और स्पेन में फर्डिनेण्ड ने असीमित राजतंत्र और राष्ट्रीय राज्य अ्पावित कर लिये थे । इन अर्थों के अन्तर्वत इन राज्यों की अप्रति भी हुई थी । मैक्रियाबसी अपनी कुस्तक अिन्स में इटली की अल्पअस्था अडाचार अर्यथ क अरर असीं अहाता है और असीमित राजतंत्र अ्पावित करना चाहता है । इतिअोर्मेज में बहु अण अत्र को अज्जलन की अथेला अर्यथ महअठा है परन्तु इटली में अोगों का इतना अैतिक पतन हो अुका का कि मैक्रियाबसी जो अणअत्र को अडाचार मुक्त अोगों का तंत्र अमअता है असे अाअविक परिस्थितियों से अजकुक्त नहीं अमअता । इटली के अोग भी अडाचारी थे परन्तु मैक्रियाबसी के अनुसार पोप ने अापअिर्षों का अैतिक पतन कर दिया है और जही अारी अणअत्रता के निय अतरदायी है । अमलिये बहु अण की अता के अिअ है और पोप और अर्थ को राज्य के अन्तर्वत रगना चाहता है । बहु अिगना है

“अह अोजने हण अारअर्थ होता है कि अिअिअुटम के अिरकुअ अामन से मुक्त होकर अो अर्थ के अीअर ही अ्पेअ ने अड़ी महानता अ्राप्त की थी । अमने भी अअिर अारअर्थअनक अाअ रोम को बहु महानता है जो राजाअों से मुक्ति अारर रोम ने अ्राप्त की थी । अर इअता अारण अर है, क्योंकि अ्यलिअत अप्रति नहीं अरन् अार्वजनिक अप्रति राज्यों को महान बनाती है और अाअजनिक



उच्चति केवल मण्डलों में ही हो सकती है पर इस समय कोई भी परिवर्तन पाहे वह किटना ही तीव्र वा महान हो मिसाम तैपित्त को स्वतंत्रता वापिस नहीं दे सकता क्योंकि इन राज्यों के सभी शासनी बिल्कुल भ्रष्ट हैं..... (घोर) उन देशों से हम किसी सभार्थ की आशा नहीं कर सकते जो भ्रष्ट हैं विशेष कर इटली जैसे देश से। फ्रांस और स्पेन में भ्रष्टाचार है, लेकिन यदि हम उनमें इतनी व्यवस्था घोर आपराधों नहीं देखते जितनी इटली में तो यह वहाँ के शासकों की सभ्यता के कारण नहीं जितना इस बात के कारण कि इन राज्यों में राजा हैं जो अपने पुरुष से उन्हें एक बनाये हैं। १

राज्य को सचिन्ताशी बनाने के लिये वह असीमित राजतन्त्र चाहता है और देश का व्यापार बढ़ाना। इस प्रकार असीमित राजतन्त्र की बनाने वाली शक्ति को मीकियावेली व्यक्त करता है।

### (१) समकालीन परिस्थितियों का प्रयत्न—

मध्य-युग में साय ज्ञान और साय दर्शन प्रागम पद्धति (Deductive Method) पर आधारित था। वैज्ञानिक विधि और प्राकृतिक विधि के आधार पर प्राय सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये थे। धर्म पुस्तकों को पूर्ण मान्यता थी। परन्तु सीमावर्ती सत्ताशी ज्ञान का पुनरोद्भव काम था जिसमें नई प्रत्यक्ष रीतियाँ प्रारम्भ हुई थीं। मीकियावेली व्यावहारिक ज्ञान का व्यक्त था। उसे यूरोप की दृष्टीति का प्रत्यक्ष अनुभव था और उसने समकालीन दृष्टीति और सरकार का बड़ा सूक्ष्म प्रयत्न किया था। वह शिष्ट के संबंध में अपने एक दिन को लिखता है कि 'मैंने राजतन्त्र के प्रत्यक्ष में जो पन्द्रह वर्ष बनाये थे वे बेकार नहीं गये। इसमें मैं उन अनुभवों को ही [रख रहा हूँ]।' मीकियावेली किसी पूर्ण मान्य सिद्धान्त को लेकर नहीं चलता। इसीलिये जीवित लिखता है कि वह सभी पद्धतियों में सार्थक न था 'वह वास्तव में कार्य व्यस्त व्यक्ति वा जितने बहुत से शायों के बीच समय निकाल कर मसारा के घोर अनुभव के अपने अनुभवों को लिखने का प्रयत्न किया है परन्तु जिसमें इन अनुभवों को एक क्रम बद्ध सिद्धान्त के रूप में सगठित करने की न तो प्रवृत्ति थी और न क्षमता ही।

### (२) रिनासेन्स का प्रभाव—

रिनासेन्स अपने विचारों की प्रेरणा घीम और रोम की सम्प्रदायों से लेता है और मध्ययुगीन विचार पाठ की ओर लौटता करता है। वह प्रति प्राकृतिक

सैकिय खंडता के आदरों में विश्वास नहीं करता और न ईश्वर को अपने चिंतन का विषय बनाता है। रिनासेम मनुष्य और मानवीय सस्थाओं में विश्वास करता है और इसलिये उसके अनुसार जीवन प्राकृतिक शक्तियों का नतिपील नाटक है। मनुष्य अपनी शक्ति द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकता है, इसलिये उसे परंपरागत विचार और नीतिकता का मुताम नहीं होना चाहिये। इस नई विचार धारा में व्यक्ति की महत्ता स्पष्ट दिखाई देती है। सैकियावली मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रधानता देता है और नीतिकता संबंधी नई पारणायें बनाता है। उसके अनुसार जीवन की सफलता मनुष्य अपनी शक्ति और कार्य करता है प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का शरय स्वयं या मोक्ष नहीं है, बरन् क्याति सम्मान और यश है। इन्हें प्राप्त करने के लिये मनुष्य में शक्ति चाहिये। परन्तु शक्ति और बल जीवन की सफलता के लिये केवल साधन-मात्र नहीं हैं, शक्ति और बल स्वयं साध्य हैं, क्योंकि शक्ति और बल मनुष्य में संतोष पाते हैं और इनसे शौर्य मिलता है। सबसे बड़ी शक्ति है दूसरे मनुष्यों के ऊपर प्रभुत्व जमाना इसलिये शासन कार्य सर्वोप है। मध्ययुग और सैकियावली के विचारों में फिक्ता अन्तर है, यह इसी से मान्य होता है कि जहाँ मध्य युग का प्रसिद्ध सिक्क एन्जुनस राजनीति को धारणा के लिये आधारक मानता है, वहाँ सैकियावली राज शक्ति को दूसरों पर अधिकार जमाने के लिये आधारक समझता है। सैकियावली के अनुसार न तो मनुष्य में ईश्वरीय गुण है और न वह एक नीतिक प्राणी है; वह एक जानवर है और जानवरों की आभावी और शूखार प्रवृत्ति ही उसमें दिखाई देती है। मनुष्य का एकमात्र शरय नारनीकिक जीवन नहीं बरन् इस जीवन में सफलता पाता है और इस उदय की पूर्ति के लिये कोई भी साधन अपनाये जा सकते हैं। सैकियावली भी जीवन का शरय व्यक्ति के सामने रखता है परन्तु उसके जीवन का शरय वह धर्म जीवन नहीं है जिसे प्लेटो तथा मध्ययुग के मन्त्रों ने मान्य रखा था।

#### (४) इटली और रोम—

सेबार्न सिगता है कि यद्यपि सैकियावली का राजनीतिक विचार स्पष्ट और व्याक ये परन्तु वह बास्टर में मोनर्की राजावती के प्राथमिक वर्णों का दृष्ट नियम ही था। धरम उनमें किसी अन्य देव या बाल में धरमी रचनाओं की होंगी तो उनकी राजनीति संबंधी धारणाएँ भिन्न होतीं। इसमें सदेह नहीं कि सैकियावली इटली की राजनीतिक परिस्थिति से प्रभावित है। रिनासेम ने जो व्यक्तियाने धारणा प्रसारित कर दी थी उसके अनुसार व्यक्ति के कार्यवन्तों

के लिये सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक संस्थाएँ उत्पन्न नहीं हुई थीं। इटली में राष्ट्रीय राज्य प्रोटेस्टेंटिज्म और पुँबीवाद का भ्रमी अनुभव होता था। इस

### युग का शिक्षा

- (१) धर्ममिश्र राजतंत्र का हस्तुक।
- (२) रिवाजों की नई अध्ययन पद्धति को अपनाये वाला।
- (३) रिवाजों मनुष्य की क्षति में विश्वास करता है, ईश्वरवादी सांसारिक क्षति, सम्मान या धन को मनुष्य का मह्य मानता है।
- (४) इटली के स्वामीहीन मनुष्य का धार्मिक।

लिये इस व्यक्तिवादी भारत में इस देश और काल में मनुष्य को निर्मूलकहीन और सन्न बना दिया था। इटली की राजनैतिक व्यवस्था ने मनुष्य के भ्रष्टाचार और कूटनीतिज्ञता को जमाव दिया था। इटली के पतन के वे सबसे बुरे दिन थे और इसका एकमात्र कारण था पौर। यह शिक्षता है "हम इटैलियन रोम की वर्ष और उसके पुजारियों के कारण ही धार्मिक और बुरे हो गये हैं। वर्ष को हम एक बात के लिये और

बुरी है—और नही बात हमारे विषय का कारण है—कि वर्ष ने हमारे देश को विनाशित रखा है और रक्त रही है। इटली का समाज धर्मनिरपेक्षता का घर था। पुरानी सामाजिक संस्थाएँ समाप्त हो गई थीं। निर्दयता और हत्याओं की प्रथाएँ थीं। धन और शक्तिवादी संकलता की कुँबी थी। मनुष्य स्वच्छ था। उसके ऊपर कोई समाज का निर्भरण न था। इसीलिये देवाहन ईश्वरवादी को स्वामीहीन मनुष्य का राजनैतिक धार्मिक कहता है।

( ४ )

### ईश्वरवादी की अध्ययन रीति

ईश्वरवादी ऐतिहासिक रीति को अपनाता है, इसलिये उसकी इतिहसों में मध्ययुगीय सतों के विचारों और सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं है। उसने पीछ और रोम के इतिहास का अध्ययन किया था परन्तु ईश्वरवादी की रीति को हम ऐतिहासिक नहीं अनुभववादी कहें क्योंकि उसने सतकामीन राजनैतिक परिस्थिति के अध्ययन में अपने अनुभवों को ही ध्यस्त किया है और उनकी पुष्टि करने के लिये उसने इतिहास के उदाहरणों को सम्मने रखा है। प्राचीन संस्थाओं या विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने सिद्धान्त प्रतिपादित

नहीं लिये। सब बात तो यह है कि ईशियाबली कोई सार्जनिक न था। उसकी कृतियाँ राज्य के दर्शन से नहीं नूतनीति के साहित्य से संबंधित हैं। इसी कारण ईशियाबली नूतनीतियों का शास्त्रकार है। इसी कारण वह राज्य के उद्देश्य स्वरूप आदि की चर्चा नहीं करता। उसके लिये राजनीति स्वयं साध्य है। नीति के लिये वह शासन पर सिलता है, उन नीतियों और नीतियों का विवेचन करता है, जिनसे शक्ति बढ़ाई जा सकती है और राज्य को पतन से बचाया जा सकता है। पत्राचार के सफलता और शक्ति का विस्तार ही सब कुछ है। चाहे हम ईशियाबली के सिद्धान्तों की विवेचना प्रथम करें परन्तु इन सिद्धान्तों को ईशियाबली ने उमरूप में नहीं रखा है जिस रूप में हम उनका अध्ययन करेंगे। वह सफलता को अन्तर्गत सामग्री मानता है, परन्तु सफलता केवल नीतिक व्यक्तियों के लिये है। पत्राचार व्यक्तियों के लिये वेबल राजतन्त्र ही उपयुक्त हो सकता है। हमें आशा होने लगती है कि ईशियाबली मनुष्य के इस पतन के कारणों की चर्चा करेगा और राजतन्त्र के सफलता में परिवर्तित होने के लिये भी बतलायेगा। परन्तु हमारी आशा पर पानी फिर आता है। यह भी कहा जाता है कि ईशियाबली ने प्रिन्स को मेडिची का इनाम बनाने को सिखाया। इसलिये सफलता में विश्वास करते हुए भी इसे राजतन्त्र को अन्तर्गत बताना पड़ा था। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि ईशियाबली सिखाता है कि रिजर्वों के ही विचार हम प्रिन्स में प्रतिबिम्बित होते देखते हैं। चूंकि ईशियाबली का उद्देश्य राज्य के स्वरूप की चर्चा करना नहीं था बल्कि उन नीतियों को बताना था जिनसे राज्य शक्तिशाली बनाना जा

### अध्ययन रीति

वेबल शासनतन्त्र का अध्ययन करने वाला।

अनुभवकारी। इतिहास का प्रयोग पूर्व विनिश्चित धारणाओं की बुद्धि हेतु।

है। हमें वेबल अनुभव के वे व्यावहारिक और नीतिगत नियम हैं जिनके नियम जो नियमों के लिये प्रयोगशाळा में धरे उतर चुके हैं।

सकता है, इसलिये उसमें कोई अध्ययन की रीति नहीं बननाई। वह अनुभव का ही रहा और अपने अनुभवों की ही शक्ति रहा। मेन्सी का कहना ठीक है कि "दुर्लभ छोटे धारणाओं में सुन्दर बुने सिद्धान्तों की विचारों और जटिल बातों की कोई स्थान नहीं

के लिये सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक संस्कारों उत्पन्न नहीं हुई थीं। इटली में राष्ट्रीय राज्य प्रोटेस्टेंटिज्म और पुँबीवाद का धनी सम्बुद्ध होना था। इस-

### युग का शिष्ट

- (१) असीमित राष्ट्रवाद का इच्छुक।
- (२) रिनासेंस की कई अध्ययन बढ़ति को अपनाते बलता।
- (३) रिनासेंस मनुष्य की शक्ति में विश्वास करता है मीकियावेली सांसारिक क्वालि, सम्मान या बल को मनुष्य का लक्ष्य मानता है।
- (४) इटली के स्वामीहीन मनुष्य का धार्मिक।

लिये इस व्यक्तिवादी भाव ने इस देश और काम में मनुष्य को निर्बन्धहीन और उग्र बना दिया था। इटली की राजनीतिक व्यवस्था ने मनुष्य के भ्रष्टाचार और दूटनीतिज्ञता को ज्वाल दिया था। इटली के पण के ये सबसे दुरे रिग थे और इसका एकमात्र कारण था पीप। वह निश्चय ही हम इटैलियन रोम की चर्च और उसके पुँवारियों के कारण ही धार्मिक और दुरे हो गये हैं। चर्च को हम एक बात के लिये और

कहती हैं—और यही बात हमारे विषय का कारण है—कि चर्च ने हमारे देश को विभाजित रखा है और रक रखी है। इटली का समाज धर्मनिरपेक्षता का घर था। पुँवनी सामाजिक संस्कारों समाप्त हो गई थी। निर्बन्धता और हत्याएँ निरपेक्ष की बटमारों थी। बस और पालसाही सफलता की दुँबी थी। मनुष्य स्वच्छ था। उसके ऊपर कोई समाज का नियंत्रण न था। इटैलिये सिबाइल मीकियावेली को स्वामीहीन मनुष्य का राजनीतिक धार्मिक कहता है।

( ४ )

### मेकियावेली की अध्ययन रीति

मीकियावेली ऐतिहासिक रीति को अपनाता है, इसलिये उसकी इच्छियों में मध्ययुगीय चर्चों के विचारों और सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं है। उसने पीप और रोम के इतिहास का अध्ययन किया था परन्तु मीकियावेली की रीति को हम ऐतिहासिक नहीं अनुभववादी बनें क्योंकि उसने समकालीन राजनीतिक परिस्थिति के सर्वत्र म अपने अनुभवों को ही ध्यस्त किया है और उनकी पुँटि करने के लिये उसने इतिहास के उदाहरणों को सामने रखा है। प्राचीन संस्कारों या विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने सिद्धान्त प्रतिपादित



के लिये सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक संस्कारों उत्पन्न नहीं हुई थीं। इटली में राष्ट्रीय राज्य प्रोटेस्टेंटिज्म और पूर्णबीबाह का अभी सम्बुद्ध होना था। इस

### युग का सिधु

- (१) धार्मिक राजतंत्र का इच्छुक।
- (२) रिवाजों की नई अध्ययन प्रवृत्ति को अपनाते आता।
- (३) रिवाजों से मनुष्य की धृति में विश्वास करता है मैक्रियावसी सांसारिक क्षमति, सम्मान या बल को मनुष्य का लक्ष्य मानता है।
- (४) इटली के स्वामीहीन मनुष्य का वास्तविक।

लिये इस व्यक्तित्वाधी पात्र ने इस देश और काल में मनुष्य को निर्ममखड़ीन और उग्र बना दिया था। इटली की राजनैतिक प्रवृत्ति ने मनुष्य के भ्रष्टाचार और कूटनीतिज्ञता को प्रसार दिया था। इटली के पतन के ये सबसे बुरे दिन थे और इसका एकमात्र कारण था पोप। वह बिस्तरा है 'हम इन्सिमिल रोम की वर्ष और उसके पुत्राधिकों के कारण ही धार्मिक और बुरे हो गये हैं। वर्ष को हम एक बात के लिये और

बूझी है—और बड़ी बात हमारे विम्वंस का कारण है—कि वर्ष ने हमारे देश को विभाजित रखा है और रक्त रही है। इटली का समाज धर्मनिरपेक्षता का घर था। पुरानी सामाजिक संस्थाय समाप्त हो गई थीं। निर्बन्धता और हत्याओं की प्रवृत्ति की बट्ट्याओं थीं। बल और जानसाजी सफलता की कुंजी थी। मनुष्य स्वच्छन्द था। उसके ऊपर कोई समाज का नियंत्रण न था। इसीलिये सिबाहन मैक्रियावसी को स्वामीहीन मनुष्य का राजनैतिक वास्तविक कहता है।

( ४ )

### मैक्रियावसी की अध्ययन रीति

मैक्रियावसी ऐतिहासिक रीति को अपनाता है, इसलिये उसकी दृष्टियों में मध्ययुगीय सत्तों के विचारों और सिद्धान्तों को कोई स्थान नहीं है। उसने ग्रीस और रोम के इतिहास का अध्ययन किया था परन्तु मैक्रियावसी की रीति को हम ऐतिहासिक नहीं अनुभववादी बनें क्योंकि उसने समकालीन राजनैतिक परिस्थिति से संबंध में अपने अनुभवों को ही व्यक्त किया है और उनकी पुष्टि करने के लिये उसने इतिहास के उदाहरणों को सामने रखा है। प्राचीन संस्थाओं या विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने सिद्धान्त प्रतिपादित

इस प्रकार मैक्रियावली के अनुसार एक बुद्धिमान शासक अपनी शासन की नीति को इस आधार पर निर्मित कर सकता है कि मनुष्य स्वभावतः बुरा है। चूँकि मनुष्य गुरुरा आह्ला है, इसलिये राजा को व्यक्ति की संपत्ति और उसके जीवन को सुरक्षित करना चाहिये उसकी शौरतों से घसम रहना चाहिये। अपनी संपत्ति से मनुष्य को विशेष प्रेम है। मनुष्य अपने पिता के हत्यारे को घासानो से क्षमा कर सकता है पर उत्तराधिकार में किसी संपत्ति के अपहरण करने वाले को नहीं। इसलिये बुद्धिमान शासक व्यक्ति की हत्या मगे ही करे पर उसकी संपत्ति को न लूटे।

मनुष्य में पाई जाने वाली प्रतिद्वन्द्विता और सपर्प की भावना का उद्बोध बुद्धिमान शासक राज्य को स्थायी बनान में भी कर सकता है। क्योंकि जब दो लोगों के बीच लिबाव होमा ठो सतिशाभी राजा उन्हें समुचित निर्बंधण मरक उनमें संतुलन पैदा कर सकता है।

वास्तव में मैक्रियावली मनुष्य की प्रकृति का इस प्रकार का कोई बमबड सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करता जिस तरह हमने ऊपर दिया है। इटली के पठित समाज में रहने वाले व्यक्ति की जो चर्चा बह करता है उसने आधार पर ही हमने उसके मानव-चरित्र की धारणा बनाई है। अंत और स्पेन के संघर्ष में लिखते हुए ही बह कहता है कि कबल असीमित सत्ताधारी राजा हो मरानकता को समाप्त कर सकता है।

मनुष्य में बह सहभावना सामाजिकता और धरुध गुण भी देगता है क्योंकि बह सिधता है कि अर्मनी और श्विडजरलड के नागरिकों में समाज के प्रति निद्रा है, इसलिये बहूँ गणतंत्र

मानव चरित्र-बिबल इटली के स्थापित हो सके हैं। पर इटली जैसे पठित समाज के व्यक्तियों पर पठित समाज का उद्धार केवल निरंभुय धारक ही कर सकता है। मनुष्य के

मनुष्य स्वार्थी इसलिये प्रति चरित्र का बमबड अप्ययन न होने के और स्वार्थ के लिये उनमें धारपरिद कारण मैक्रियावली मरु मरु बनाता कि सपर्प।

पठित मनुष्य जैसे धरुध बम सवना है और धरुध मनुष्य पठित क्यों हो जाता है। मनुष्य की सामाजिकता और सहभावना की चर्चा उनमें केवल प्रगदकता ही की है। अधिबतर उनमें मनुष्य के बुरे स्वभाव पर ही बल दिया है। इस



( ५ )

## मानव-प्रकृति सम्बन्धी विचार

मैक्रियावसी शार्शनिक नहीं वा इसलिये उसने कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाये । वह केवल उन सूत्रों की खोज करता है, जो राजनीतियों के लिये उपयोगी होते हैं । कभी वह कुछ सिद्धान्तों को मानकर चलता है, या उन्हें ब्यक्त कर देता है, पर उन्हें सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता । इसलिये मैक्रियावसी की कृतियों में कोई क्रमबद्ध राजनीतिक सिद्धान्त नहीं मिलते । फिर भी मैक्रियावसी का भविष्य के शार्शनिकों के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और मैक्रियावसी के सूत्रों के आधार पर उन्होंने क्रमबद्ध सिद्धान्त उपस्थित किये । इसलिये हम यहाँ मैक्रियावसी के सूत्रों का सम्पूर्ण इन भाषे भाषे वाले शार्शनिकों की दृष्टि से करते । क्रमबद्धता का प्रभाव होते हुए भी मैक्रियावसी के सूत्रों की क्रमबद्ध रूप में पढ़ना हमारे लिये विशेष हितकर होता ।

## मानव-प्रकृति—

मैक्रियावसी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर राज्य का निर्माण नहीं किया और न मानव-प्रकृति के आधार पर ही उसने राज्य की आवश्यकता बतलाई । फिर भी मैक्रियावसी के विचारों में यह भ्रमक दिखाई देती है कि मानव प्रकृति की कमजोरियों के कारण ही राज्य की आवश्यकता है । मैक्रियावसी ने मानव प्रकृति का जो विश्व बौद्धा है, उस आधार पर धार्य चलकर हाथ में हमें क्रम बद्ध सिद्धान्त दिया है ।

मैक्रियावसी इस धारणा को लेकर चलता है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है । वह अपनी सुरक्षा चाहता है, पर साथ ही वह अधिक से अधिक उपभोग की वस्तुएँ भी चाहता है । उसकी इच्छाएँ सीमित नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य की इच्छाएँ ही इस प्रकार की हैं कि वे सर्वत्र वस्तुओं से अधिक प्राप्त करना चाहती हैं और जो कुछ प्राप्त हो चुका है, उसे सुरक्षित करने के लिये अधिक शक्ति और साधन रखना चाहती हैं । इस तरह मनुष्य सर्वत्र ही स्वयं और प्रतिद्वन्द्विता में जगा हुआ है । पराजयता की इस दशा को केवल धासक अपनी शक्ति द्वारा समाप्त कर सकता है । इसलिये धासक एक धोर जनता की सुरक्षा की भावना को संतुष्ट करता है, दूसरी ओर अपनी शक्ति की इच्छा को पूरा करता है ।

का सौथ दासक ही तो है। मैक्रियाबसी चक्ति को राजा का मुण मानता है और निर्बलता को प्रवमुण। इसलिये जो मनुष्य बूतरों के लिये नियम बना सकता है और समाज का मुटङ बना सकता है, वही व्यक्ति समाज में सर्वोपरि है। इस प्रकार मैक्रियाबसी का संग्रमु भी सर्वोच्च चक्ति है और सब प्रकार के नैतिक नैतिक और सामाजिक बगनों से मुक्त है। परन्तु इस बात को फिर से दुहरा देना आवश्यक है कि संग्रमुता के सिद्धांत का विकास मैक्रियाबसी के परचात् बोडो और हाप्स ने किया है।

मध्य-युग के सेलक मनुष्य का अन्तिम सरय माध मानते थे। इसलिये पूर्ण राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था इस युग में धर्म के अन्तर्गत समझी गई थी। मैक्रियाबसी धर्म और मोक्ष को सरय नहीं मानता। धर्म का प्रयना कोई निजी रवान नहीं है। वह तो समाज को चक्तिप्राप्ती बनाने वाला साधन मान है। इसलिये जो धर्म समाज को निर्बल बनाता है वह बुरा है। चूँकि ईसाई धर्म मनुष्य का विनयपीस और नम्र बनाता है इसलिये मैक्रियाबसी ईसाई-धर्म का बटु घातोचक है। उसका कहना था कि ईसाई-धर्म का मानने वाला राजा राज्य की रखा नहीं कर सकता। पर ईसाई धर्म का प्रयोग राजा साधन के रूप में कर सकता है। इस धर्म के द्वारा राजा लोगों को बेबबुद्ध बना सकता है और उनमें दांति व्यवस्था रग सकता है। इसलिए राजा को चाहिये कि प्रजा को तो मघा ईसाई बनाये लेकिन स्वयं ऐसा न बन जाये कि सच्ची ईसाइयत बसे या जाय।

राजा नतिबलता और धर्म के अन्तर है इसलिये राज्य को चक्तिप्राप्ती बनाने के लिये जो भी कार्य राजा करता है, उन्हें मैक्रियाबसी नैतिक मानता है। इस प्रकार के विचारों के कारण मैक्रियाबसी ने बड़ी घातोचना हुई है। उस सँतान तक बहा गया है और उसकी पुस्तक 'प्रिस' को पूर्ण धर्मनैतिक पुस्तक। मैक्रियाबसी ने अपनी पुस्तक बूटनीतिज्ञों के लिये लिखी है। हम आज भी देखते हैं कि रममार में जितने भी बड़े बड़े सामक हैं उन्होंने अपने ही गुप्तम-मुस्ता मैक्रियाबसी के गमान धर्मनैतिक वापों को उचित न घोषित किया हो परन्तु व्यवहार में वे ऐसी नीतियों का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। स्पेन के राजा फर्डीनेंड जॉन के राजा लुई और इंग्लैण्ड के हेनरी अठम इसी प्रकार के राजा ठा थे ही। हिल्मर और मुनोतिनी के कारणसे मैक्रियाबसी की जगह पर लिये कारणसे मान्यम पड़न है। मैक्रियाबसी को बूटनीति का व्यावहारिक ज्ञान था। उसने अपने अनुभव से देखा था कि उनके समयकीन राजा इसी प्रकार

लिये मैक्रियावली का मनुष्य प्रकृति का निस्तेषण एकांगी ही है। मानव प्रकृति के अन्तर्गत धर्म की उसने धमकेसना ही की है।

( ६ )

### नैतिकता और धर्म

फोटो धीरे धरस्तू के समाग मैक्रियावली नैतिकता को मनुष्य का स्वामा विक गुण नहीं मानता। इसलिये मैक्रियावली के अनुसार मनुष्य सर्वथ उ जीवन के लिये नहीं बरन् अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिये ही समाज बनाता है। चूँकि केवल राजतंत्र ही अष्ट मनुष्यों में सामाजिक व्यवस्था सा सकता है, इसलिये मनुष्य की धर्मनैतिकता का परिणाम राजतंत्र है।

राजतंत्र की उत्पत्ति मय और बल इन दो चीजों से हुई है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह समाज को सन्तुष्टिवाली बनाये। इसके लिये वह प्रत्येक साधनों का प्रयोग कर सकता है। मय प्रजा का गुण है और बल राजा का इसलिये राजा और प्रजा के कर्तव्य धर्म समान हैं। राज्य में व्यवस्था रखने के लिये राजा जिन विधियों और नैतिक बन्धनों को बनाता है उन्हें मानना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है परन्तु वह नैतिकता और विधियाँ राजा के आचरण को मर्यादित नहीं करती। राजा का सर्वेस्य समाज को सुदृढ़ बनाना है, इसलिये इस तरह को प्राप्त करने में राजा जिन कार्यों को भी करता है, वे सब नैतिक हैं। इस प्रकार जो आचरण साधारण नागरिक के लिये धर्मनैतिक हो सकते हैं वही आचरण मर्यादा के लिये धर्मनैतिक नहीं बड़े या सकते यदि इनसे राज्य की शक्ति बढ़ती है। ह्यूबो लुन्मार पद्वयंत्र रक्षमात्र व्यक्ति के नागरिक जीवन के लिये धर्मनैतिक हैं परन्तु यदि राज्य की शक्ति बढ़ाने के लिये राजा इनका प्रयोग करता है, तो वे सब उचित हैं। कौटिल्य और मैक्रियावली के विचारों में कितनी समानता है।

मैक्रियावली ने संप्रभु के आचरण का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं दिया। इसे तो मैक्रियावली के पक्षान्ता हास्य ने विकसित किया है। इसलिये हास्य के सिद्धान्तों के आधार पर ही हम मैक्रियावली के विचारों को स्पष्ट कर सकते हैं।

इन हदों से समाज के नियम और नैतिकता का अधिग्रहण शायक होता है। वह स्वयं इन नियमों के बन्धन से मुक्त है, क्योंकि नियमों और नैतिकता

का स्रोत प्राप्त हो तो है। मैक्रियावली शक्ति को राजा का मुकुट मानता है, और निर्बलता को ध्वजगुण। इसलिये जो मनुष्य दूसरों के लिये नियम बना सकता है और समाज को सुदृढ़ बना सकता है वही व्यक्ति समाज में सर्वोपरि है। इस प्रकार मैक्रियावली का संप्रसु भी सर्वोच्च शक्ति है और सब प्रकार के भौतिक वैश्विक और सामाजिक बन्धनों से मुक्त है। परन्तु इस बात को धिरे से दुहरा देना आवश्यक है कि संप्रसुता के सिद्धांत का विकास मैक्रियावली के परभाव बोझ और हाथ ने किया है।

मध्य-युग के लेखक मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष मानते थे। इसलिये पूर्ण राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था इस युग में धर्म के अन्तर्गत सम्पत्ती पर्यन्त थी। मैक्रियावली धर्म और मोक्ष को सरय नहीं मानता। धर्म का धरना कोई निजी स्वाम नहीं है। वह तो समाज को शक्तिशाली बनाने वाला साधन मात्र है। इसलिये जो धर्म समाज को निर्बल बनाता है वह बुरा है। चूंकि ईसाई धर्म मनुष्य का बिनयधीन और नरम बनाता है इसलिये मैक्रियावली ईसाई धर्म का कटु आलोचक है। उमदा कहना या कि ईसाई धर्म का मानने वाला राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। पर ईसाई-धर्म का प्रयोग राजा साधन के रूप में कर सकता है। इस धर्म के द्वारा राजा लोगों को बेवशूक बना सकता है और उनमें सान्ति व्यवस्था रच सकता है। इसलिये राजा को चाहिये कि प्रजा को जो नष्ठा ईसाई बनाये लेकिन स्वयं ऐसा न बन जाये कि सच्ची ईसाइयत धर्म सा जाय।

राजा शक्तिशाली और धर्म के ऊपर है, इसलिये राज्य को शक्तिशाली बनाने का नियम जो भी कार्य राजा करता है, उन्हें मैक्रियावली भौतिक मानता है। इस प्रकार के विचारों के कारण मैक्रियावली की बड़ी आलोचना हुई है। उठे उठान तक कहा गया है और उनकी पुस्तक 'प्रिंस' को पूर्ण धार्मिक पुस्तक। मैक्रियावली ने अपनी पुस्तक कूटनीतियों के लिये लिखी है। हम धारा भी देखते हैं कि संसार में जितने भी बड़ बड़ शासक हैं उन्होंने धर्म ही कुत्तब-मुस्ता मैक्रियावली के समान धार्मिक वापों को उचित न पोषित किया हो परन्तु व्यवहार में वे ऐसी नीतियों का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। स्पेन के राजा फर्डिनेंड नाम के राजा मुई और इंग्लैण्ड के हेनरी अठम इसी प्रकार के राजा तो थे ही। हिस्पर और मुसोलिनी के कारणसे मैक्रियावली की सत्यता पर शिथिल कारणसे माहूम पड़ने है। मैक्रियावली को कूटनीति का व्यावहारिक ज्ञान था। उनमें धरन मनुष्य से देगा या कि उनका समजातीय राजा इसी प्रकार

के धार्मिक व्यवहार कर रहे थे वहाँ तक कि नैतिकता और धर्म का प्रतीक बन गयी। इतिहास भी उसके मत की पुष्टि करता है। टिसकोर्त्ज में वह लिखता है कि 'यदि कोई कार्य मनुष्य को दोषी ठहराता है तो उस कार्य के परिणाम को उसे बोधमुक्त करना चाहिये। यदि परिणाम अच्छा है, वैसे रोमुसेस के उदाहरण में (जिसने अपना मार्ग को हत्या की थी) तो वह बोधो नहीं ठहराया जायेगा।'

बसंतियों में मनुष्य चरित्रवान।  
मानव उद्देश्य—धार्मिक और बल  
प्रदान करना।

अप्य राजा का गुण बस  
राजा का।

राजा द्वारा निर्मित विधियाँ और  
नैतिकता राजा के लिये हैं राजा के  
लिये नहीं।

धर्म शास्त्रों का साधन मात्र है।  
धर्मशास्त्रों का राज्य नैतिक  
या धार्मिक नहीं नैतिकता से परे है।

धर्म वह नैतिकता के प्रत्यय से परे (unmoral) है।

पर नैतिकशास्त्री नैतिकता और  
धर्म के बिच्छु नहीं है। राजा के लिये  
वे आवश्यक गुण हैं। वह तो केवल  
इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है  
कि चूँकि राज्यों के बीच राज्यों के  
समुदाय में कोई सर्वमान्य नियम नहीं  
है, इसलिये राज्य के लिये नैतिकता  
और धार्मिकता का प्रत्यय नहीं उठता।  
दूसरे शब्दों में वह कहना ठीक होगा  
कि जहाँ तक राज्य का प्रत्यय है,  
नैतिकशास्त्री का सिद्धान्त न तो  
नैतिकतावादी (moral) है, और  
न धार्मिकतावादी (immoral)

(७)

### राजा के धार्मिकता का सिद्धान्त

ग्रिफ के धर्मशास्त्रों के अध्याय में नैतिकशास्त्री ने उन विषयों का अन्वेषण किया है, जिनके अनुसार राजा को अपना धार्मिकता करना चाहिये। उसके मतानुसार मनुष्य में मानव और पशु दोनों प्रकृतियाँ होती हैं। मानव प्रकृति कानून को मान्यता देती है, और पशु प्रकृति बल को। राजा में ये दोनों धर्मशास्त्रों होनी चाहिये। वह लिखता है—

यह सम्बन्धित है कि राजा के लिये धर्म-विहित और पवित्र-जीवन  
विधानों और धर्मशास्त्रों के धार्मिकता से बचना सराहनीय है। लेकिन

समकालीन अनुभव से मान्य होता है कि उन राजाओं ने बिलसे बचन का कोई मुख्य न वा घोर जो बालाकी घोर मक्काटी में सबसे भागे थे उनकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं जो केवल ईमानदारी में बिस्वास करते रहे हैं।

इसलिये यह जानना चाहिये कि संघर्ष करने के दो तरीके हैं—(१) नियम के अनुसार, (२) शक्ति द्वारा। पहला तरीका मनुष्यों के लिये उपयुक्त है और दूसरा जानवरों के लिये। चूँकि पहला तरीका अधिकतर अप्रमाणी होता है, इसलिये दूसरे तरीके को अपनाया जाकर होता है। राजा को यह जानना चाहिये कि दोनों तरीकों को कैसे अपनाया जाय।

इसी कारण मैकियाबली सिद्धता है कि प्राचीन काल में एक्कीस घोर घण्य राजाओं की जिला का कार्य सेंटर सिटी को सौंपा गया था जो घर्ष मनुष्य और घर्ष पशु था। क्योंकि राजा बिना दोनों शक्तियों का ज्ञान रहे राज्य में स्थायित्व नहीं ला सकता। पशुओं में उसे सिंह और सोमड़ी के गुण होना चाहिये। घोर में शक्ति होती है और सोमड़ी में बालाकी। दोनों मुख एक दूसरे के पूरक हैं। सोमड़ी के मुख से वह पशुओं का पता लगा सकता है और सिंह की शक्ति से वह उनका दमन कर सकता है। जो केवल घोर ही होना चाहते हैं वे सफल नहीं होते क्योंकि मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है और स्वर्ण अपने धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता। इसलिये उसके साथ बर्मानुसार आचरण करना कर्ष है। इसलिये उसको दिय हुए बचन के बिनाफ काम करने के लिये सोमड़ी की धूर्तता आवश्यक है। जिसमें दिखाबटीपन की क्षमता नहीं होती जो अपने वास्तविक रूप को छिपाकर नहीं रख सकता वह सफल नहीं होता। राजा को चाहिये कि वह पशुओं को मारकर उनके लिये धर्म बहावे।

यह ही सकता है कि हर राजा में उपरोक्त गुणों में से हर गुण न हो। लेकिन वह बहुत जरूरी है कि दूसरे यह समझे कि वह हर गुण में प्रवीण है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि इन सारे गुणों का होना घोर उनका हर समय प्रयोग करना मठरे से शाली नहीं है।..... घण्य मानसिक रचना ऐसी हानी चाहिये कि जब घण्यको आवश्यकता पड़े घण्य उक्त गुणों के बिस्व भी कार्य कर सके। राजा को प्रयत्न करना चाहिये कि उसकी प्रथा उसे उनकी दुसाकारी दुर्बल और नीच-श्रुति का न समझे। इस प्रकार राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह पशुओं का गुणान न हो जाय उनका स्वामी रहे और आवश्यकतानुसार वह सम्पुण के अनुसार या उनका विरहीत शासन करे।

राजा को किसी का विरवास नहीं करना चाहिये क्योंकि मनुष्य स्नेह और प्रेम के बन्धनों को नहीं समझता। वह तो मर के कारण ही प्रेम करता है। इसलिये राजा में प्रजा को मयभीत रखने की क्षमता होती चाहिये। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि मय भूणा में न बसने नहीं तो राज्य व राजा दोनों का नाश हो जाता है।

राजा कार्य करने में मंत्रियों की सलाह से समझता है, परन्तु उसे करना नहीं चाहिये बिना वह ठीक समझे।

प्रजा में अपना गौरव और घातक बनाने के लिये उसे प्रजापति की स्थिति व प्रजा की संपत्ति से दूर रखना चाहिये। मंत्रियों पर दृष्टि डालने वाला और प्रजा की संपत्ति छीनने वाले राजा का मन नहीं रहता। प्रजा इनके विरुद्ध मड़क उठती है।

राजा को प्रजा के रीति-रिवाजों में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार हस्तक्षेप करने से विरोधी सिर उठने लगते हैं और राजा के पक्ष वाले यदि विरुद्ध नहीं होते हैं, तो राजा का नाम देने में हिचकिचाते हैं।

सार्वजनिक मामलों में राजा को ऐसा धाकरल करना चाहिये कि लोगों को यह भव रहे कि निधि संग्रह करने में उन्हें कठोर बंद मिलेगा।

किरायों की सेना और दूसरों की सहायता पर निर्भर होना लक्षणाक है। राजा को अपनी सेना का स्वयं संगठन करना चाहिये। लड़ाई में जो भी मूट का मास मिले प्रजा और सैनिकों को संतुष्ट करने के लिये उसे उपायपूर्वक बाँट देना चाहिये। यह देने के लिये प्रायः प्रायश्चित्तों के अनुसार काम करने का कार्य का प्रायश्चित्तता पढ़ने पर प्राप्त होय  
रा के ।

बात में विरवास करते हुए  
में संभव है कि  
बढ़ने के

।

बना  
को

प्रसोमन या बस का भय दिला कर धपना मित्र बनाता । यदि वह किसी राज्य को जीतता है तो उसके गबिषान में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उसे न करना चाहिये ।

मनुष्य में ही प्रकृतियाँ होती हैं—  
मानवीय और पान्थिक मानवीय प्रकृति के नियम निषम प्रावरणक है पान्थिक के लिये बल ।

राजा दोनों शक्तियों का प्रयोग करे । राजा में निह और लोभको के गुण होना चाहिये ।

धृता और विद्यावद राजा में प्रावरणक है वह लक्ष्णों का गुणान न हो ।

प्रजा की ही संपत्ति और रीति रिवाजों से प्रलय रहे ।

वैदिकक सामंतों में शक्ति सतुलन रहे और प्रभु राज्य की प्रजा को धपना मित्र बनावे ।

पुरषार्थी राजा मर्निकता धर्मतिवता से बरे है ।

के जीवन में प्रबान शक्तियाँ हैं परन्तु पुरषार्थी मनुष्य अपने प्रारम्भ को बरत सपता है । वह लिखता है "प्रारम्भ एक रनी के समान है, जो नारपीठ और दुर्घबस्या से ही बच में रनी जा सकती है । वह लोगों की धपीनता धधिक मुनमता से रबीवार करनी है उन लोगों की तुनता में जो बम्बू बनकर उसके पान जाते हैं । स्थियों की बाधि वह नव अवानों की और धधिक धाहूट होती है, क्योंकि नव अवान अपने बुने म घेर रहा बरत धधिक भयावने होते हैं, और धधिक निर्भयता से उसे प्रायेय देन है ।"

सपुन राजा के लिये यह धावरणक है कि वह प्रजा के जीवन और संपत्ति को सुरक्षित रखे । मनुष्य जीवन की धपेता संपत्ति को धधिक महत्त्व देता है । इसलिये वह युयु का संद बहूत नम लोगों को है और सपत्ति के धप हरण का संद किसी को भी न दे । राजा स्वयं ध्यबसाय और बाणिम्य क बचकर में न पड़े । परन्तु राज्य को समुद्रिसामी बनाने के लिये उसे बाणिम्य ध्यबसाय और इधि का विकास करके रहना चाहिये ।

जो राजा सफल होता है, उसके सामंतों की मर्निकता या धर्मतिवता पर कोई इधिपाठ नहीं करता । एक दूसरे स्थन पर मैत्रियावली प्रारम्भ और पुरषार्थ के सापैतिक महत्त्व को बठाता है । नाप्य और पुरषार्थ दोनों ही मनुष्य

के जीवन में प्रबान शक्तियाँ हैं परन्तु पुरषार्थी मनुष्य अपने प्रारम्भ को बरत सपता है । वह लिखता है "प्रारम्भ एक रनी के समान है, जो नारपीठ और दुर्घबस्या से ही बच में रनी जा सकती है । वह लोगों की धपीनता धधिक मुनमता से रबीवार करनी है उन लोगों की तुनता में जो बम्बू बनकर उसके पान जाते हैं । स्थियों की बाधि वह नव अवानों की और धधिक धाहूट होती है, क्योंकि नव अवान अपने बुने म घेर रहा बरत धधिक भयावने होते हैं, और धधिक निर्भयता से उसे प्रायेय देन है ।"



राजा को किसी का विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि मनुष्य स्नेह और प्रेम के बन्धनों को नहीं समझता। वह तो भय के कारण ही प्रेम करता है। इसलिये राजा में प्रजा को सम्मिलित रखने की क्षमता होनी चाहिये। परन्तु यह ध्यान रखन की बात है कि भय दृष्टा में न बरसे नहीं तो राज्य व राजा दोनों का नाश हो जाता है।

राजा कार्य करने में मंत्रियों की सलाह ले सकता है परन्तु उसे करना नहीं चाहिये जिसे वह ठीक समझे।

प्रजा में घपना और घोर घातक बनाये रखने के लिये उसे प्रजावर्ग की स्थितियों व प्रजा की सम्पत्ति से दूर रहना चाहिये। स्थितियों पर दृष्टि डालने वाला और प्रजा की संपत्ति छीनने वाले राजा का मय नहीं रहता। प्रजा इनके विरुद्ध नडक पड़ती है।

राजा को प्रजा के रीति-रिवाजों में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार हस्तक्षेप करने से विरोधी सिर उठाने लगते हैं और राजा के पक्ष वाले यदि विरुद्ध नहीं होते हैं, तो राजा का धाव देने में हिचकिचाते हैं।

सामंजसिक मामलों में राजा को ऐसा धावरण करना चाहिये कि लोगों को यह मय रहे कि निधि भंग करने में उन्हें कठोर बंध मिलेगा।

किराये की सेना और दूसरों की सहायता पर निर्भर होना अतर्लोक है। राजा को अपनी सेना का स्वयं संगठन करना चाहिये। सड़ार्द से जो भी नुट का मास मिले प्रजा और सैनिकों को संतुष्ट करने के लिये उसे अक्षरशःपूर्वक बाँट देना आवश्यक है। बंड देने और धर्मिय धारेशों के अनुसार काम करने का कार्य अफसरों द्वारा होना चाहिये जिसमें आवश्यकता पड़ने पर साफ़ बोप अफसरों के सिर मड़ा जा सके।

खासी दिमाव शैवान का जर हूँठा है, इस बात में विश्वास करते हुए राजा को चाहिये कि शांति कास में प्रजा को कार्य में संलग्न करने के लिये बड़ी बड़ी विकास योजनाएँ बनाये राज्य की जनसंख्या बढ़ाने का प्रयत्न करे जिसमें सैनिकों का समाव न हो पाये।

वैदेशिक मामलों में उसे ऐसी नीति अपनानी चाहिये कि अलि संतुलन बना रहे और कोई पड़ोसी राज्य उससे अधिक बलवान न रहे। पड़ोसी राज्य को पीतने की अपेक्षा यह अधिक उचित है कि अनु राज्य की प्रजा को आर्थिक

प्रसोमन या बस का भय विना कर अपना मित्र बनाने । यदि वह किसी राज्य को पीतता है तो उसके संविधान में किसी भी प्रकार का परिवर्तन उसे न करना चाहिये ।

मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ होती हैं— मानवीय और प्राकृतिक मानवीय प्रकृति के लिये नियम आवश्यक है प्राकृतिक के लिये बल ।

राजा दोनों शक्तियों का प्रयोग जाने । राजा में तिह्र और लोभको के गुण होता चाहिये ।

भूतला और विद्यावट राजा में आवश्यक है वह सद्गुणों का गुणाम न हो ।

राजा की कौ शक्ति और रीति रिवाजों से सम्यक् रहे ।

वैदिक सामन्तों में अति संतुलन रहे और अन्तु राजा की प्रजा को अपना मित्र बनाने ।

पुरषार्थी राजा मूर्खता-धर्मतिव्रता से बरे है ।

के जीवन में प्रधान अर्थिनी है परन्तु पुरषार्थी मनुष्य अपने प्रारम्भ को बल लक्षता है । वह मितता है "प्रारम्भ एक स्त्री के समान है जो मारपीट और दुर्मूल्यता से ही बच में रणो जा सकती है । बहु लोगों की अधीनता अधिक मुलमना से स्वीकार करती है, उन लोगों की गुणना में जो बन्धु बनकर उसके पास जाते हैं । स्त्रियों की भाँति वह नव प्रबानों की और अधिक घाहूट होती है, क्योंकि नव प्रबान अपने बुरे में श्रेष्ठ नहीं करने अधिक भयावने होने हैं, और अधिक निर्भयता से उसे घाहूट देन है ।

अष्टम राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रजा के जीवन और संपत्ति को सुरक्षित रख । मनुष्य जीवन को प्रपेसा संपत्ति को धार्मिक महत्त्व देता है । इसलिये वह मृत्यु का दंड बहुत कम लोगों को दे और संपत्ति के अपहरण का दंड किसी को भी न दे । राजा स्वयं व्यवसाय और वाणिज्य के बन्दर में न पड़े । परन्तु राज्य को सङ्गठितासी बनाने के लिये उक्त वाणिज्य व्यवसाय और इति का विचार करते रहना चाहिये ।

जो राजा अष्टम होता है उसके सामन्तों की मूर्खता या धर्मतिव्रता पर कोई हृदियात नहीं करता । एक दूसरे स्वयं पर मूर्खतावसी प्रारम्भ और पुरषार्थ के सापेक्षिक महत्त्व को बठाता है । राज्य और पुरषार्थ दोनों ही मनुष्य

( ८ )

## मैक्सियावली के धर्म सिद्धान्त

डिसकोवेंज में मैक्सियावली मखुतब की खर्चा करता है और उसे अधिक स्वाधी सरकार मानता है। उसका कहना है कि जो लोग भ्रष्ट नहीं हैं, उनमें अधिक भुण होवे है—और उनका राज्य राजतंत्र से प्रख्या होता है। इसमें सबेह नहीं कि मखुतंत्र बटिल समस्याओं पर बुरबुरिता नहीं बिलना सफ्टी 'बोकि' मजिस्ट्र टों के खरिज को समझने में वे अधिक बुद्धिमान होते हैं। परन्तु भ्रष्ट लोगों के लिये राजतंत्र ही उपयुक्त है, और निर्वाचन राजतंत्र सामुबिदाक राजतंत्र से प्रख्या है। राजतंत्र को उचित बनाने के लिये राजा को चाहिये कि वह अधिक से अधिक लोगो को जासन र्जन में भाग लेने का अवसर दे। वह सामंतवाद के विरुद्ध है—क्योंकि सामंतों के हित राजतंत्र और मध्यम वर्ग लोगों के विरुद्ध होते हैं।

अपने राज्य का मखुत यह है कि वह नित्य विकास करता रहे। अणु राज्य पठनोन्मुखी होता है। ध्यान रखने की बात है कि जहाँ कौटिल्य राज्य की तीन अवस्थाएँ मानता है—

(१) गलतंत्र राजतंत्र से प्रख्या पर बुद्धि स्वान और शय जहाँ मैक्सियावली भ्रष्ट लोगों में राजतंत्र ही राज्य की केवल दो ही अवस्था मानता उपयुक्त। है—विकास और शय की। उसका

(२) राज्य कमजोर करता है या कहना यह था कि मानव जीवन पति- कमजोर इसलिये स्वामित्व धीन है, कोई भी वस्तु स्वाधी नहीं रह सकती या तो वह उन्नति की ओर बढ़ती है या कमजोर की ओर। जो राज्य

स्वामित्व के आधार पर संभलित होते हैं, वे पठनोन्मुखी हुए बिना रह नहीं सकते। इस अरथ एंथेस और स्वाटी के राज्यों को वह उचित नहीं मानता था। 'बुकि' राजा की उन्नति मनुष्य के स्वार्थ धारण के लिये हुई है इसलिये वह धारणक है कि राजा 'सोविधिय न होकर अपने प्रचार के लिये प्रयत्न करे।

वास्तव में मैक्सियावली के ये विचार उसकी 'राष्ट्रीयता' की भावना के कारण हैं। वह इसी को महान बनाना चाहता था और उसमें एकता स्थापित करना चाहता था।

( ६ )

मैक्रियाबली का स्थान

मैक्रियाबली को बहुत से लोग प्राधुनिक काय का प्रथम राजनीतिक मानने हैं परन्तु प्राधुनिक युग को जन्म देने का अथ अतिरिक्त विधान को है उतना ही मूल्य द्वारा प्रभाव गये मुबारक धार्मिकता को । मुबारक धार्मिकता मैक्रियाबली की मृत्यु के पर्याप्त कारण हुए और उन्होंने धर्म नैतिक विचार, नई सामाजिक धर्मों को समाज में बह स्थान दिया जिसे हम प्राधुनिक काल में देखते हैं । इसलिये मैक्रियाबली को मध्य काल का अन्तिम विचारक कहना अधिक उचित होगा । इसमें संदेह नहीं कि उद्यम उन विचारों को नीचे डाली उनके आधार पर प्राधुनिक युग के विचारों का निर्माण होता था ।

मैक्रियाबली के निम्नलिखित विचार महत्वपूर्ण हैं—

(१) अपने नई ऐतिहासिक और अनुभववाद की रीति प्रारंभ की जिसका प्रयोग अरस्तू के बाद बंद हो चुका था और जिसके आधार पर प्राधुनिक राजनीति का जन्म हुआ है । इसमें संदेह नहीं कि उसकी ऐतिहासिक रीति अत्यंत महत्वपूर्ण है । यह इतिहास के आधार पर न ही निकालता किसी निश्चित मत पर पहुँचकर इतिहास की सहायता से उसकी पुष्टि करता है । परन्तु अत्यंत ही तेजी से उसने अविश्व के दार्शनिकों को नया रास्ता दिखाया ।

(२) मैक्रियाबली ने राजनीति का धर्म में पूर्णरूपेण मुक्त कर दिया । मध्य युग में धर्म का अर्थ स्थान था । परन्तु मैक्रियाबली ने धर्म को राजनीति की महत्ता का मानक मात्र माना । यह इतना स्पष्टवादी था कि यह पुराने धर्मवाद की नींव को हिला गया । ये उद्यम विचारों के कारण ही है कि युगों में हम युग के पर्याप्त लोग एकाएक धर्मवाद को छोड़कर विवेकवाद की ओर चल गये ।

(३) अपने राजनीति और नीति का कृत्रीकरण भी किया है । राज्य नैतिकता और धर्मनिष्ठता में परे संस्था है । इन प्रकार अपने ही ज्ञान के विचारों



अध्याय को समाप्त कर नवीन युग के अध्याय को प्रारंभ किया है। परन्तु कौटिल्य अर्थशास्त्र के साहित्य में नवीन धारा नहीं बसाता। वह उसी क्रम का

### मीकियावसी और कौटिल्य

समानता—

- (१) शासनतन्त्र का अध्ययन।
- (२) राज्य की शक्तिशाली बनाना व राज्य का विस्तार पुरतकों की विषय वस्तु।
- (३) अध्ययन रीति।
- (४) साधन की अपेक्षा साम्य महत्वपूर्ण।

भिन्नता—

- (१) कौटिल्य नये युग का प्रवक्ता नहीं है।
- (२) अर्थशास्त्र का क्षेत्र व्यापक।
- (३) कौटिल्य का राजा सौमित्र सहायारी है।
- (४) कौटिल्य धर्म को साम्य मानता है।
- (५) राजा को सिद्धांतगत अर्थे साधारण माना जाता है।

के। मीकियावसी की तुलना में कौटिल्य का अर्थशास्त्र अत्यंत प्राचीन व्यापक है, क्योंकि इसमें राज्य के मगटन विभिन्न कर्मचारियों के कार्य और अन्तर्गम्योप सहाय की विषय विवेचना हुई है। मीकियावसी में इस प्रकार की अभावबद्धता नहीं मिलती और न उसका राज ही उतना व्यापक है। तीसरे मीकियावसी का शासन पूर्ण निरंकुश है वह नीतिकता और विधियों का स्रोत है वह मंत्रियों की अपेक्षा कर सहाय है। परन्तु कौटिल्य के राजा पर नीतिकता और धर्म का अंकुश है। प्राचीन पुरतकों में दिये गये अर्थशास्त्र व्यवस्था को बनाये रखना ही उसका सत्य है। मंत्रियों की संरक्षण केन्द्र उसका नियम आवश्यक है। इन स्थिति में मीकियावसी धर्म को केवल

साधन मानता है वहीं कौटिल्य साम्य। मीकियावसी के अनुसार राजा में बल होना चाहिये और धीरे धीरे सौमित्र के मुल्य होना चाहिये। कौटिल्य के मत में राजा को सिद्धांतगत अर्थे साधारण करने वाला होना चाहिये।

इस तरह कौटिल्य और मीकियावसी में बहुत अंतर है। उनमें जो समानता मिलती है वह ऊपर है, अर्थात् नहीं।

## रूसो

( १७१२-१७७८ )

- |                                    |                               |
|------------------------------------|-------------------------------|
| (१) रूसो का जीवन ।                 | (२) रूसो के समय तक राजनीतिक   |
| (३) रूसो के विचारों का विकासक्रम । | विचार ।                       |
| (४) मानव प्रकृति और स्वतन्त्रता का | (३) सामाजिक समझौते की परम्परा |
| प्रश्न ।                           | और स्वीकृति सिद्धान्त ।       |
| (६) सामाजिक समझौता ।               | (७) सामान्य इच्छा ।           |
| (८) संप्रभुता ।                    | (८) रूसो की देन ।             |

( १ )

### रूसो का जीवन

रूसो का जन्म १७१२ में जिनेवा के गणतंत्र में हुआ था। उसकी माँ की मृत्यु उसके प्रसव-काल में ही हो गई इसलिए उसके भरल-पोषण का भार उसके परीब-पिता पर पड़ा। परन्तु पिता में उत्तरदायित्व की भावना न थी इसलिए उनमें रूसो की शिक्षा की कोई व्यवस्था न की। रूसो जब दस वर्ष का था तो उसका पिता भरने एक संबंधी के निकट रूसो को छोड़ जान बचाने के लिये जिनेवा से भाग निकाला। रूसो तीन वर्ष तक एक शिल्पकार के मीके काम सीखता रहा जहाँ उसने बोरी करने और फूट बोलने के घलावा कुछ न सीखा। एक दिन मातृक के डर से वह भी जिनेवा छोड़कर भाग बचा और पाबारायर्डी का जीवन बिताते लगा। वह दर-दर मटकता रहा, और उसका

कोई ठिकाना न लगा। १७४६ में उसके भाग्य का सितारा चमकना शुरू हुआ। विज्ञान की एकेडेमी ने सर्वोत्तम निबंध पर पुरस्कार घोषित किया। निबंध का विषय था क्या विज्ञान और कलाओं की उत्पत्ति ने नैतिकता को प्रगट या विधुष्ट करने में योग दिया है। रूसो जीवन की कटुता देग चुका था और समाज के विरुद्ध विद्रोही बन चुका था। उसने निबंध में लिखा कि विज्ञान और कलाओं ने मनुष्य का नैतिक पतन किया है, इसलिये यदि उसे अपना सरस और सुखी जीवन प्राप्त करना है—तो उसे प्राकृतिक जीवन धरनाना चाहिये। सर्वप्रथम निबंध होने के कारण पुरस्कार रूसो को मिला। चाप ही इस निबंध ने समाज के विरुद्ध एक नई धारा पैदा कर दी।

१७५४ में एकेडेमी ने पुरस्कार के लिए उसने दुसरा निबंध लिखा जिसका विषय था "असमानता की उत्पत्ति और उसकी प्राभाउसिता। इस लेख में रूसो ने यह बतसाने का प्रयत्न किया कि निजी सम्पत्ति असमानता की बड़ है। जिन्होंने सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया है, उनकी सुरक्षा के लिए ही राज्य का जन्म हुआ है। यह सिद्धांत है यह प्रथम व्यक्ति जिन्होंने एक कु-मान पर अधिकार जमाकर यह कहना प्रारंभ किया कि यह मेरी भूमि है और उसकी इस बात को अन्य मूलों न स्वीकार कर लिया यह व्यक्ति ही राज्य का संस्थापक है। गणित यह सोचते हैं कि राज्य भूमि-स्वामियों का उनकी रक्षा करने के लिए है, परन्तु कुछ दिनों में ही वे राज्य के वास्तविक रूप का समझ लेते हैं किन्तु व्यक्ति-वामी राज्य के विरुद्ध कुछ कर नहीं करते। १७५५ में रूसो ने इनकारनोवीरिया के लिए राजनीति पर एक निबंध लिखा। इस

### रूसो की कृतियाँ

- (१) जिसकोर्ट ऑन धाटस एंड लाइस (१७४६)।
- (२) ऑन दि थोरिब्लिस एंड थ्याउडेतास ऑफ इन्डिजुतिरो (१७५४)।
- (३) सोशल कन्ट्रैक्ट (१७६२)।

निबंध में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कन्ट्रैक्ट के कई विचार मिलते हैं। सोशल कन्ट्रैक्ट १७६२ में लिखी गई। उसी वर्ष 'जमिनी' भी प्रकाशित हुई। सोशल कन्ट्रैक्ट ने उसकी क्वालिटी सर्वत्र के लिए स्थायी कर दी। कभी बनाए जाने के डर से यह कर्म को छोड़कर इन्होंने चला था। इन

दिनों रूसो अपना वास्तविक मनुष्य बन चुका था। १७७२ में वह इन्होंने छोड़कर मृत गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई।

रूसो कर्म की शक्ति का जन्मदाता समझा जाता है। उसकी रचनाओं



का प्रभाव साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ा। मास्की के शब्दों में यह प्रापुनिक युग के छन चार-पाँच व्यक्तियों में है, जिन्होंने मनुष्य के विचारों को सबसे अधिक प्रभावित किया है।

(२)

### मैक्सियाबसी से अस्तो तक राजनैतिक दर्शन

अस्तो के विचारों को समझने के लिए हमें अस्तो के पूर्व के राजनैतिक दर्शन पर दृष्टि डालना आवश्यक है। मैक्सियाबसी के समय में हमें जिस राष्ट्रीय राज्य प्रसीमित राजतंत्र और संप्रभुता के विचारों का सूत्रपाठ मिलता है। इनका पूर्ण विकास हास्य के राजदर्शन में हम पाते हैं। मैक्सियाबसी ने मनुष्य को स्वार्थी लोभी और भ्रष्टाचारी बताया था। इसलिए सामाजिक अराजकता समाप्त करने के लिए अस्तो राज्य को उपयोगी संस्था माना था। हास्य ने भी मानव प्रकृति के आधार पर राज्य का निर्माण किया है और यह विचार रखा था कि प्राकृतिक व्यवस्था के सर्वप्रथम जीवन से बचने के लिए मनुष्य ने आपस में समझौता करके प्रसीमित संप्रभु की व्यवस्था की है। परन्तु हास्य के समय में ही प्रसीमित राज्य-तंत्र के विरुद्ध प्रभाव डलने लगी थी और इंग्लैंड में पार्लियामेंट और राजा के बीच युद्ध भी हुआ था जिसमें पार्लियामेंट विजयी हुई थी।

१६८८ की राज्य क्रांति में यह स्पष्ट हो गया था कि राजा के अधिकार सीमित हैं और उसका यह मनुष्यों के अन्तर्गत अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए बनाया गया है। १६८८ की राज क्रांति की विचारवादा को वैधानिक रूप देने का श्रेय लॉक को है जिसके विचारों का सार था कि मनुष्य के कुछ अन्तर्गत अधिकार होते हैं। ये अन्तर्गत अधिकार जिन्हें वह प्राकृतिक अधिकार कहता है, मनुष्य के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से सम्बन्धित हैं। इन अधिकारों के कारण मनुष्य का प्राकृतिक जीवन भी सुखी था और इन प्राकृतिक व्यवस्था में भी सामाजिक जीवन था। परन्तु कुछ अनुविचारों के कारण लोगों ने समझौता करके इन प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए सरकार बनाई। जो सरकार इन अधिकारों को सुरक्षित नहीं करती उठी जनता परबन्धुन कर ठगती है। इस प्रकार लॉक के सिद्धान्त में व्यक्तिवादी विचारवादा प्रारम्भ हुई। लॉक के अनुसार—

(१) व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं जिन्हें राज्य को माफ्यता देनी चाहिए।

(२) राज्य व्यक्ति की स्वीकृति पर आधारित है।

(३) राज्य का कार्य केवल प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करना है।

इस प्रकार लॉक के परचाए

(१) हाब्स ने अतिशय ही राज्य और व्यक्तिबारी बर्तन में यह धारणा ठीक होती गई कि राज्य केवल एक उपयोगी संस्था है और

(२) लॉक का दृष्टान्त व्यक्तिबारी है अतः वह सीमित राजतंत्र के पक्ष में है।

(३) हाब्स और लॉक दोनों ही राज्य को मनुष्य की स्वीकृति पर आधारित मानते हैं, दोनों ही राज्य को केवल उपयोगी संस्था मानते हैं।

व्यक्तिबारी धारा ने बास्तेयर, डिडरोन की हृदयों में यह रूप लिया

कि शासक समाज और सामाजिक संस्थाएँ और पूरी सम्यता मनुष्य के पक्ष का कारण है। इसी के प्रारंभिक निबंध भी इसी विचारधारा को लेकर लिखे गये थे। परन्तु इनो की ये हृदयों धारणाएँ धार्मिकतात्मक ही हैं और उनके सोशल कांस्ट्रिक्ट जैसी प्रीड रचना के लिये कुछ भूमि प्रदान करती हैं, क्योंकि इस प्रीड रचना में ही वह अपने रचनात्मक विचार रचता है।

(३)

दसो के विचारों का विकास-क्रम

मैसनी का कहना है कि इनो के राजनीतिक विचारों को हम उन्नी समय समझ सकते हैं जब उन्हें चनीनी और दुबारा प्रति के रूप में देते हैं।<sup>1</sup>

1 "The political thought of Rousseau make sense only when viewed as protest and wish fulfilment."

प्रारंभिक काल में यह जुनीसी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है क्योंकि कला और विज्ञान के निर्बंध में वह स्पष्ट रूप से सिखता है कि मनुष्य स्वभाव से पञ्चत होता है पर सामाजिक संस्थाओं ने उसका पतन किया है। इसलिये इस निबंध में उसका सक्य स्पष्ट है, हमें फिर से वही अज्ञानता मोक्षापन और गरीबी से दो। केवल मही हमें मुक्ति बना सकती है। वही इस प्रकार इन सामाजिक बन्धनों को छोड़कर प्राकृतिक धर्मस्था को अपनाता चाहता है, क्योंकि उसके अनुसार प्राकृतिक धर्मस्था में मनुष्य स्वतंत्र या सुखी या ईमानदार या। मूल प्रकृतियों से उसका जीवन संघालित होता था, उसकी इच्छाओं सीमित थी और प्रकृति उसकी इच्छाओं का पूरा कर देती थी। उसे बन-संरक्षक करने की आवश्यकता न थी और न अपनी इच्छाओं से अधिक संपत्ति जोड़ने की। जलमे न व्यापार या न प्रतिद्वन्द्वता न झूठ और न धर्मनिराकारता। सभी मनुष्य समान थे स्वतंत्र थे क्योंकि संपत्ति न होने से असमानता हो ही नहीं सकती थी और किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर आधिपत्य भी न था।

प्राकृतिक धर्मस्था यदि इतनी अच्छी थी तो फिर समाज क्यों बना ? और वह सामाजिक धर्मस्था कैसे आई ? वही इस परिवर्तन को इस प्रकार समझता है। वह निश्चयता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि और कुसमता में असमान है। इसलिये ही शक्तिशाली बहुत, परिमती, स्वामी और दूसरे के उन्होंने संपत्ति अर्जित करने की कलाएँ बनाईं संपत्ति अर्जित कर ली और अन्य लोगों को अपने आधिपत्य में करना शुरू किया। फिर इन लोगों ने मोझे मासे गरीबों को मोक्षा देकर उनके सहयोग से राज्य निर्माता किया। राज्य बनने समय उन्होंने लोगों से कहा कि गरीबों को सुरक्षित, सामर्थियों को नियंत्रित करने और प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित भाग देने के लिये राज्य बनाया जा रहा है। पर वास्तव में वह बात ठीक न थी। राज्य बनवाना के हितों को सुरक्षित करने को बना है। राज्य ने गरीबों और धनीयों के ही बन बना दिये हैं, समाज में असमानता ला दी है, और गरीबों को बचन में बाँध दिया है। इस प्रकार समाज और नियम का प्रादुर्भाव हुआ जिसने गरीबों को नई देखियों से बाँधा, बन्धनों को नई शक्तियाँ दी, जिसने हमेशा के लिये प्राकृतिक स्वतंत्रता समाप्त कर दी सर्वत्र के निब संपत्ति और असमानता के नियम बना दिये, अन्ततः में ज्ञात आधिकात्वं को आधिकारिकीय परिवारों।

में बरबन दिया गया और कुछ अभिवापी व्यक्तियों के हित के लिए अन्य सभी व्यक्ति वारकत पश्चिम बागडा और दुरबन्धा म बंध गय ।

इस प्रकार रमो की प्रारंभिक कृतियों का मूलमत्र वा प्रकृतिवादी बनो । यह पात्र की सामाजिक समस्या को चुनौती देता है ।

परन्तु जीवन के अन्तिम दिना म उसने यह अनुभव किया कि समाज और सम्यता को छोड़कर फिर से प्राकृतिक जीवन पाना धर्मभव है । इसलिये मागल बन्धु क म उक्त उम समाज का निर्माण किया है, जिसम व्यक्ति फिर से प्राकृतिक जीवन के बरबान को प्राप्त कर सक और मात्र के समाजों क धर्म प्राप्त से मुक्त हो सके जिसमे धर्ममानता न हो जिसमें धासन की शक्ति और व्यक्ति की स्वतंत्रता का पूर्ण सामन्तर्य हा । 'कूकि किसी व्यक्ति का किसी

दूसरे व्यक्ति पर कोई प्राकृतिक धर्म नार नहीं है कूकि विरय व बल द्वारा धर्मियों का निर्माण नहीं होता इसलिये समाज का धर्मिकार उमी समय म्पापोषित हो सकता है, जब समाज समझने पर धारारित हो । इस समझने के द्वारा सभी व्यक्ति धामन मे भाप से । इस प्रकार यह नय समाज का संगठन सामाजिक समझने क सिद्धांत पर करता है और करता है कि समाज द्वारा बनाये नियमों में कूकि प्रदेक मनुष्य का हाप होया इसलिये यह धमनी इच्छा से निदमों का पासन करेया । उसके कर्तव्य मंडिक बर्नन्ध होये और समाज म रहकर ही व्यक्ति समाजता और स्वतंत्रता का उन्मोग कर सकेया ।

विचारो का विकास म

(१) प्रारंभिक कृतियों में यह प्राकृतिक व्यवस्था के गुण मान करता है और समाज तथा राज्य को मनुष्य के पतन का कारण मानता है ।

(२) सोशल बन्धु कट में यह पने धारमें समाज का संगठन करने का प्रयास करता है जिसमें मनुष्य प्रकृतिक व्यवस्था की स्वतंत्रता और समानता प्राप्त कर सके ।

प्रारंभिक कृतियों में यह व्यक्तिवादी है और वास्तविक समाजों का बंधु मानोबद्ध ।

अन्तिम कृति में यह सामाजिक संस्था को व्यक्ति की नतिक स्वतंत्रता के लिये धारम्यक मानता है इसलिये यह समाज का पुनर्गठन है ।

यहां लियेहोमें धात्र इतईवबलिटी मे हम क्ना म उच व्यक्तिवाद पाने है और समाज की धरदेमता यहाँ उतना ही उच समाजवाज हम सोटन-बन्धु कट

में पाये हैं। प्रारंभिक बयों की रचनाओं में वह वास्तविक समाजों का प्रासंगिक है। फ्रांस के समाज में उसने भ्रष्टाचार रोकना या इसलिये इन वास्तविक समाजों को ध्यान में रखते हुए ही उसने समाज को मनुष्य का नैतिक पतन करने वाला बताया है। परन्तु सोशल-कान्ट्रिब्यूट में वह प्रारंभिक समाज का विमर्श करता है। वह उस समाज का निर्माण करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग कर सके। इसलिये यदि प्रारंभिक कठियों में वह समाज का कट्टर घनू दिखाई देता है, तो वह समकालीन वास्तविक समाजों का कट्टर-समर्थक था। सोशल कान्ट्रिब्यूट में वह उस योजना को सेठा है, जिसके अनुसार समाज का संरक्षण होना चाहिये।

यदि हम बसों के इन दो दृष्टिकोणों को समझ लें तो हम बसों की कठियों में कोई विरोध न पायेंगे। बर्क में फ्रांस की क्रांति पर लिखते हुए क्रांतिकारियों पर उस व्यक्तिवाद का दोषारोपण किया है। क्रांति के प्रतिम बयों में वह दूसरी धारा पाता है, जिसमें व्यक्ति को तिलांजलि दे ही गई थी और राज्य ही उसके लिये सब कुछ था। दोनों प्रकार के धारों के लिये वह बसों को ही दोषी ठहराता है। बाह्य भी बसों की कठियों में एक घोर उग्र व्यक्तिवाद (Defiant individualism) और दूसरी घोर उग्रता ही उग्र समाजवाद (Equally defiant individualism) पाता है। परन्तु बसों ने अपनी प्रारम्भिक 'कम्युनिज्म' में यह कहीं व्यक्त नहीं किया कि उसने कभी किसी विरोधी भावना का अनुभव किया है। इसका विपरीत वह लिखता है कि सोशल-कान्ट्रिब्यूट का प्रारंभिक विचार विस्तारों का ध्यान इन दिग्दर्शितियों में व्यक्त कर दिया गया है। सोशल कान्ट्रिब्यूट में भी वह व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिकता का पोषक है। परन्तु प्लेटो और अरस्तू के समाज वह इस बात में विश्वास करता है कि मनुष्य समाज में रहकर ही स्वतंत्रता और सर्वश्रेष्ठ जीवन प्राप्त कर सकता है।

बसों के विचारों का स्रोत—

बसों ने अचरम में प्लूटार्क के जीवन चरित्र और प्लेटो की कठियों का अध्ययन किया था। हास्य और लालक की कठियों से भी उसकी जानकारी थी। हास्य और लालक का जितना प्रभाव उस पर था उतना ही पुनानी बचन और संस्थाओं का भी। इसलिये एक घोर तो वह वैयक्तिक स्वतंत्रता का पुनर्जाती है और दूसरी घोर सामाजिक जीवन का। यदि एक घोर वह लालक का उत्तर-

बिकारी है तो दूसरी घोर प्लेटो का। साक का बचन व्यक्तिवादी है, घोर वह राज्य को केवल व्यक्तियों के हित का मापन मानता है। हमो भी प्रारम्भिक कृतियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता व समानता का पोषक हान के कारण व्यक्तिवादी था। परन्तु सोघम कास्टु व में वह समाज का महानता होता है, घोर इस बात में

विचारों का स्रोत  
साक- व्यक्तिवादी बचन स्वतन्त्रता प्राप्त कर  
सिद्धान्त जनसंप्रभुता। सनता है। हम विचारमारा पर प्लेटो  
प्लेटो- समाज ही व्यक्ति को सर्वशक्त्य व्यक्तिवाद से घृष्टकारा दिनाण हम  
या नैतिक जीवन दे सनता है। सिये प्लेटो के प्रभाव से उमने फिर  
राजनैतिक बर्तन को प्राय किमा। प्लेटो के विचारों का मुख्य तत्व यह था  
कि राजनैतिक पराधीनता पूर्णता नैतिक है। समुदाय नैतिक बनाने वाली  
संस्था है।

हाम से उमन संप्रभुता की धारणा सी घोर साक से यह विचार सिमा कि  
वास्तविक शक्ति जनता के हाथ में है। इस प्रकार दोनों धारणाओं को मिलाकर  
उमने जन प्रभुत्व की धारणा स्थापित की। मारले ( Morley ) यह कहकर  
उमक सिद्धान्त को धरणी तरह यस्त करता है कि उमका सिद्धान्त 'हाम की  
मनोवृत्ति घोर विचारमारा तथा साक के निष्कर्ष का विभिन्न समिपण है।'  
उमका संप्रभु उठना ही शक्तिशाली है, त्रिभवा हाम का निष्कर्षजन परन्तु उमका  
संप्रभु जनता है।

( ४ )

### मानव-प्रवृत्ति और स्वतन्त्रता

स्वतन्त्र घोर सहानुभूति—

हमो के विचारों को समझने के लिय हमे उमके मानव प्रवृत्ति संकपी  
विचार समझना चाहिये। हमो के अनुसार मनुष्य में दो भूय प्रवृत्तियाँ हैं—  
स्वतन्त्र स्वतन्त्रता और दूसरी सहानुभूति धरणी वारतपरिक महानता की

1 It is a curious fusion between the premises and the temper of Hobbes and the conclusion of Locke."

प्रवृत्ति। स्वयंसा की मूल-प्रवृत्ति उसे धपनी रखा करने के लिए चिन्तित करती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह धपने जीवन को सुरक्षित रख सका है। सहानुभूति की प्रवृत्ति के द्वारा वह समाज में रहकर एक दूसरे की सहायता करता है। यदि वह दूसरी प्रवृत्ति न होती तो मनुष्य में प्रतिद्वन्द्विता होती और जीवन संभाम में वह धपने अस्तित्व को नष्ट कर देता। सहानुभूति की प्रवृत्ति पर ही कुटुंब बना है। इस मूल प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य स्वाभावतः धण्डा है और दूसरों के साथ रहने में सुख पाता है।

**धन्तः चेतना—**

परन्तु कभी कभी स्वयंसा और सहानुभूति की मूल प्रवृत्तियों में संघर्ष की घासंवा हो सकती है। इसलिये इनके संघर्ष को मिटाने के लिये मनुष्य में धन्तः चेतना (Conscience) होती है जो मनुष्य को धण्डे कार्यों को करने के लिये प्रेरित करती है।

**विवेक—**

जब मनुष्य का जीवन बटिल हो जाता है तो धन्तः चेतना उचित

धनुषित धण्डाई-बुराई में मेव नहीं

कर पाती क्योंकि धन्तः चेतना

तो केवल प्रेरणा है जो मनुष्य की

सही रास्ते को धपाने और बुरे

रास्ते से बुरा करने को प्रेरित करती

है। वह धण्डे और बुरे का मेव नहीं

बता सकती धण्डाई और बुराई का

ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य में

विवेक का जन्म होता है। विवेक

मनुष्य को यह बताता है कि धण्डा

नया है और बड़े नया करना चाहिये ?

परन्तु सही रास्ते को धपाने का काम

चेतना का होता है, विवेक का नहीं।

इस प्रकार विवेक पच-प्रवर्धन करता

है और विवेक के निर्बन्धन पर चेतना

नैतिक जीवन की मूर्ति करती है। इस

तरह चेतना और विवेक के द्वारा मनुष्य

**मानव प्रवृत्ति**

**मूल प्रवृत्तियाँ—**

स्वयंसा—स्वयंसा

सहानुभूति—सामाजिकता

धन्तः चेतना—धण्डे कार्यों को धोर

ले जाने वाली धण्डि;

विवेक—धण्डे बुरे का ज्ञान।

इसलिये धण्ड मनुष्य यह है

जिसमें विवेक और धन्तः चेतना द्वारा

मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियों का उचित

समन्वय होता है।

समाज में भी विवेकपूर्व नियमों

द्वारा मनुष्य का संभालन होता है।

इसलिये समाज में ही धण्डि धण्ड

जीवन प्राप्त कर सकता है।

की दोनों प्रवृत्तियों में समन्वय होता है। इसलिये प्राकृतिक मनुष्य यह है, जिसमें

बेतना और विवेक ने मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का समन्वय किया है। यहाँ रूसो भी प्राकृतिक राज्य का प्रयोग धरतू के समान सर्वसमूह के लिये करता है।

मनुष्य की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये समाज आवश्यक है। समाज में बहु विधियों और कर्तव्यों से परिचित हो जाता है, और वह ऐसा कार्य नहीं करता जो उसकी स्वच्छता द्वारा संज्ञानित हों। इसलिये समाज में ही उच्च नैतिक स्वतंत्रता मिल सकती है। एक मनुष्य अपना जीवन सर्वसमूह क्यों नहीं बनाता उसका सत्य पूरा क्यों नहीं होता ?

वास्तविक समाज—

इस प्रश्न के उत्तर में हमें रूसो के वास्तविक समाज के प्रति पूरा का कारण मिल जाता है। वह सिगता है कि मनुष्य का स्वप्न जो वास्तव में उसकी आवश्यकता पूरा करने के लिये है बर्बन जाता है और यह बर्ब उसकी सहानुभूति के साथ मेल नहीं खाता। स्वप्न उसकी सीमित आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है, परन्तु जब वह अपनी आवश्यकताओं से अधिक अपने पड़ोसी के हिस्से को भी हथियाना चाहता है, तो बर्ब का उदय हो जाता है। यह बर्ब उसकी सहानुभूति के साथ मेल नहीं

वास्तविक समाजों में स्वप्न पाता क्योंकि इस बर्ब के द्वारा वह दूसरे और सहानुभूति का उचित सामन्वय को मज्जित करने की कोशिश करता नहीं होता। स्वप्न तोड़ होता है और अपनी सामान्यता को बढ़ाता है। यह बर्ब का रूप लेता है जिसमें है। इस बर्ब ने ही मनुष्य को विमादा सहानुभूति को तिलांजलि दे दी है। हमी ने ही जगके स्वभाव के चारों ओर संसृति का निर्माण किया है।

प्रारम्भिक कृतियों में समाज और सम्प्रदायों के उदय का कारण रूसो इसी बर्ब को बताता है कि हमी बर्ब के कारण ही कुछ व्यक्ति समाज की रचना कर अपना हित साधन करते हैं और समाज से प्राकृतिक व्यवस्था की स्वतंत्रता और समानता समाप्त हो जाती है। मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव बिगड़ हो जाता है। समाज अप्राकृतिक मनुष्य बनाता है इसीलिये रूसो का कहना है— 'प्राकृतिक बनो' ( Back to

१. क्योंकि मनुष्य समाज नहीं छोड़ सकता इसलिये यह प्राकृतिक व्यवस्था उसकी प्रौढ़ कृति में राज्य के पूर्व की व्यवस्था नहीं है। प्राकृतिक व्यवस्था कई सामाजिक व्यवस्था वाली इसलिये यह समाज की पूर्ववर्ती नहीं उत्तर बर्बों व्यवस्था है।



nature) । यदि मनुष्य को पतित होने से बचना है तो उसे बर्ब त्याग देना चाहिये और केवल स्वप्रेम से ही उद्योग करना चाहिये जो उसका प्राकृतिक स्वभाव है ।

स्वतन्त्रता का अर्थ—

मनुष्य का ब्रह्मण्य पुण्य है स्वतन्त्रता । मनुष्य केवल विवेक और वेतना से ही सर्वभ्रष्ट जीवन प्राप्त नहीं कर सकता है, जब तक मनुष्य को अपना रास्ता बनाने और कार्य करने की

स्वतन्त्रता का अर्थ है कतव्य और उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित हो कर काम करना ।

विवेक के अनुसार कार्य करने से नैतिक स्वतन्त्रता (सर्वभ्रष्ट जीवन) मिलती है ।

स्वतन्त्रता न हो । परन्तु स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता नहीं है । बच्चों प्रथम लोगों और जानवरों में भी मनचाहे कार्य करने की स्वतन्त्रता होती है, परन्तु इसे स्वच्छन्दता (Independence) कहना उचित होया क्योंकि वे प्राणी अपनी इच्छा और स्वैच्छा के बाध होते हैं । केवल इच्छानुसार कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं है, बल्कि कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता कहते हैं । कतव्य और उत्तरदायित्व की भावना समाज के नियमों के अन्तर्गत होती है, इसलिये इसे हम नागरिक स्वतन्त्रता कहते हैं ।

नागरिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत् नैतिक स्वतन्त्रता होती है । यह उच्च समय प्राप्त होती है जब व्यक्ति विवेक से कार्य करता है जब वह इच्छाओं का नहीं विवेक का गुलाम होता है । इसी के द्वारा ही व्यक्ति सर्वभ्रष्ट जीवन प्राप्त कर सकता है ।

( ५ )

सामाजिक समझौते की परंपरा और स्वीकृति सिद्धान्त

हास्य धारि सामाजिक समझौते के नियमों में राज्य की समझौते का परिणाम माना है । उनका अनुसार प्रारम्भ में समाज नहीं था और मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे । प्राकृतिक अवस्थाओं में कुछ अनुविचार्यों की इसलिये लोगों ने धारम में समझौता कर हास्य के अनुसार प्रथम मुद्राज और राज्य, और सौक के अनुसार सरकार का निर्माण किया ।

हमो में भी सामाजिक समझौते की शम्भाबसी की धरनाया है । डिक्कोर्म में उसने प्राकृतिक धरबसा का भी धिरण दिया है । चूँकि वह प्राकृतिक धरबसा को धात्र के नास्तिकिक धमार्जों से धरध्र मानता है, हमसिये उसकी प्राकृतिक धरबसा न धिरी प्रकार को धनुधिया न भी हमसिये धारंभिक कठियों में वह सामाजिक समझौते की धा धमार्ज बनाने की धरर्षा नहीं करता । धर सोधम नास्ट्रेण न वह एक धरधरत धमार्ज का नगठन करता है, क्योंकि धर उधका यह धिरबाध हो गया धा कि नैतिकता का धिरकाध धमार्ज न ही धरबध है । चूँकि धरधेक धनुधय स्वधरज है, हमसिये उधकी इध्दा के धिरउ उधके ध्दार कोई धिरधरण नहीं रगा जा सकता । बल के ध्दार धाधारिध रान्य धा धम्य कोई रान्य धिरधमे उधकी रवीकठि धरी है, नैतिक रान्य नहीं हो सकता धाकि केबल धरनी स्वधरग इध्दा के धनुधार काधे करना धीर नस्यार्ये बनाना ही नैतिक काधे हो सकता है । हमसिये वह रान्य के धिराण के धिये सामाजिक समझौते को धाधरधरक धरध्रता है । वह धिरगता है :

चूँकि धिनी धाधमी के धाध धरने साधी धर कोई प्राकृतिक धता नहीं है धीर बल से धरिधर नही बन सकते हमसिये ह्ये इमी धिरधर्य धर धरुधना धाधिये कि समझौता ही धनुध्यों के धीध ग्याधोधिध धता का धाधार है।<sup>1</sup>

धरनु धवा समझौते के ध्दार ध्यलि धरने सारे धरिधर का केबल धीधन धुरता के धिये धिनी एक ध्यलि धा ध्यलि धनुध की धीध सकता है, धँसा हाम्य नै धिया है ? यह तो धनुधय की धरकठि के धिरउ होगा । कोकि कोई धी धनुधय केबल धुरता के धिये धरनी नैतिक स्वधरगता न राना धाधेया ।

सौक में धमार्ज के धिराण धरने धीर सामाजिक धता का धरधोय धरने में रवीधृठि की धाधरधरता धानो है, धरनु उधने दध रवीधृठि के धिराधत की धुर्य ध्याधसा नहीं की । सौक के धनुधार धरधम रान्य बनाने में धरकी रवीकठि (धीधरक धा धुध) ली धाधी है, धरनु धमार्ज का धार्य बनाने के धिये धरुधरधरक धोधी की रवीकठि धाधी है ।

हमो सौक के दध रवीकठि धिराधत में धनुध नहीं है । उधके धनुधार धाधर धा धार्य उधो धधय नैतिक हा नकता है उध हू धार्य में धरधेक

1 "Since no man has a natural authority over his fellow and force creates no right, we must conclude that convention form the basis of all legitimate authority among men."

व्यक्ति की हर समय स्वीकृति रहे। यह सोचना कि बहुसंख्यक लोगों की स्वीकृति से काम चल सकता है, ठीक नहीं क्योंकि बहुसंख्यक असंसंख्यकों पर छतना ही बुराचार कर सकते हैं या घनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य कर सकते हैं, जितना कोई एक मनुष्य सब मनुष्यों के विरुद्ध।

बत्ती की समस्या—

इस प्रकार बत्ती के सामने यह समस्या थी कि राज्य का संरक्षण किस प्रकार हो

(१) जिसमें सभी व्यक्तियों की स्वीकृति न केवल राज्य की प्रथम स्थापना के समय हो बल्कि राज्य के प्रत्येक कार्य में हर कदम पर हो

(२) जिसमें मनुष्य अपने विवेक के अनुसार कार्य कर नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके

(३) जिसमें वह किसी का दास न हो, बल्कि अपनी बौद्धिक इच्छा के अनुसार ही कार्य करे, या दूसरे लोगों से जहाँ उसकी इच्छा थीर राज्य की इच्छा एक हो जहाँ राज्य के नियम उसके बन्धन में रहें जहाँ राज्य की इच्छा उसके विवेक की इच्छा हो।

इस प्रकार बत्ती के बन्धनों में प्रथम समझौते का उद्देश्य था 'समुदाय के ऐसे रूप को प्राप्त करना जो अपने पूरे सामूहिक बल द्वारा प्रत्येक समुदाय बनाने वाले व्यक्ति के जीवन और माल की सुरक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के साथ मिलकर छतना ही स्वतन्त्र रहे, जितना पहिले।'

इस तरह बत्ती राज्य में प्रत्येक व्यक्ति के सिये समान परिस्थितियाँ रखना चाहता है, प्रत्येक के नैतिक विकास और हित की रक्षा करना चाहता है, जिसमें वह इच्छाओं का मुसाम न रहकर कर्तव्य की पुकार सुन सके।

1 To find a form of association which may defend and protect with the whole force of the community the person and property of every associate and by means of which each, combining with all may nevertheless obey only himself and remain as free as before."

( ६ )

### इसो का सामाजिक समझौता

इसो राज्य को एक साक्षर मानता है, इसलिये यह हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि व्यक्ति समझौते के द्वारा राज्य का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि साक्षर होने के कारण राज्य का स्वतंत्र अस्तित्व है, उसके निर्माणकारी तत्व (मनुष्य) समझौते के आधार पर हमकी रचना नहीं कर सकते। सिद्धि उगने राज्य के स्वतंत्र की समझौते के लिये ही सामाजिक समझौते की शर्तवली को अपनाया है। चूंकि यह मह मानता है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की स्वीकृति आवश्यक है, इसलिये वह अपने समय में प्रचलित सामाजिक समझौते को अपनाता है। इसलिये यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह समझौता न

कभी हुआ है, न कभी होगा। समझौते के राज्य केवल राज्य की प्रकृति की व्यक्त करने के लिये हैं।

सामाजिक समझौता देता हो जिसमें—

- (१) प्रत्येक की स्वीकृति हो (हर समय)
- (२) जिसमें व्यक्ति अपने बिबेक को धारणा माने और सर्वत्र स्वतंत्र रहे।

इसो का सामाजिक समझौता राज्य के स्वतंत्र को व्यक्त करता है राज्य की उत्पत्ति को नहीं।

सामाजिक समझौता नैतिक साक्षर की जन्म देता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल सामाज्य इच्छा को अपने सब अविचार देता है।

इसो के अनुसार सामाजिक समझौता इन शर्तों पर हुआ है, हममें से प्रत्येक अपना व्यक्तित्व और अपनी सभी शक्तियाँ सामाज्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन व अन्तर्गत समूह को दे देते हैं और इन प्रकार समुदाय के मध्य होने के माने—पूर्णाता का अंग है।—हम फिर वह शक्ति पा लेते हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार प्रत्येक समझौता करने वाली वैयक्तिक इकाई के स्थान पर हम समुदाय निर्माण करते एक नैतिक और सामूहिक गठना बना लेते

हैं। यह सामूहिकता एक नई इकाई एक सामूहिक व्यक्तित्व सामूहिक जीवन और सामूहिक इच्छा है।

1 "each of us puts his person and all his power in common under the supreme direction of the general will, and in our corporate capacity we receive each member as an indivisible part of the whole"

इस प्रकार हम देखते हैं कि

(१) समुदाय और राज्य के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी स्वीकृति दी है

(२) सभी व्यक्तियों के मत से एक नई सामाजिक इकाई बनी है, जिसे हम सावयव कह सकते हैं

(३) इस सावयव की अपनी निजी इच्छा है, जिसे हम सामाज्य इच्छा कहते हैं। सामाज्य इच्छा वैयक्तिक इच्छाओं का समूह मात्र नहीं है। यह सबके हित की—विवेक की—इच्छा है

(४) इस सावयव (सार्वजनिक व्यक्ति) की इच्छा से नियम बनते हैं जिन्हें हम विवेक के नियम कहेंगे

(५) इन नियमों के पालन करने से ही मनुष्य को स्वाम्य और स्वतन्त्रता मिलती है, क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ है, विवेक के अनुसार कार्य करना।

इस समझौते में हम निम्नलिखित विशेषतायें पाते हैं :

(१) प्रत्येक सबस्य अपने सब अधिकार किसी व्यक्ति विशेष को नहीं बरतू पूरे समुदाय को देते हैं। और चूँकि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से वे अधिकार समुदाय को देता है इसलिये (अ) समझौते में सबके लिये समान परिस्थितियाँ हैं (ब) इस समझौते के द्वारा किसी व्यक्ति विशेष को अन्य व्यक्तियों पर सत्ता नहीं मिलती इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने को सबको देते हुए, किसी को नहीं देता।<sup>1</sup>

(२) जो अधिकार बहू छोटा भी है वही अधिकार बहू दूसरों पर प्राप्त भी करता है इसलिये उसके लिये लाभ व हानि बराबर है। पर इस समझौते के द्वारा उसे बिना किसी मूस्य के अपना हित साधन करने के लिये सामाजिक बल मिल जाता है।

(३) यह एक पारस्परिक समझौता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामाज्य इच्छा के अनुसार सामाज्य हित के लिये एक दूसरे से बंध जाता है।

(४) चूँकि सामाज्य इच्छा विवेक की इच्छा है व्यक्ति की सर्वोत्तम इच्छा है, इसलिये इस समझौते के द्वारा व्यक्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। उसके कार्य अब मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित न होकर विवेक द्वारा समाज के

1 "each giving himself to all gives himself to none."

प्रति कलम की भावना द्वारा बनते हैं। इसलिये वह स्वच्छन्दता के स्वान पर नैतिक स्वतंत्रता पाता है, नैतिक इच्छामों के स्वान पर कर्तव्य की पुकार सुनता है। वह विवेक की सलाह मानकर काम करने को बाध्य होता है।

(१) राज्य एक साक्षर है, उसके पास सर्वोच्च शक्ति है। सब की समझ के लिये प्रत्येक घंघ को संज्ञानित करने के लिये उसके पास सर्वोच्च शक्ति चाहिये।<sup>२</sup>

(२) चूंकि कर्तव्य की भावना या अनहित में कार्य करना ही स्वतंत्रता है इसलिये जब राज्य मनुष्य को अपनी अपनी इच्छा के अनुसार नहीं चलानहित के लिये कार्य करने वा बाध्य करेगा तो प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होने के लिये बाध्य किया जावेगा। इसलिये इस असीमित शक्ति से व्यक्ति का बचन नहीं होया। मनुष्य स्वच्छन्दता गोबेगा नैतिक स्वतंत्रता नहीं।

(३) इस प्रकार रूसो के अनुसार राज्य बस पर नहीं स्वीकृति पर आधारित है।

मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है

रूसो के राजनैतिक दर्शन का अध्ययन करने के पश्चात् ही हम सोशल कान्ट्रिब्यूट के प्रसिद्ध प्रथम वाक्य का अर्थ समझ सकते हैं कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है लेकिन वह हर जगह बंधन में है (Man is born free; however he is everywhere in chains) यह वाक्य मोगन कान्ट्रिब्यूट के प्रथम प्रारम्भ में भी लिखा गया था जब रूसो वास्तविक सरकारों और सम्यता की कुराई बतान में सला हुआ था। उस समय हम वाक्य का अर्थ स्पष्ट था कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है परन्तु समाज और रीतिरिवाजों के उसे बन्दी बना दिया है। परन्तु मोक्ष कान्ट्रिब्यूट के अंतिम प्रारम्भ में जब उनका उद्देश्य आदर्श समाज की रचना है, उस समय भी यह वाक्य ज्यों का त्यों आया है। हम ही बोले से हम वाक्य का अर्थ यह होया कि मनुष्य स्वतंत्रता के लिये पैदा हुआ है (और वह स्वतंत्र अभी है, जब वह हम नैतिक समुदाय का अंग बनकर या विवेक के अनुसार कार्य करता है) लेकिन वह बंधन में पड़ता है

2. "If the State is a moral person whose life is in the union of its members, and if the most important of its cares is the care for its own preservation it must have a universal and compelling force in order to move and dispose each part as may be most advantageous to the whole"

(क्योंकि बहुत ही वास्तविक सरकारें बल पर धाबाधित हैं, सामान्य इच्छा पर नहीं)। सच्ची स्वतंत्रता यही है, जब मनुष्य विधि और नियम को अपने ही विवेक की इच्छा समझकर स्वीकार करते हैं।

( ७ )

### सामान्य इच्छा

जबो अपने सामाजिक समझौते के द्वारा सारे अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं बल्कि सामान्य इच्छा को देता है इसलिये हमें सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

मनुष्य के कुछ सार्वजनिक हित होते हैं जिसे पूरा करने के लिये ही मनुष्य समुदायों में रहता है। यह सार्वजनिक हित 'सर्वमष्ट जीवन की प्राप्ति' है इस प्रकार मनुष्य के सार्वजनिक हित या समुदाय का उद्देश्य नैतिक उद्देश्य होता है और इन नैतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिये ही मनुष्य समाज में रहता है। सर्वमष्ट जीवन की प्राप्ति करना प्रायक मनुष्य की इच्छा होती है— परन्तु मनुष्य में कुछ अपनी निजी इच्छायें भी होती हैं जो पूरे समाज की नहीं बल्कि व्यक्ति विशेष की आवश्यकताओं से संबंधित होती हैं। इन इच्छाओं का केन्द्र मनुष्य होता है। ये व्यक्ति के ग्रहण और स्वार्थ से संबंधित होती हैं।

इस प्रकार मनुष्य की दो इच्छायें हैं, एक स्वयं से संबंधित और दूसरी सार्वजनिक हित से संबंधित। जब मनुष्य सार्वजनिक हित में ही अपनी हित देखता है या दूसरे शब्दों में जब मनुष्य की इच्छा सर्वमष्ट जीवन की प्राप्ति के लिये होती है तब इस निजी स्वार्थ-साधन की इच्छा और सार्वजनिक हित साधन की इच्छा में कोई संघर्ष नहीं होता। परन्तु जब सार्वजनिक हित और मनुष्य के हित में विरोध होता है तो इन दो इच्छाओं का प्रसंग प्रसंग होना स्पष्ट दिखाई देता है।

सर्वमष्ट जीवन से संबंधित मनुष्य की इच्छा उसकी सच्ची इच्छा है (real will) है, और उसके स्वार्थ से संबंधित इच्छा उसकी वास्तविक इच्छा (actual will) है।

मनुष्य की इन दो प्रकार की इच्छाओं के अन्तर को समझने के परवान् हम सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझ सकते हैं। सामान्य इच्छा सब लोगों के

सार्वजनिक हित की इच्छा है। वह समुदाय में पाये जाने वाले व्यक्तियों की इच्छा का मोन नहीं है। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक समुदाय में इस व्यक्ति है। जो कि प्रत्येक व्यक्ति में ही इच्छाएँ होती हैं, इसलिये सबकी इच्छाओं का योग बीच हुआ। पर इन बीच में स्वार्थ की इच्छा भी मिली है इसलिये यदि हम स्वार्थ की इच्छाओं को निकास दें तो वह सार्वजनिक हित की इच्छा होगी। इसे हम एक दूसरे मूल के द्वारा भी समझ सकते हैं।

(सबकी इच्छा—सबके स्वार्थ की इच्छा) = सामान्य इच्छा

जो कि सार्वजनिक हित या सर्वमच्छ जीवन की प्राप्ति हमारे विवेक की इच्छा है, इसलिये सामान्य इच्छा को हम विवेक की इच्छा भी कह सकते हैं। इस तरह एक ही मनुष्य की विवेक की इच्छा यदि वह पूरे सामाजिक नस्यास में अपना नस्यास देगता है, सामान्य इच्छा बही या सबकी है। समाज में जहाँ सभी व्यक्ति एक दूसरे के संपर्क में आते हैं और किसी विषय पर अपनी सामूहिक इच्छा बनाते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की स्वार्थी इच्छा केवल उसी व्यक्ति से संबंधित होने के कारण दूसरे व्यक्ति की इच्छा से बट जाती है, और इस तरह समूह की इच्छा में केवल सार्वजनिक हित की इच्छा ही रह जाती है। इसी कारण समुदाय की विवेकशील इच्छा को हमने सामान्य इच्छा कहा है। भारतीय परंपरा के अनुसार भी हम सामान्य इच्छा को पंच परमेश्वर कहते हैं। पंचों का म्याम पांच व्यक्ति के समुदाय का म्याम है जिसमें किसी व्यक्ति का निजी स्वार्थ नहीं होता। इसलिये पंचों का निर्णय विवेक का निर्णय है, सबके हित का निर्णय है, परमेश्वर का निर्णय है।

इसो सबकी इच्छा और सामान्य इच्छा में अंतर मानना है। सबकी इच्छा वैयक्तिक हितों का समूह-मात्र है। वह समुदाय के प्रत्येक सदस्य के केवल निजी हित को सामने रखती है। इसमें कोई सामान्य गुण नहीं है और न ये सार्वजनिक हित को सामने रखती है—इसलिये सबकी इच्छा व्यक्ति की इच्छाओं का केवल समूह-मात्र है। उनमें हमें कोई एकता—सादर्यही एकता नहीं मिलती, जो सामान्य इच्छा में हमें सिगाई देती है।

जीजाय कहना है कि सबकी इच्छा और सामान्य इच्छा तथा वास्तविक इच्छा और सभी इच्छा में अंतर मानना इसलिये आवश्यक है, पनाइ सच



हित को पूरा करने के लिये कुछ प्रयत्न की आवश्यकता होती है, बलिदान की आवश्यकता होती है, शक्ति की आवश्यकता होती है। परन्तु स्वार्थी या शक्ति हित मनुष्य को कमबोर बनाता है, और अधिकतर मनुष्य इसी के अनुसार काम करते हैं। सामान्य इच्छा को कुनीची बना अपने सब हित के विरुद्ध कार्य करना है अपनी सभी इच्छा की उपेक्षा करना है। हमारी नैतिक स्वतंत्रता अपनी सभी इच्छा या सामान्य इच्छा के अनुसार काम करने में है। इसलिये जब मनुष्य अपनी सभी इच्छा के विरुद्ध जाता हो तो सामान्य इच्छा (राज्य) उसे बंद देती है, जिसमें वह सही रास्ते पर आ जाय और अपनी सभी इच्छा को माले तथा सभी स्वतन्त्रता का उपयोग कर सके। इस प्रकार कसो के अनुसार राज्य में मनुष्य स्वतंत्र होने के लिये बाध्य किया जाता है।

सामान्य इच्छा पूरे समुदाय की इच्छा है। ध्यान रखने की बात है कि यह

सामान्य इच्छा सार्वजनिक हित साधन की इच्छा है, विवेक की इच्छा है।

यह पूरे समुदाय की दृष्टता में बाँपती है।

इसके द्वारा मनुष्य को

- (१) मूल प्रवृत्तियों के स्थान पर विवेक का शासन प्राप्त होता है।
- (२) शक्ति के स्थान पर अधिकार मिलता है।
- (३) स्वतन्त्रता के स्थान पर स्वतन्त्रता मिलती है।

सामान्य इच्छा केवल व्यक्तियों की इच्छाओं का समूह-भाव नहीं। व्यक्तियों के पारस्परिक मेल से ही इस नई इच्छा का जन्म होता है, इसलिये सामान्य इच्छा समुदाय बनाने वाले व्यक्तियों की इच्छा से परे और स्वतंत्र है। यह नई, नैतिक और व्यक्तियों से स्वतंत्र इच्छा राज्य की इच्छा है। इस प्रकार सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य का नया साक्षर उत्पन्न होता है, जिसकी अपनी निजी इच्छा सामान्य इच्छा है। इस प्रकार सामान्य इच्छा पूरे समुदाय को एकता में बाँपती है। विवेकपूर्ण होने के कारण यह पूरे समुदाय की विवेक पूर्ण बनती है।

सामान्य इच्छा के स्वरूप को समझने के पश्चात् ही हम कसो का यह कथन समझ सकते हैं कि सामाजिक समझौते द्वारा मनुष्य के जीवन और उसके व्यवहार में एक बड़ा परिवर्तन आ जाता है। कसो निराला है,

प्राकृतिक व्यवस्था से राजनीतिक व्यवस्था का परिवर्तन मनुष्य में बड़ा भारी  
 रूढ़िवादी है क्योंकि—

(१) मनुष्य राज्य में अपनी मूल प्रवृत्तियों द्वारा मही विवेक द्वारा  
 उत्पन्न होता है।

(२) उसमें कर्तव्य की भावना जागृत हो जाती है और वह मूल  
 प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर नहीं समझ बुझकर कर्तव्य की पुकार मुझकर कार्य  
 करता है, इसलिये जब मनुष्य का प्रत्येक कार्य नैतिक होता है।

(३) सामाजिक समझौते से मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता और  
 प्रत्येक वस्तु की हृदय करने की समीक्षित शक्ति को गौरे देता है। इस  
 स्वतंत्रता के बदले में उसे मिसत्री है—नागरिक स्वतंत्रता अर्थात् कर्तव्य  
 भावना और उत्तरदायित्व से प्रेरित होकर काम करने की प्रेरणा। इसे मिसत्री  
 है स्वतंत्रता, अर्थात् अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की परिस्थिति।  
 हृदयों में वह जाना बुझानी है पर जिन नियमों को हम स्वयं बनाते हैं  
 उनकी आधीनता स्वतंत्रता है।

( ८ )

संभ्रमुता

संभ्रमुता का सिद्धान्त राष्ट्रीय राज्यों के साथ ही विद्यमान हुआ था।  
 राज्य ने सबसे पहिले संभ्रमुता के उन सहायकों को बनाया था जिन्हें हम साथ  
 भी रखीजार करते हैं। उनके अनुसार संभ्रमु की शक्ति समीक्षित अपने  
 अविनाश्य और साधनीयिक होती है। परन्तु राज्य के सामाजिक समझौते  
 के सिद्धान्त में व्यक्ति अपनी सारी शक्ति एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को देता  
 है और यह शक्ति बर्ष प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं है। इसलिये राज्य में  
 संभ्रमु शक्ति निरनुप राजा के हाथ में है प्रजा के हाथ में नहीं।

साक ने राज्य के सिद्धान्त में संशोधन किया और सर्वोच्च शक्ति जनता क  
 हाथ में रखी परन्तु न क क सामाजिक समझौते क सिद्धान्त म जनता इस शक्ति  
 का उपयोग निरंतर नहीं करती।

इसो साक की जनसंभ्रमुता और राज्य की समीक्षित शक्ति का मत करता है।  
 एर्नेस्ट राय (Ernest Rhyds) सिद्धांत है, कि, 'बड़ी राज्य की निरनुप

सत्ता और साक की जन-स्वीकृति को जन संप्रभुता के दार्शनिक विज्ञान में मिलाता है ।<sup>१</sup>

हाम्म के अनुसार समाज का संवर्धन संप्रभु पर निर्भर है । उसके हटते ही समाज समाप्त हो जाता है, और व्यक्ति प्राकृतिक प्रकृति में पतुन जाता है । सामाजिक समझौते की शर्त के अनुसार व्यक्ति अपने सब कुछ, सब अधिकार, और अपनी इच्छा भी संप्रभु को दे देते हैं । इस तरह हाम्म का संप्रभु जनता द्वारा स्थापित तो होता है, परन्तु जनता के पास अपनी कोई शक्ति नहीं रहती । संप्रभु सर्वशक्तिमान् हा जाता है, उसके पास प्रसीमित सत्ता है ।

साक हाम्म के विज्ञान में सञ्चोचन करता है । उसके अनुसार सामाजिक समझौते पर आधारित राज्य जनता के हित के लिये, और जनता की स्वीकृति पर बना है । यदि सरकार जनहित को पूरा नहीं करती तो वह परम्पुत की जा सकती है । समझौते की शर्तों के अनुसार व्यक्ति अपने अधिकारों का केवल एक भाग ही सरकार को समर्पित करते हैं—इस अर्थ से कि उनके शेष अधिकार सुरक्षित रह सकें । इस प्रकार साक द्वारा बताया गई सरकार सीमित और प्रस्थामी है । एक सीमा तक साक सर्वोच्च सत्ता और सरकार में विभक्तता मानता है ।

हाम्म इस अर्थ को नहीं मानता । साक ने सरकार की स्थापना इस अर्थ से समझ की है कि वह जनता के हित में शासन करेगी । परन्तु यदि सरकार इस प्रकार शासन नहीं करती तो सिवा बिरोह के उसे हटाने के लिये साक और कोई युक्ति नहीं बताता । वह तो यह भी मानकर चलता है कि जब तक बिरोह नहीं होता सरकार के कार्य में जनता की स्वीकृति निहित समझी जावेगी । इसलिये यद्यपि जनता के पास में शक्ति शक्ति है, परन्तु वह निष्क्रिय रूप में पड़ी रहती है । सरकार जब बहुत अधिक अपने कर्तव्य से श्युत होने लगेगी तभी यह मुमकिन जन संप्रभु प्रचलक जायेगा ।

साक से विभक्त रंगो जन-संप्रभुता को निरंतर कार्य में करने वाली शक्ति बताता है और हाम्म से विभक्त रंगो की जनता संप्रभु नहीं बनाती, अपने समझौते के द्वारा स्वयं संप्रभु हो जाती है, और निरंतर इन शक्ति का प्रयोग करती है ।

1 "Rousseau writes the absolute sovereignty of Hobbes and the popular consent of Locke into the philosophical doctrine of popular sovereignty"

इसके के अनुसार संप्रभु शक्ति अवेद्य है। लोग अपने सामनाधिकार को दूसरों को हस्तान्तरित नहीं कर सकते। सरकार सभी एजेंट है, जिसे संप्रभु के कुछ अधिकार दे दिये हैं। सरकार और उसके अधिकार जन-संप्रभु की इच्छा अनुसार प्राप्त सकते हैं। उनकी सामान्य इच्छा संप्रभु होने के कारण न तो सौंक की तरह सुप्त संप्रभु है और न हाथ के संप्रभु की तरह मार्शमैजिक बरखाए और व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा करने वाला। सामान्य इच्छा निरपेक्ष संप्रभु है। यह अधिकारमय है।

इसके सरकार और संप्रभु को भिन्न भिन्न मानता है। क्योंकि यदि दोनों एक मान लिये जाय तो सरकार संप्रभु बनकर निरंकुश हो सकती है। इसके अनुसार संप्रभु के पास असीमित शक्ति है, सरकार के पास नहीं। वह तो केवल जनता की एजेंट मान है। कोल सिद्धता है कि सरकार और संप्रभु को अलग अलग रखकर वह हाथ के निष्कर्षों से बच जाता है। साथ ही लोक की मूक-स्वीकृति के स्थान पर इसके समय-समय

इसके संप्रभु में हाथ की निरपेक्षता और लोक की जनसंप्रभुता मिलती है।

इसके का संप्रभु शक्ति असीमित प्रथम अधिकार्य और स्थायी है।

सरकार संप्रभु की एजेंट मान है।

शक्ति सीमित करता है, और जनता को शक्ति को केवल समय पर काम चाले वाली विधि मानता है, वहाँ इसके जनता को सभी शक्तियों का शीत मानता है। सरकार सामान्य इच्छा की एजेंट है, संप्रभु नहीं। केवल सामान्य इच्छा में ही संप्रभुता के सभी गुण—निरपेक्षता, अवेद्यता, अधिकारमयता और अविच्छेद्यता पाये जाते हैं। यही सरकार को नियुक्त और पदभुक्त करती है। यह स्वयं सर्वत्र सक्रिय शक्ति है। लॉक ने कहा है, कि "साक जनता ने हाथसेर को अधिकार की अंतिम दबाई मानता है। इसके के लिये यह प्रतिदिन का भोजन है। वह सरकार को कभी पदभुक्त कर सकती है।

1 "It is by keeping the two conception separate that he avoids the conclusions of Hobbes. On the other hand for Locke's theory of tacit consent Rousseau substituted an active agreement periodically renewed." —Cele

जुँकि संप्रभु सत्ति पूरे जन-समूह को है इस कारण उसी प्रतिनिधि सरकार को सक्ति नहीं मालता । जुँकि इच्छा श्रेय है, इस कारण प्रतिनिधि सरकार को संप्रभुता नहीं मिल सकती । उसी इच्छाश्रेय की प्रतिनिधि सरकार का विरोधी था । उसका कहना था कि केवल पाँचने वर्ग चुनाव के व्यवहार को छोड़कर इच्छाश्रेय की जनता कभी स्वतंत्र नहीं है ।

( ६ )

### सोसो का स्थान

सोसो का राजनीतिक सिद्धान्त सबसे छोटे मगर राज्यों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि केवल इन्हीं राज्यों में जनता संप्रभु हो सकती है । सोसो के सिद्धान्त को राष्ट्रीय राज्यों में लागू करना कठिन है । जिन राष्ट्रवाहियों में सोसो के विचारों को राष्ट्र पर लागू करने का प्रयत्न किया है, उन्होंने निरनुपबाह को जन्म दिया है, क्योंकि ये सोच यह मानने लगे हैं कि शासक वर्ग सामान्य इच्छा को व्यक्त करता है, और उसकी भाँसा मानने में ही सोम स्वतंत्रता का उपयोग कर सकते हैं । स्थान रखने की बात है कि राष्ट्रीय राज्यों में सारी जनता शासक-वर्ग नहीं बन सकती । सोसो के अनुसार राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की स्वीकृति आवश्यक है । इसलिये सोसो पूर्ण प्रजातंत्र का जन्मदाता है । पर जिन लोगों ने सोसो के सिद्धान्त को राष्ट्रीय राज्यों पर लागू किया है, उन्होंने प्रजातंत्र के स्थान पर, निरनुपबाह को जन्म दिया है इसलिये इसमें धारण की बात नहीं कि प्राबुतिक काल में सोसो एक धीरे धीरे प्रजातंत्र का जन्मदाता है, और दूसरी धीरे ठानासाही का । बीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन और मुसोलिनी के राजनीतिक सिद्धान्त सोसो की सामान्य इच्छा से प्रेरणा लेते हैं । दूसरी धीरे प्रजातंत्र की स्वतंत्रता की भावनाएँ व्यक्ति की महत्ता कंट और ग्रीन का राजनीतिक दर्शन का स्रोत भी सोसो का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य की स्वतंत्र रहना चाहिये और मनुष्य की स्वतंत्र नैतिक इच्छा ही सब कुछ है ।

सोसो ठानासाही धीरे प्रजातंत्र का जनक इसी कारण है कि एक धीरे धीरे जगते समाज को नैतिक इकाई बनाता है । दूसरी धीरे वह मनुष्य की नैतिकता पर और देता है । समाज में रहकर ही मनुष्य नैतिकता का उपयोग कर सकता है । इसलिये वह धरतू के विचारों को कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है, फिर

से प्रनिश्चित करता है। साथ ही वह जेटी के बिचारों को भी बुरा करता है कि राज्य के अधीन होना नीति का विषय है, विधि का नहीं। राज्य की अधीनता में ही व्यक्ति सर्वार्थीय जीवन प्राप्त कर सकता है, इस कारण जेटी की भांति वह साक्षरबी सिद्धान्त मानने वाला है।

पर हमो व्यक्तिवारी है। क्योंकि व्यक्ति ही साम्य है, साधन नहीं।

- (१) बसो से प्रारम्भ के इस बिचार को कि मनुष्य सामूहिक प्राणी है फिर से स्थापित किया।
- (२) बसो द्वारा प्रजातन्त्र की स्थापना की बातों का बन्दक है।
- (३) साक्षरबी सिद्धान्त में बिचार करते हुए भी उसने व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की है।
- (४) उसका सामाज्य दृष्टा का सिद्धान्त सामूहिक साक्षरवाद को स्थापित करता है।

एक ही साम्य है, साधन नहीं। एमिली में जो भी निम्ना सिद्धान्त बसो है उसका उद्देश्य है—व्यक्तिवारी का बिचार। स्युरेतामस सामक पुस्तक में बसो का एक चरित्र यह कहता है "मनुष्य इतनी उच्च प्रकृति का होता है कि उसे दूसरों का साधन नहीं बनाया जा सकता। इस कारण मनुष्य का उपयोग हम बिना उसकी स्वीकृति के दूसरों के हित में नहीं कर सकते। एक व्यक्ति की भलाई के लिये दूसरों को मुक्तमान पहुँचाना अनुचित है। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को त्याग देता है—तो वह अपने मनुष्यत्व को त्यागता है।"

हमो के हानि में दो बार्से स्पष्ट है

(१) राज्य एक साक्षर—एक सामूहिक भांति है—उसकी आज्ञा मानने में हम अपनी उच्च दृष्टि को मानते हैं—इस कारण हम राजक है। यह बिचार हमारी सामान्य दृष्टि के सिद्धान्त में स्पष्ट होता है, विशेषकर जहाँ यह निगता है कि राज्य मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग करने के लिये बाध कर सकता है।

(२) राज्य केवल मनुष्य के हित पूरा करने का साधन है। यह बात जगद मनुष्य सिद्धान्त में स्पष्ट निगता है।

बसो दोनो बिचारों को मिला है इसी कारण वह सामूहिक में दोनो बिचारों का बन्दक है। प्रारम्भ यदि हम हमो के पूरे सिद्धान्त को देखें तो उसमें व्यक्ति को महा राज्य को सर्वोप साधन दिया गया है। राज्य साक्षर है, उसको अपनी निम्नी दृष्टि है उनके बार्से मरिच है।

क्या मैं यह सिखाता हूँ 'मेरे जीवन का उद्देश्य था—संसार का सुखार्थ बनना। मुझ यह सिखलाना गया था कि सुखी जीवन ही संसार का उत्तर है, परन्तु मैं बीच बचने की धामु में जैसे एक छपने से भाग पड़ा। मैंने धरने से यह प्रश्न किया 'माननी तुम्हारे जीवन के सब सख्य पूरे हो जायें, और जिन परिवर्तनों को तुम संस्कारों और लोक मर्तों में चाहते हो वे सब सही सख्य पूरे हो जायें तो क्या यह तुम्हारे लिए सबसे अधिक सुख होगा?' मेरी स्वयंसेवकीय स्वभावना ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया—'नहीं'। इस पर मेरा स्तिर बैठ गया। जिस नींव पर मेरा पूरा जीवन ही निर्मित हुआ था वह नींव ही भिर गई। मेरा साधु सुख इस सख्य की प्राप्ति के लिए ही तो था। परंतु जब जलप में आकर्षण नहीं रहा तब उसके प्राप्त करने के साधनों में कि कस्ती ही क्या? मेरे जीवन की सारी आकांक्षाएँ समाप्त हो गईं। कई वर्षों कोरख और कैटे ने मुझे आत्मताओं के क्षेत्र में सत्ताय और मुझ जीवन के से पहलू का दर्शन कराया।"

इस प्रकार जिस के जीवन में आत्मताओं और सख्यता की स्वान वि

#### मानवतावाद

जिसकी जिज्ञा ज्ञानोपिष्ठाकाही सिद्धान्त का निरूपण करने को हुई थी पर शीत बच ही धामु में उसने आत्मताओं के महारथ को समझा जिससे उसने इस सिद्धान्त को अधिक मानवीय बना दिया।

यथा। बेकिडसन सिखाता है कि इस कल्पित से जिस एक नवा ही प्राप्त हो गया। उसमें गहन सहायकृति कल्प बौद्धिक दृष्टिकोण मानवीय आत्मताओं को समझने की तीव्र दृष्टि, जीविक के साथ आत्मताओं की कल्प विचारों देने प्रती। जीवन में एक नामों को उचित स्वान देने के साथ

यह केवल बौद्धिक न रहा, बल्कि मानवीय हो गया।

जान जिस बचपन से ही प्रतिभा धामी सेनाक था। ईश्वर कल्पनी में कल्पे पर पर निमुक्त होने के कारण उसने " वा बना को ही अपनी धाय का साधन नहीं बना विचारों को रखने में उसे बनना के दृष्टिकोण " का रचना आरम्भ न था। सरकारी पत्र पर का प्रसिधियों का भी अनुभव था। जीवन की इस " विचारों और उसकी कृतियों पर पड़ा।

से प्रतिवृत्त करता है। साथ ही वह जेटो के विचारों को भी बुझाता है कि राज्य के अधीन होना नीति का विषय है, विधि का नहीं। राज्य की अधीनता में ही व्यक्ति सर्वोत्तम जीवन प्राप्त कर सकता है, इस कारण जेटो की भाँति वह साम्यवादी सिद्धान्त मानने वाला है।

पर बसो व्यक्तिवादी है। क्योंकि

- (१) बसो ने अस्तित्व के इस विचार को कि मनुष्य राजनीतिक प्राणी है फिर से स्थापित किया।
- (२) बसो दुर्लभ प्रजातन्त्र और तानाशाही दोनों का खनक है।
- (३) साम्यवादी सिद्धान्त में विश्वास करते हुए भी वहने व्यक्ति की महत्ता स्वीकार की है।
- (४) उसका सामाज्य इच्छा का सिद्धान्त धार्मिक आदर्शवाद को प्रभावित करता है।

व्यक्ति ही साध्य है साधन नहीं।

एनिली में भी भी विद्या सिद्धान्त बसो बैठा है उसका उद्देश्य है—व्यक्तिगतता का विकास। स्पूहेलायस नामक पुस्तक में बसो का एक परिचय यह कहता है

‘मनुष्य इतनी उच्च प्रकृति का होता है कि उसे दूसरों का सामन नहीं बनाया जा सकता। इस कारण मनुष्य का उपयोग हम बिना उसकी स्वीकृति के दूसरों के हित में नहीं कर सकते। एक व्यक्ति की भलाई के लिये दूसरों को मुकसान पहुँचाना अनुचित है। जब मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को त्याग देता है—तो वह अपने मनुष्यत्व को त्यागता है।’

बसो के दार्शनिक में दो बार्ने स्पष्ट हैं :

(१) राज्य एक साम्यवादी—एक धार्मिक व्यक्ति है—जिसकी सामा मानने में हम अपनी उच्च इच्छा को मानते हैं—इस कारण हम स्वतंत्र हैं। यह विचार उसकी सामाज्य इच्छा के सिद्धान्त में स्पष्ट होता है, विशेषकर जहाँ यह निरता है कि राज्य मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करने के लिये साध्य कर सकता है।

(२) राज्य केवल मनुष्य के हित पूरा करने का साधन है। यह बात उच्च अनुभव सिद्धान्त में स्पष्ट रिगार्ड देनी है।

बसो दोनों विचारों को मानता है इसी कारण वह राजनीति में दोनों विचारों का खनक है। परन्तु यदि हम बसो के पूरे सिद्धान्त को देखें तो जगमें व्यक्ति को नहीं राज्य को सर्वोत्तम स्थान दिया गया है। राज्य साम्यवादी है, उसकी अपनी निजो इच्छा है खनक बार्ने मरिक्त है।



रूसों का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्राथमिक राजनीति को बहुत अधिक प्रभावित करता रहा है। जर्मन और इंग्लैंड के मार्क्सवाद और फैंसिष्म पर उसके विचारों की स्पष्ट छाप है। स्वयंसेवका को महत्ता देकर उसने विभेद के युग को समाप्त कर दिया और न केवल राजनीति में बल्कि साहित्य और कला के क्षेत्र में उसने रोमांटिक विचारधारा को प्रारम्भ किया जिसमें बुद्धि के स्थान पर शक्ति या भावना को महत्त्व दिया जाता है।

---

रत ६

## ज्ञान स्टुमर्ट मिल

( १८०६ - १८७३ )

- |                                     |                                       |
|-------------------------------------|---------------------------------------|
| ( १ ) जीवन ।                        | ( २ ) ज्ञान मिल के समय का उपपर्यन्त । |
| ( ३ ) ज्ञान मिल का उपयोगितावाद ।    | ( ४ ) स्वतंत्रता का सिद्धान्त ।       |
| ( ५ ) विचार और भाषण की स्वतंत्रता । | ( ६ ) कार्य की स्वतंत्रता ।           |
| ( ७ ) प्रतिनिधि सरकार ।             | ( ८ ) समाज का महत्त्व ।               |
| ( ९ ) मिल का स्वान ।                |                                       |

( १ )

जीवन

ज्ञान स्टुमर्ट मिल प्रसिद्ध मेजर जेम्स मिल का लड़का था । हमने पिता की इच्छा थी कि वह बम्बे के द्वारा बनाये गये मुगलान के मृत्यु का उत्तर विचार्य हो । इसलिए तीन वर्ष की आयु से ही पिता के बठोर अनुशासन में मिल की शिक्षा प्रारम्भ हो गई और आठ वर्ष में उसने ग्रीक भाषा का अध्ययन समाप्त कर लैटिन भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया । आठ वर्ष की आयु में वह दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने लगा । मिल अपनी धारणाओं में निगता है कि उनके पिता का सर्वत्र यह प्रयत्न रहा कि वह अन्य बच्चों और भावनाओं के सुप्रभावों से बचा रहे । वह बुद्धिजीवी हो बना और जीवन की विषय भावनाओं से दूर रहने के कारण उसका जीवन शुद्ध बन गया । तीन वर्ष की आयु उनके जीवन का संक्षिप्त-भाग थी । अपनी धारणा

क्या मैं वह सिखाता हूँ। मेरे जीवन का उद्देश्य था—संसार का सुधारक बनना। मुझे वह शिक्षासादा गया था कि सुखी जीवन ही संसार का मध्य है। परन्तु मैं बीस वर्ष की आयु में जैसे एक सपने से जाग उठा। मैंने अपने से यह प्रश्न किया—‘मानसो तुम्हारे जीवन के सब लक्ष्य पूरे हो जायें, और जिन परिबन्धनों को तुम संस्थाओं और लोक मनों में चाहते हो वे सब इसी लक्ष्य पूरे हो जायें तो क्या यह तुम्हारे लिए सबसे अधिक सुख होगा?’ मेरी अदमनीय स्वचेतना ने इसका स्पष्ट उत्तर दिया—‘नहीं’। इस पर मेरा हित बैठ गया। जिन्हें जीव पर मेरा पूरा जीवन ही निर्मित हुआ था वह जीव ही फिर बई। मेरा सारा सुख इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही तो था। परन्तु जब लक्ष्य में आकर्षण नहीं रहा तब उसके प्राप्त करने के साधनों में हित बसती ही क्या? मेरे जीवन की सारी आकांक्षायें समाप्त हो गईं। बड़े सबके कीबारेण और घेरे ने मुझे आकांक्षों के क्षेत्र में उतारा और मुझे जीवन के नये गहन का वर्धन करवा।”

इस प्रकार मिस के जीवन में भावनाओं और सरमता को स्थान मिल

#### मानवतावाद

उसकी शिक्षा उपयोगितावादी सिद्धान्त का नेतृत्व करने को हुई थी पर बीस वर्ष की आयु में उसने आकांक्षों के महत्त्व को समझा जिससे उसने इस सिद्धान्त को अधिक मानवोपे बना दिया।

पया। वैविध्यमन सिखाता है कि इस क्षमति से मिस एक नया ही धारणी हो पया। उसमें गहन सहानुभूति व्यापक बौद्धिक दृष्टिकोण मानवीय आबस्यक-ताओं को समझने की तीक्ष्ण दृष्टि और विवेक के साथ भावनाओं की महत्ता विचार्य देने लगी। जीवन में भाव-नाओं को उचित स्थान देने के कारण

वह केवल बौद्धिक न रहा अधिक मानवीय हो गया।

जान मिल बचपन से ही प्रतिभा धारणी नेपक था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में अध्ये पर पर नियुक्त होने के कारण उसने पत्रकारिता या लेखन काम को ही अपनी धार का साधन नहीं बनाया। इस कारण अपने इन विचारों को रखने में उसे जनता के दृष्टिकोण और लोक मनों का ध्यात रखना आबस्यक न था। सरकारी पर पर काम करने के कारण उसे शासन पद्धतियों का भी अनुभव था। जीवन की इन सभी बातों का प्रभाव उसके विचारों और उसकी दृष्टियों पर पड़ा।

मिस की कई पुस्तकें हैं। उसकी 'सिस्टम फाउन्डेशनल' १८४३ में प्रकाशित हुई थीर 'प्रिन्सिपलिस ऑफ पोसेटिवम एथानामी' १८४८ में। इन दोनों पुस्तकों से उसकी विद्वता की पैठ पूरे इंग्लैंड में हो गई। राज्य शासन की दृष्टि से उसके मेल 'फाउन्डेशनल' और 'रिप्रिजेंटेटिव गवर्नमेंट' ग्रन्थों महत्वपूर्ण हैं जो क्रम से १८४२ और १८४३ में प्रकाशित हुए। तीसरी पुस्तक 'यूटिलिटेरियज्म' भी १८४३ में प्रकाशित हुई।

कृतिर्पा

|                                  |        |
|----------------------------------|--------|
| सिस्टम फाउन्डेशनल                | १८४३   |
| प्रिन्सिपलिस ऑफ पोसेटिवम एथानामी | १८४८   |
| फाउन्डेशनल—                      | १८४८   |
| रिप्रिजेंटेटिव गवर्नमेंट         | } १८४३ |
| यूटिलिटेरियज्म                   |        |

( २ )

ज्ञान मिल कासीन राज्य बरान

ज्ञान स्टुपर्ट मिल बेन्थम के उपयोक्तावाद के सिद्धान्त को ही धार्ये बढ़ाने के लिए लिखित किया गया था क्योंकि उसके पिता बेन्थम मिल इस सिद्धान्त को राजनीति का सर्वोत्तम सिद्धान्त मानते थे। वे बेन्थम के अनुयायी थे इसलिए मिल के विचारों को समझने के लिए हमें बेन्थम के विचारों पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। बेन्थम का कहना था कि "प्रकृति ने मनुष्य को दो संप्रभु स्वामियों के दान के अधीन रखा है ये हैं दुःख और सुख। ये ही इन बातों का नियंत्रण करने हैं कि हमें क्या करना चाहिए, और हम क्या करते हैं। धारी धन्यार्थ और सुखार्थ की भावना तथा सब मामलों के कारण और परिणाम इन सुख व दुःख के सिद्धान्तों से बंधे हुए हैं।" सरम धर्मों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के सारे कार्य सुख और दुःख में संचालित होते हैं। इसलिए बेन्थम के सिद्धान्त में हमें निम्नलिखित मान्यताएँ मिलती हैं —

(१) मनुष्य महत्वादी है और वह कबल अपने स्वार्थ के लिए ही कार्य करता है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसका हित क्या है।

(३) विधान सभा का कार्य उन सभी निबंधनों को हटाना है जिनसे मनुष्य के सभी संप्रभु मामलों में बाधा पड़ती है।

(४) यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्म सुख प्राप्त करता है तो पूरा समाज सुखी हो सकता है क्योंकि समाज व्यक्तियों की संस्था मात्र है। समाज का धर्म कोई निरी धर्मिण्य नहीं है।

(२) शासक वर्ग का एक मात्र सख्य है—‘अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख’ की व्यवस्था करना। इसलिये कोई भी सरकार चाहे वह गिरफ्तार हो या प्रजातांत्रिक उत्तम है। पर ये विशेष रूप से प्रजातंत्र के पक्ष में ये धीरे निर्वाचकों की संख्या बढ़ाना चाहते थे जिसमें शासक वर्ग अपना स्वार्थ साधन न कर सके।

वैश्वाम के उपयोक्तान्त्र में कुछ भूलें थी। वैश्वाम का उपयोक्तान्त्र इस विचार को मान्यता देकर बसता है कि सभी सुख एक समान हैं— चाहे वह कविता पढ़ने का सुख हो या बच्चों का खेल हो। इसलिये प्रत्येक आवामी अपने विवेक से यदि अधिक से अधिक सुख की मात्रा प्राप्त कर लेता है तो वह अधिक सुखी है। उपयोक्तान्त्र में व्यक्ति ही विचारों का केन्द्र है शासक तो केवल इसलिये आवश्यक हैं कि वे व्यक्ति को अधिकतम सुख प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। अहम्बारी होने के कारण उपयोक्तान्त्री प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्र इकाई मानता है धीरे उसका बूझों से कोई संबंध नहीं बठाता। इस प्रकार बूझों की सहायता करना बूझों के सुख के लिये अपना बलिदान करना धारि अनुप्योचित भावनाओं को इसमें कोई स्थान नहीं है। सामाजिक लोभ मठ सामाजिक परम्पराओं को ये मान्यता नहीं देते। भावनाओं का इनके वर्णन में कोई स्थान नहीं है।

जान स्टुअर्ट मिस के जीवन में जो मीढ़ थाया था उसकी जर्न हम

### उपयोक्तान्त्री

अहम्बारी तथा बीड्रिक ने के सुख में केवल जाया का पैर मानते थे धीरे राज्य को केवल व्यक्तियों का समूह। अधिक मानवीय बनाने के प्रयत्न में मिस द्वारा उपयोक्तान्त्र का अंत। पर मिस तथा सिड्मन्ट नहीं है सक्य।

ऊपर कर चुके हैं। उसने सुख बीड्रिकवारी उपयोक्तान्त्र को अधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न किया जिस के कारण उपयोक्तान्त्री सिड्मन्ट के मूल तर्क ही समाप्त हो गये। परन्तु मिस इसी उपयोक्तान्त्र को सुदृढ़ करने के लिये ही तो सिद्धित हुआ था। उसके पिता ने यही ही उसके जीवन का लक्ष्य बनाया था। इस कारण मिस सिड्मन्ट का समर्पण वह करने बसता

था, वह ही धनवाने ही उसने समाप्त कर दिया। परन्तु उपयोक्तान्त्र वाद से अटूट मिस्य उसने के कारण वह तथा वर्णन न है सक्य। मैक्सी (Maxey) सिद्धता है कि

“उपयोनितावादी शार्दंगिकों से जिन्हें वह मिन घोर स्नेह की दृष्टि से देखता था उसे बौद्धिक दृष्टिकोण मिला। अपने जीवन के धनुमणों से उसने जो निष्कप तिराके उनमें निरोप था, परन्तु मिन इस विरोध को समाप्त नहीं कर सका है।”<sup>1</sup> बाव यह है कि अपने सामान्य दृष्टिकोण में वह पुराने उपयोनितावादी सिद्धान्त के धर्मों को प्रपनाता है परन्तु उन धर्मों को सामने रखने के पश्चात् वह इतने अपबाध घोर इतने नये धर्म देता है कि अन्त में जाकर प्रारंभिक सिद्धान्त समाप्त हो जाते हैं, और उनके स्थान पर कोई नया सिद्धान्त नहीं रखा जाता।<sup>2</sup>

( ३ )

### उपयोनितावाद

मिन अपने आत्म-चरित्र में लिखता है कि अपने जीवन में भावना की महत्ता स्वीकार करने के पश्चात् उसने एक मियर जीवन-दर्शन बनाया। वह लिखता है “मैं इस विरवात से कभी नहीं किया कि व्यवहार में सभी नियमों की कसौटी और जीवन का सत्य मुक्त है। लेकिन धर्म में सोचने तथा कि इस सत्य की प्राप्ति कभी हो सकती है जब मुक्त की सीमा सत्य न बनाया जाय। वे ही मनुष्य मुष्ठी हैं जो अपने मुक्त के स्थान पर किसी धर्म विषय पर अपने विचार को बेगिष्ठ करते हैं, चाहे वह दूसरों का मुक्त हो, मनुष्य जाति का मुफार हो या कोई बला हो, जिसे इस आदर्श सत्य मानकर नकि केवल (अपने मुक्त का) साधन समझकर अपने सामने रखते हैं।”<sup>3</sup> दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन जो इस बात में देते विचारों में हुआ वह था मनुष्य की प्राथमिक संसृति को मानव कल्याण के लिए सर्वत्र स्थान देना। मिन बाह्य वातावरण के संघटन पर ही सारा ध्यान बेगिष्ठ करना बन्द कर दिया।<sup>4</sup> पर इन नये विचारों ने बूरे उपयोनितावाद के सिद्धान्त को ही बदल

<sup>1</sup>Mill exhibits an unresolved conflict between the intellectual furniture inherited from the utilitarian preceptors, whom he loved and revered and the conclusions, to which he was driven by his own open-minded and sympathetic observations of fact” Maxey *Political Philosophies* p. 477

<sup>2</sup>His general position was a highly abstract statement of the older utilitarian theory but having stated the principle, he proceeded to make concessions and re-statements until in the end the original theory was explained away without any new principal being put in its place.

See Sabine *A History of Political Theory*—p. 592

<sup>3</sup>Mill—Autobiography p. 120—122

दिया। उपयोगितावाद के अनुसार मनुष्य अपना सुख चाहता है मनुष्य स्वकेन्द्रित है और उसका हीवा सत्य अपना सुख है। वह दूसरे के सुख और सुख को नहीं समझ सकता। इसके स्थान पर मिस दूसरे के सुख को अपने जीवन का सत्य बनाता है और दूसरे के सुख में अपना सुख देखता है। यह नया दृष्टिकोण उपयोगितावाद के मूलभूत सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दूसरे शब्दों में विभिन्न सुखों में केवल मात्रा का अन्तर देखा जा सुखों का नहीं। शब्दों का कहना है कि यदि सुख की मात्रा बराबर है तो पुष्पिन नामक बच्चों के खेल से मिलने वाले सुख और कविता से मिलने वाले सुख में कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार शब्दों में सभी सुखों को शैतिक समझता है। उसके आलोचकों ने इसी आधार पर उपयोगितावाद की आलोचना की थी। मिस ने यह अनुभव किया, और उसे स्वीकार किया कि सुखों के सुखों में विभेद है। कुछ सुख ऐसे होते हैं, जो मनुष्योन्मित हैं जैसे कर्तव्य करने का सुख वैज्ञानिक या कलाकार का सुख। वह सिद्धता है

“इस बात को मानना उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुस्य ही है कि कुछ प्रकार के सुख अन्य प्रकार के सुखों से अधिक अभीष्ट (desirable) और महत्वपूर्ण हैं, इसलिए वहाँ हम अन्य वस्तुओं के मूल्यांकन में कुछ और मात्रा दोनों का ध्यान रखते हैं, वहाँ सुख के मूल्यांकन को केवल मात्रा पर आधारित करना एक अजीब बात होती।”

इस प्रकार मिस के अनुसार कविता से होने वाला सुख पुष्पिन के खेल से प्राप्त सुख के समान नहीं है। कविता का सुख अधिक उच्च है। वह बात इस से स्पष्ट है कि अनुभवही लोक निम्न सुखों की अपेक्षा उच्च सुखों की प्राप्ति करते हैं। वह सिद्धता है कि

“एक समुष्ट सुख की अपेक्षा एक असमुष्ट मानव होना अच्छा। एक समुष्ट सुख की अपेक्षा असमुष्ट सुख प्राप्त होना अच्छा है। और यदि सुख और सुख सुख प्राप्त मत रखते हैं तो इसलिए कि वे केवल अपने पक्ष को जानते हैं। जबकि दूसरा पक्ष (मानव और सुख) दोनों पक्षों को (दोनों प्रकार के सुखों को) जानता है।”

इससे स्पष्ट है कि मिस ने उपयोगितावादी सिद्धान्त को अधिक मानवी बना दिया और उसे शैतिकवाद से मुक्त कर दिया। परन्तु इससे उपयोगितावाद का सिद्धान्त बिस्तृत बदल जाता है क्योंकि अब हम सुख की नहीं सुख के स्रोत की महत्व देने लगते हैं। हमारे विषे यह महत्वपूर्ण है कि

हम मुझ बलिता से भरे रहे हैं या पुण्यिन से। उच्च धीर मित्त मुझ की पारणा मनुष्यत्व के अनुकूल है क्योंकि उच्च मुझ की पारणा में यह विचार निहित है कि मनुष्य होने के नाते हमें मुझ की नहीं बल्कि उन पुण्यों की आवश्यकता है—धीर हमें उन पुण्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए—जो हमें उच्च प्राणी बना सकें। वरन्तु हम विचार से बेमनम का यह सिद्धान्त कि मनुष्य मुझ चाहता है - केवल मुझ—समाप्त हो पाता है।

तीसरे बेंचम में मुझ धीर दुख के जो मोठ बतलाये थे वे सब बाह्य थे—जैसे प्राकृतिक चक्रवर्तिनः बामिन लौकिक धीर नतिक। मित्त में कर्तव्य भावना को भी मुझ का स्रोत माना। उच्चका कहना था कि जब हम किसी

मित्त द्वारा सघोषन

- (१) वह प्रत्यक्ष मुझ को नहीं अप्रत्यक्ष मुझ या कर्तव्य पालन के मुझ को महत्ता देता है, जिससे समाज की महत्ता स्थापित होती है।
- (२) वह मुझ को भाषा द्वारा ही नहीं पुण्य द्वारा भी भाषता है।
- (३) महत्वाह के स्थान पर परमार्थ को स्थापन देता है।

अनुचित कार्य को करते हैं तो हमारी भावनाओं को ठम पहुँचती है। इसी प्रकार जब हम कोई अशुभ कार्य करते हैं तो हम प्राकृतिक मुझ होना है। इस तरह मित्त ने भावनाओं को भी मुझ धीर दुख का स्रोत माना धीर इन्हीं के आचार पर व्यक्ति धीर समाज का सम्बन्ध स्थापित किया। पर मुझ धीर दुख का प्राकृतिक स्रोत को बचाकर उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को

बौध्द कर दिया। क्योंकि हमारी चेतना उसी समय मुझी होती है जब हम किसी काम को निस्वार्थ भाव से करते हैं दूसरों के हित में कार्य करते हैं। इस तरह महत्वाह के स्थान पर मित्त का सघोषन परमार्थ की भावना को प्रतिष्ठित करता है, धीर सामाजिक जीवन को प्राकृतिक धीर मनुष्य के लिए आवश्यक मानता है। समाज का धरना निरी अस्तित्व धीर धाना मूल्य ही बाता है।

कार को मुझ बड़ा गया है उनसे स्पष्ट है कि मित्त उपयोगितावाद का समर्थन करने बना था परन्तु उसकी इतनी सीधण बुद्धि थी उसका इतना व्यापक अनुभव था कि वह हम सिद्धान्त की कमियों को अच्छी तरह देना सता। मित्त में नयी अर्थों की बाणी का बहण करने की शक्ति थी धीर कर्मवच कोतरेय धीर बेटे का प्रभाव हम पर पूर्ण रूप से था। इतिहास इनके प्रभाव में धाकर उनके उपयोगितावाद में इतना संशोधन कर दिया कि उनके मूल तर्क ही नष्ट हो गये। उपयोगितावाद की कमियों को मुझ करने में बिना का



महात्मापुत्र स्वान है। परन्तु बेन्थम और बेन्थम मिस के प्रति उसकी इतनी निष्ठा थी कि यद्यपि वह उनके सिद्धान्त से बहुत दूर निकल गया पर इस निष्ठा के कारण वह अपने को उपयोगितावादी ही समझता रहा और किसी नये सिद्धान्त को नहीं ले सका। इसके कारण बात यह हुई कि उपयोगितावाद के मूल सिद्धांत में संशोधन करके उसने इस सिद्धांत को भी अस्पष्ट बना दिया।

( ५ )

### स्वतंत्रता का सिद्धान्त

मिस की पुस्तक 'घॉन जिबर्टी' उसकी 'यूटिलिटेरियनिज्म' के अधिकांश अन्वेषण है। इस पुस्तक में मिस स्वतंत्रता का वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं बल्कि स्वतंत्रता में निहित जनस्वाधों का विश्लेषण करता है। इस कारण वह अपनी पुस्तक को निर्बंध कहता है। इस निबन्ध में मिस स्वतंत्रता के स्वल्प व्यक्ति और समाज के लिये उसकी उपयोगिता नागरिक और राज्य तथा व्यक्ति और लोक शक्ति के बीच पाये जाने वाले समर्थों की खोज करता है। लेखक ने पुस्तक में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री दी है और कई राजनीतिक समस्याओं का प्रत्येक भी किया है। परन्तु बकसुन का कहना ठीक ही है कि मिस की पुस्तक निर्बंध ही है राजसर्पण की पुस्तक नहीं।

मिस के समय तक हमसँद में निर्बुद्ध शासन समाप्त हो गया था परन्तु बालिवामेन्ट की शक्ति-विस्तार के कारण बहुसंख्यक इस की निर्बुद्धता की धारणा होने लगी थी और टॉर्बिनी ने अमेरिका के संविधान का विश्लेषण कर इस बढ़ती हुई निर्बुद्धता की धारणाओं का ध्यान आकृष्ट किया था। मिस के सामने यह समस्या थी कि बहुसंख्यकों की निर्बुद्धता से अल्पसंख्यकों की स्वतंत्रता को कैसे बचाया जाय ? इसलिये घॉन जिबर्टी में वह प्रयात्नाधिक सरकारी की शक्ति को भी व्यक्ति के हित में सीमित करना चाहता है। वह लिखता है

‘अध्यासित राज्यों में जो लोग शासन करते हैं वे नहीं ही उन लोगों का ध्यान नहीं रखते जिनके ऊपर शासन हो रहा है। इसलिये प्रायः स्वशासन का धर्म यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ऊपर शासन कर रहा है, बल्कि यह है कि प्रत्येक के ऊपर अन्य शासन करते हैं ..... राजनीतिक विचार में बहुसंख्यक की निर्बुद्धता ऐसी बुवाई तकनीक पाने लगी है जिससे समाज की रक्षा करना आवश्यक है।’

साथ ही मिल ने यह भी देखा कि पार्लियामेंट के बहुमत की निरंकुशता की घपेला लोकमत अधिक खतरनाक है। लोकमत के दबाव में मनुष्य कोई स्वतंत्र कार्य नहीं कर सकता। समाज और लोकमत अपने ही विचार और व्यवहारों को व्यक्तियों पर लाता है। जिसे मनुष्य सामाजिक मूल्यों और अर्थात् के अनुसार ही सोचता समझता और कार्य करता है। इससे मनुष्य में स्वयं सोचने समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है और मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। यह सिलता है,

“विचारशील मनुष्यों ने यह भी देखा कि जब समाज स्वयं निरंकुश हो जाता है—समाज को निर्माण करने वाले विभिन्न व्यक्तियों के ऊपर उन व्यक्तियों का सामूहिक रूप निरंकुश होने लगता है—तो उसके समय के साधन केवल राजनैतिक शक्ति के कारणों और व्यवहारों तक ही सीमित नहीं रहते। समाज स्वयं अपने आदेशों का पालन करता है। इसलिये केवल मजिस्ट्रेटों की निरंकुशता से बचाव काफी नहीं है। प्रचलित भावना (लोकमत) की निरंकुशता से भी बचने की आवश्यकता है।”

इसलिये मिल के अनुसार स्वतंत्रता की रक्षा हमें दो शक्तियों से करना है—राज्य में और अन्तर्गत पर अधिक शक्तिशाली लोकमत से। पर मिल अत्यन्तकावादी नहीं वह सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता मानता है लेकिन एक सीमा तक ही। इसलिये निश्चिन्ता का मुख्य विषय है व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण में उचित सामन्वय करना।

“व्यक्ति की स्वतंत्रता में सामूहिक मत के उचित हस्तक्षेप की एक सीमा होती है। इसलिये मानवीय व्यवहारों को ठीक परिस्थिति में रखने के लिये इस सीमा का ज्ञान और सामाजिक आध्यक्ष से इसे सुरक्षित रखना उद्योग ही आवश्यक है। अतः राजनैतिक निरंकुशता से व्यक्ति को सुरक्षित रखना।”

समाज में नियमों और लोकमत का महत्व है पर ये नियम क्या हों इस पर विचार नहीं किया गया। मिल के अनुसार केवल एक सिद्धान्त पर ही—केवल स्वतंत्रता में उद्देश्य से ही—कोई व्यक्ति निजी या सामूहिक रूप में किसी अन्य व्यक्ति के अहित में हस्तक्षेप कर सकता है। केवल उसी समय किसी अन्य समाज में किसी सदस्य के ऊपर उसकी इच्छा के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग ठीक समझ जायेगा जबकि उस व्यक्ति प्रयोग का उद्देश्य हो—दुष्टों को हानि से बचाना।

मिल की पुस्तक का मुख्य उद्देश्य निरंकुश शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता का समर्पण करना नहीं है बरन् व्यक्ति को अपने स्वयं के विचार रखने और उन्हें व्यक्त करने का अधिकार देना है। मिल के समय में मध्यम वर्ग को राजनीतिक और धार्मिक स्वतंत्रता मिल चुकी थी। इस मध्यम वर्ग के जीवन साहित्य सामाजिक संघर्ष के संबंध में अपने विचार से इसलिए इन्होंने परम्परागत विचारों की आलोचना करने नये विचार रखने, जन पर कार्य करने की स्वतंत्रता की आवश्यकता थी। मिल इन्हीं सामाजिक माँगों को लेकर बसता है इसी कारण उसकी पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई है।

इसमें सदेह नहीं कि मनुष्य सामाजिक व्यक्ति है इसलिये समाज में उसे रहना पड़ता है समाज को उसे मान्यता देनी पड़ती है—इसलिए उसके ऊपर समाज की शक्ति बरती है। परन्तु व्यक्ति भी तो स्वयं में स्फूर्ति और जीवन का केन्द्र है उसकी भी अपनी शक्त है इसलिये जब व्यक्ति अपनी क्षमताओं को समझ लेगा तभी वह पूर्ण जीवन को समझ सकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है क्योंकि सामाजिक और राजनीतिक उन्नति बहुत सीमा तक व्यक्ति की मौलिकता और स्फूर्ति पर निर्भर है।

व्यक्ति और समाज में संबंध किस प्रकार हो सकता है? व्यक्ति ही तो समाज बनाता है? इस संबंध को समझने के लिये हमें यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्ति के दो प्रकार के कार्य होते हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। जब कोई व्यक्ति अपने वैयक्तिक कार्य करता है और बहुसंख्यक व्यक्ति सामाजिक तभी हमें संबंध दिखाई देता है इसलिए व्यक्ति और समाज के संबंध की समझा धर्ममत और बहुमत के लोगों की समस्या है। पर ध्यान रखने की बात है कि यह धर्ममत प्रवृत्ति कोई वर्ग या दल नहीं बनाये रखता है। वह तो समाज के विभिन्न समुदायों में बिखरा होता है और समाज के विभिन्न कार्यों पर ध्यान धरन मत रखता है। मिल का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्तियों को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। बहुसंख्यक दल के लोगों को भी इनसे अपने वैयक्तिक जीवन का धामास होना चाहिए अपने जीवन को वैयक्तिक और सामाजिक रूप में देखसकेंगे। हर मनुष्य में व्यक्तित्व की शक्त है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्त समझ लेता तभी वह पूर्ण जीवन को समझ सकेगा। मिल ने समाज के लाने वह नया विचार रखा क्योंकि उसके समय तक व्यक्ति के केवल सामाजिक जीवन पर ही जोर दिया जाता था वैयक्तिक जीवन पर नहीं।

परन्तु इसका वह अर्थ नहीं कि मिल सामाजिक जीवन के उत्तरदायित्व

घोर वर्तव्यों को तिसांजलि देता है। सामाजिक जीवन की धरती महता है लेकिन समाज को एक सीमा तक ही व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करना चाहिए। स्वयं समाज के हित में यह आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने

### स्वतंत्रता सिद्धान्त

स्वतंत्रता सिद्धान्त का नहीं बरन् उसको समझाने का विवेचन।

नासिपायेय के बहुमत और समाज के लोकमत से स्वतंत्रता।

व्यक्ति और समाज की समानता का सम्यक् बहुमत की समस्या बहु समाज और व्यक्ति के बीच उचित सामंजस्य चाहता है।

उसको स्वतंत्रता का लक्ष्य है व्यक्तिवत्ता का विकास।

इतलिये यह सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक व सामान्य प्रतिभापुस्त समाजों के लिये ही है।

विद्वत् मस्तिष्क व चरित्त वालों के लिये मित समाज और राज्य की निरंकुशता ही उचित बताता है। मित राज्यों में प्रजातन्त्र है, वहीं व्यक्तियों में स्वतंत्रता और स्वयं उपति करने की भावना है केवल जन्ही राज्यों में उक्त स्वतंत्रता सम्बन्धी सिद्धांत प्रयुक्त हो सकता है।

स्वतंत्रता को मित तीन भागों में रख कर परिभाषित करता है—(१) विचार और भाषण की स्वतंत्रता (२) अपने जीवन से संबंधित योजनाओं के बनाने और अपनी रधि के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता और (३) समुदाय बनाने की स्वतंत्रता।

( २ )

### विचार और भाषण की स्वतंत्रता

विश्व के बहिरे भाग में मित व्यक्ति के विचार और भाषण की स्वतंत्रता की रक्षा करणा है। मनुष्य को विचार करने और उनको प्रकट करने की पूरी पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये। किसी विचार का रजक करवा मर्यादा का रदन करना है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि सामान्य स्वीकृत विचार साथ

हों। मित के अनुसार किसी व्यक्ति का विचार सत्य हो सकता है या मिथ्या या भ्राम्य सत्य और भ्राम्य मिथ्या। यदि सत्य मत को रोका जाता है तो अधिकारी बर्ष और समाज संसार को सचाई जानने से रोकते हैं। यदि मत मिथ्या है तब भी उस मत पर रोक लगाना उचित नहीं क्योंकि सत्य मत मिथ्या मत को काट देना बिससे मिथ्या मत रखने वाला भी सचाई जान सकेगा और मिथ्या मत को काटने के कारण सत्य अधिक बचकने लगेगा। मिथ्या मत को बनता स्वयं ही नहीं मानेयी इसलिए अधिकारी बर्ष का यह दावा कि वे समाज को हानि पहुँचाने वाली मतों को रोककर बनता की बचाई कर रहे हैं, उचित नहीं। जिस मत में केवल धामा सत्य ही है उसके ऊपर भी प्रतिबन्ध लगाना उचित नहीं क्योंकि उसमें कुछ तो सत्य है।

मित भ्रष्टकी या सनकी व्यक्तियों को भी विचार की स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है, क्योंकि उसका कहना था कि बिनाको एक बचाने में सनकी समझ गया था वे धाम महान व्यक्ति माने जाते हैं। सुकृत और ईशामसीह अपने बचाने में सनकी ही तो समझे जाते थे। इसलिए यदि किसी समाज में बस सनकी हों तो हो सकता है कि नौ सनकियों का समाज पर कोई प्रभाव न पड़े किन्तु बसबा बिलकुल नई विचारचार्य प्रतिष्ठित करने वाला हो। अगर समाज में पूरे समाज के विरुद्ध एक ही व्यक्ति मित मत रखने वाला हो तो भी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता मिलना चाहिए।

सत्य को हम नित्य विरोधी विचारों के सम्पर्क में लाकर ही बीधित रख सकते हैं। विभिन्न मतों के होने से हम सत्य का ठीक ठीक वर्तन कर सकते हैं क्योंकि सत्य के कई पक्ष हैं। इसके विभिन्न पक्ष विरोधी नहीं पूरक हैं और विभिन्न दृष्टिकोणों को देखने पर ही हम उसका पूर्ण रूप समझ सकते हैं। सत्य विचार के किसी एक पक्ष की बपीटी नहीं है।

विचार और भाषण की स्वतन्त्रा व्यक्ति के विकास के लिए निर्गत आवश्यक है। यह निश्चय है 'इस बात का कोई विरोध न करेगा कि बचपन में बच्चों की धिया बीछा हो जिसमें वे मानव के उचित ज्ञान को जान सकें और उठसे काम पछ सकें। परन्तु बचक होने पर प्रत्येक मनुष्य के लिए यह बात उचित है कि वह इन धनुमनों को अपने ही तरीके से प्रयुक्त करे। उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह उचित धनुमनों का कीन धंध अपने विरुद्ध और बहिर्विधि के लिये प्रयुक्त करे.....

“मनुष्य की मानुसृष्टिक, विरुद्ध करने वाली विवेचनात्मक समतायें, मानसिक क्रियायें और वहाँ तक कि नैतिक बरेष्यता (preference) मनुष्य की बरस करने की क्रिया में ही व्यक्त होती हैं। जो व्यक्ति किसी कार्य को केवल रीति-रिवाज का अनुकरण करते हुए करता है, वह बरण व्यक्ति का प्रयोग नहीं करता। उसे स्वयं सुझने सूझने और सर्वोत्तम के लिये इच्छा करने का कोई प्रयत्न नहीं पड़ता” -- -- जो केवल दूसरों के बताये गये जीवन मार्गों को अपनाते हैं, उन्हें बंधर के समान अनुकरण करने की दायता के प्रभावाधीन छोड़ नहीं चाहिए।”

विचार-स्वतंत्रता के सिद्धान्त में मिल का मूल भूत विचार यह है कि हम सत्य को केवल तर्क-वितर्क द्वारा जान सकते हैं। इसीलिये हमें किसी भी विचार या विरवाज को धों ही स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए। इसमें संदिग्ध नहीं कि विचारशील व्यक्ति समाज में बहुत कम होते हैं। इसी कारण मिल साधारण व्यक्तियों को जिनमें मानसिक क्षमताएँ कम होती हैं, हेय दृष्टि से ब्रषता है। मिल की वास्तविक समस्या ‘निबर्ती’ और ‘रिप्रिजेंटेटिव गवर्नमेंट’ में यही थी कि किस प्रकार विचारशील व्यक्तियों का समाज बनाया जाय और उन्हें समाज में स्थान दिया जाय।

विचार स्वतंत्रता की आवश्यकता  
(१) सत्य या धर्म सत्य को रोकने से समाज को हानि

(२) निष्ठा मत को स्वयं बनना स्वीकार नहीं करेगी। निष्ठा मत सत्य मत की निजावटा है, तथा निष्ठा बन रखने वाले को सत्य का ब्रषण कराता है।

इस में से एक समझी समाज को नया संवेसा दे सकता है।

सत्य के विभिन्न बल पुरक हैं इसलिये विचार स्वतंत्रता सत्य का हानन नहीं पुति करती है।

नैतिकता का धर्म ही है सत्य को बनना।

बहुत सा जीवन इन भावनाओं विरवाओं या बहुना चाहिए कि म-धिविरवाओं के पाकार पर ही बनता है। धधिवर लो यही देना जाता है कि तर्क वितर्क के द्वारा मनुष्य इन विरवाओं को हटाने का नहीं बुष्ट करने का प्रयत्न करता है। इसलिये सत्य की योग में तर्क-वितर्क पर बहुत अधिक निर्भर होना उचित नहीं है।

परन्तु प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या तर्क-वितर्क और वाद-विराद के द्वारा ही हम सत्य को पा सकते हैं? मनुष्य केवल विवेकशील प्राणी नहीं जानमानुक्त प्राणी भी है और उसका

व्यक्तित्व ही है।

दूसरे सत्य केवल तर्क वितर्क से नहीं मासूम होता। पीठमनुष्य ईसा-मसीह महारमा योशी-ने विन्दत वा धारमा की प्रेरणा से जो विचार रहे थे श्री हूँ सत्य का दर्शन कराते हैं। विदित भी सत्य को खोजने का एक रास्ता है। कलाकार भी सत्य के दर्शन अपनी प्रतिभा से करता है। उसके जीवन में तर्क वितर्क को कोई महत्व नहीं।

तीसरे बहुत से नये विचार हम प्रचलित सिद्धांतों को बिना तर्क वितर्क के स्वीकार कर समाज में रखते हैं,

### आसोचना

हर तर्क वितर्क से हम सत्य की नहीं, अपने अंग विरवातों की पुष्टि करते हैं। सत्य की प्राप्ति तर्क से ही नहीं विदित होनी है।

तर्कबिहीन सिद्धांत भी समाज में अपना स्थान रखते हैं।

मिल इंग्लैंड की संसदीय पद्धति का ही समर्थक है।

विचार विमर्श में विश्वास को मान्यता दी है। विचार स्वतंत्रता परिषदी सत्पुष्टि का मूल मंत्र है। यदि परिषदी राज्य साम्यवादी देशों की पद्धति को स्वीकार नहीं करते तो केवल इसलिए कि साम्यवादी देशों में विचार स्वतंत्रता नहीं।

धीरे से समाज में प्रभावशील हो जाते हैं। जेटो का बारखा का सिद्धांत या मार्क्सवाद तर्क की कसौटी पर नारे न उठें परन्तु इन्होंने सामाजिक संस्थाओं को नये रूप देने में अपना बड़ा योग दिया है।

विचार की स्वतंत्रता का समर्थक बनकर मिल ने वास्तव में इंग्लैंड की संसदीय पद्धति और इंग्लैंड के

### व्यक्तिव को महत्ता—

मिल विचार-स्वतंत्रता के सिद्धांत की पुष्टि प्राकृतिक अधिकारों के नाम पर कर सकता था और कह सकता था कि विचारों को व्यक्त करने का मनुष्य का जन्मजात अधिकार है। परन्तु मिल उपयोक्तावादी या धीरे उपयोक्तावादी प्राकृतिक अधिकार सिद्धांत के विरुद्ध है। इसलिए मिल प्राकृतिक सिद्धांत के आधार पर अपने विचारों की पुष्टि नहीं करता बल्कि केवल उपयोक्ता के आधार पर विचार स्वतंत्रता की महत्ता बताता है। वह लिखता है "यह बताना आवश्यक है कि मैं उपयोक्ता से स्वतंत्र किसी समूह अधिकार की धारणा से अपने मत की पुष्टि करने का कोई साधन नहीं उठाना चाहता।" मनुष्य के व्यक्तिव को यह अस्वाभाविक या एक तरह से अव्यथा है। परन्तु व्यक्तिव का अर्थ बह साम्य-ज्ञान ही होता है। उलका कहता है

कि त्रिन कार्यों का प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ता उसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। हमकोस्ट के विचारों को उठत करते हुए यह निश्चय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तारे प्रयत्न केवल एक लक्ष्य के लिये करने

### उपयोगितावादी आधार

विचार स्वतंत्रता की पुष्टि बहु प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर नहीं, उपयोगितावाद के आधार पर करता है।

विचार स्वतंत्रता सामाजिक व वैयक्तिक उन्नति के लिये उपयोगी है।

चाहिये और बहुसंख्य है व्यक्तिगत का विकास। यदि समाज व्यक्ति पर बहुत अधिक नियंत्रण समावेसा तो मनुष्य के सुख का मूल स्रोत समाप्त हो जावेसा, इसलिये मिल स्वतंत्रता को व्यक्तिगत के विकास के लिए आवश्यक

समझता है, और वैयक्तिकता के विकास को "सामाजिक और वैयक्तिक उन्नति" का मुख्य तत्व मानता है। इस प्रकार मिल के अनुसार स्वतंत्रता वैयक्तिक मूल और सामाजिक जीवन के लिये उपयोगी है।

## ( १ )

### काय की स्वतंत्रता

विचारों की स्वतंत्रता का अर्थ कोई मूल्य नहीं जब तक इस स्वतंत्रता के अर्थ ही व्यक्ति को अपने विचारों के अनुसृत काय करने और अनुसृत बनाने की स्वतंत्रता न हो। परन्तु कार्य की स्वतंत्रता में एक विशेष परिस्तिथि का ध्यान रचना आवश्यक है। हमारे कार्यों का प्रभाव दूसरे व्यक्तियों पर पर भी पड़ता है।<sup>१</sup> इसलिये समाज या अन्य व्यक्ति अपनी आत्म-सुरक्षा के हित में दूसरे के कार्यों पर अंकुश कर सकते हैं। इतना यह अर्थ हुआ कि कार्य स्वतंत्रता की सीमा तब अगह निश्चित की जा सकती है जहाँ दूसरे की आधा पहुँचती हो। इसलिये मिल निश्चय है कि "जैसे दूसरे के हितों में आधा नहीं बनना चाहिये। यदि बहु अर्थ से संबन्धित कार्यों में दूसरों की आधा नहीं पहुँचाता और केवल अपनी प्रकृति और नियंत्रण के अनुसार अपने से संबंधित कार्यों को करता है तो जहाँ कारणों पर त्रिन पर विचार स्वतंत्रता

<sup>१</sup> एक लक्षण इसी प्रकार है कि एक व्यक्ति को स्वतंत्रता के अर्थ ही व्यक्ति को अपने विचारों के अनुसृत काय करने और अनुसृत बनाने की स्वतंत्रता न हो। परन्तु कार्य की स्वतंत्रता में एक विशेष परिस्तिथि का ध्यान रचना आवश्यक है। हमारे कार्यों का प्रभाव दूसरे व्यक्तियों पर पर भी पड़ता है। इसलिये समाज या अन्य व्यक्ति अपनी आत्म-सुरक्षा के हित में दूसरे के कार्यों पर अंकुश कर सकते हैं। इतना यह अर्थ हुआ कि कार्य स्वतंत्रता की सीमा तब अगह निश्चित की जा सकती है जहाँ दूसरे की आधा पहुँचती हो। इसलिये मिल निश्चय है कि "जैसे दूसरे के हितों में आधा नहीं बनना चाहिये। यदि बहु अर्थ से संबन्धित कार्यों में दूसरों की आधा नहीं पहुँचाता और केवल अपनी प्रकृति और नियंत्रण के अनुसार अपने से संबंधित कार्यों को करता है तो जहाँ कारणों पर त्रिन पर विचार स्वतंत्रता



की नहीं है उसे बिना किसी बाधा के अपने विचारों को अपनी बनावदेही पर कार्यान्वित करने की अनुमति मिलना चाहिए।" इस प्रकार व्यक्ति के कार्यों को मिल स्वसंबंधी (Self regarding) और पर-संबंधी (Other regarding) में विभाजित करता है। स्वसंबंधी कार्यों में वह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है। यदि कोई व्यक्ति बुझा बेलगा है या अराज पीना चाहता है तो इस पर समाज को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि समाज इसे व्यक्ति के हित में नहीं समझता तो वह उसकी समझ सकता है, ठीक हाथ उसके विचारों को बचत सकता है पर शब्द लेकर इस काम को छोड़ देने के लिये व्यक्ति को बाध्य करने का अधिकार समाज के पास नहीं है। पर-संबंधी कार्यों में व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित है विशेषकर जब व्यक्ति के कार्य से दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा पहुँचती हो।

मिल का विचार था कि इस प्रकार धर्म धर्म और अपने अंग से जीवन यापन करने से ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है क्योंकि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को धर्म धर्म बनाया है। इसलिये सबके लिए एक ही जीवन रचना सामाजिक उत्पत्ति और विकास में बाधा है। रीति रिवाजों या सामाजिक नैतिकता से स्वतंत्र होकर व्यक्ति समाज को नये प्रकार से रहने का तरीका बता सकता है। यदि उसका तरीका गलत है तो वह व्यक्ति अपने धर्म मुक्त आदेश और समाज को अपने रीति रिवाजों और अपनी नैतिकता पर विश्वास हो जाएगा।

देविदत्त के अनुसार व्यक्ति की कार्य स्वतंत्रता के तर्कों की हम तीन

### कार्यों की स्वतंत्रता

व्यक्ति को स्वसंबंधी कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता होना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी विभिन्न प्रकृति से समाज को विनिम्नता दे सके।

स्वसंबंधी कार्यों की स्वतंत्रता व्यक्ति को आवश्यकताओं को भाग्यता देती है उसके व्यक्तित्व का विकास करती है और एक ही लक्ष्य में आने वाले रीतिरिवाजों को हटाती है।

निर्दुःखता के विरुद्ध विद्रोह करना आवश्यक है।

धीरे-धीरे के अन्तर्गत संश्लेष में रह सकते हैं—(१) मनुष्य में बुद्धि के विचार भावनाएँ और इच्छाएँ भी होती हैं इसलिये कार्य स्वतंत्रता देकर हम उसकी आवश्यकताओं और इच्छाओं की या व्यक्ति की सक्रिय और स्फूर्तिपूर्ण प्रकृति को भाग्यता देते हैं (२) व्यक्ति का विकास मनुष्य के सुख और कल्याण के लिये आवश्यक है, (३) व्यक्तित्व के विकास की रोकने वाली सामाजिक रीति रिवाजों की

मिन की कार्य-स्वतंत्रता के संबंध में जो धारणा प्राप्त है, उदाहरण के लिए यह है कि व्यक्ति के कार्यों को स्वसंबंधी और परस्वंबंधी में विभाजित नहीं किया जा सकता। क्योंकि व्यक्ति का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जो दूसरों को प्रभावित न करे। मिन इस धारणा को समझता था क्योंकि यह सिंगता है, स्वसंबंधी और परस्वंबंधी व्यक्ति के जीवन का यह विभाजन कई लोग स्वीकार न करें। यह धारणा उदाहरण के लिए समाज के किसी सदस्य के धारणा के एक भाग के प्रति अन्य सदस्य जैसे उदाहरण रह सकते हैं? कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से अकेला नहीं है। यह सम्भव नहीं कि यदि कोई भी व्यक्ति धरने को हानि पहुँचाने वाला कोई नग्न और स्वामी कार्य करता है तो उन हानि का प्रभाव उसके निश्चय सम्बन्धी या अन्य लोगों पर नहीं पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य धरने दुष्चरण या बेवृष्टियों से दूसरे को प्रभावित हानि नहीं भी पहुँचाता तो भी उनका उदाहरण दूसरों के लिये कुछ हो सकता है। इसलिए यह व्यक्ति के कार्यों को देना या मुक्त समाज के अन्य लोग भ्रष्ट हो सकते हैं और उन्हें बचाने के लिये उस व्यक्ति को निर्बंधित होने के लिये बाध्य किया जा सकता है।”

इस प्रकार मिन यह जानता है कि व्यक्ति के जीवन में स्वसंबन्धी और परस्वंबन्धी कार्यों के बीच विभाजन ऐसा गीचना असंभव है। मिन का केवल इतना ही कहना है कि यदि हम इस प्रकार की विभाजन देना न लीजें तो सामाजिक निर्बंधन का दोष बराबर बढ़ना चायेगा व्यक्ति को धरने डंड से बंधन स्वीकार करने का अवनत न मिलेगा, और इस तरह उसके व्यक्तिगत विकास रुक जायेगा। उदाहरण के लिये कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसमें समाज रक्षित न लेता हो। यदि वह धरने दोषा जाता हो तो अन्य मामलों पर इसका कुछ प्रभाव पड़ता है। यदि वह अपने बच्चे को बर में बढ़ाना चाहता है तो मीन समझता उदाहरण है कि बच्चे को धारणा के लक्ष्य तक की धारणा नहीं ही चाहती है। यदि कोई धर के सामने बचीबा नहीं लगाता है और बचाने की बचने की तरह नहीं रखता है तो पढ़ावियों की धरने बचानों के विचार हम होने की धारणा है—यदि धरि। इस प्रकार व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार में दूसरे लोगों की कुछ न कुछ धारणाएँ होती हैं। मिन का केवल इतना ही कहना है कि जब तक कोई व्यक्ति समाज को प्रभावित हानि नहीं पहुँचाता तब तक समाज की मानव स्वतंत्रता के लिये कुछ न

कुछ धर्मविचारों सहनी ही पड़ेगी।<sup>1</sup> स्वतन्त्र समाज को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार की धर्मविचारों सहना आवश्यक है। यदि

### आशय

स्वसंबंधी और परसंबंधी कार्यों का विभाजन समाज में संभव नहीं आशय केवल इतना है कि समाज में स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये समाज को कुछ धर्मविचारों अथवा सहनी पड़ेंगी, पर यह स्वतन्त्रता समाज के ही हित में है।

दर्शकों को भी स्वीकार नहीं करता कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मुख्य सामूहिक धर्मविचार से कम है और सामूहिक हित के लिये हम किसी की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं। सब देखा जाने तो व्यक्तित्व का विकास सामूहिक हित में ही है।

( ७ )

### प्रतिनिधि-सरकार

धर्मकी पुस्तक रिपब्लिकेन गवर्नेन्ट में भी मिल समाजता और व्यक्तित्व के विकास को धारण का उद्देश्य बताया है। प्रतिनिधि-सरकार प्रणाली इन दिनों इंग्लैंड में पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी इसलिए मिल के बहुत से विचार इंग्लैंड की धारण संस्था पर ही आधारित हैं पर इंग्लैंड की धारण संस्था का वर्धन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह वास्तव में प्रतिनिधि सरकार की संभावनाओं को बताना चाहता है न कि उसके व्यावहारिक रूप को। इसलिए उसकी पुस्तक इसी काम में प्रकाशित बैजहाट की "इंग्लिश काम्पैक्टिबुल" से मिल है। बैजहाट का मुख्य उद्देश्य इंग्लैंड की धारण संस्थाओं की परिधीमार्ग बताना है संभावनाएँ नहीं।

; मिल "धर्म विचारों" के विचारों को ही सामने रखते हुए कहता है कि सरकार का मुख्य उद्देश्य मानवीय समस्याओं का विकास करना है और यही सरकार अपनी कही जायेगी को अपने नागरिकों में स्वतन्त्र रूप से

<sup>1</sup>"The inconvenience is one, which society can afford to bear for the sake of the greater good of human freedom." इट' १३५

सोचने-समझने तथा मुद्र-दोष की विवेचना करने के दुरुओं का विकास करती हो। इस दृष्टि से जेटो के दार्शनिक राजा भी सर्वोत्तम सरकार नहीं बना सकते क्योंकि ऐसी निरबुध शासन प्रणाली में दार्शनिक बर्ष टीक सभी प्रकार सब कार्यों को सरकार पर छोड़ देते हैं। जिस प्रकार हम ईश्वर पर सब छोड़े रहते हैं और भीषण परिणामों की परवाह नहीं करते। जब शासकों के कार्यों के दुरे परिणाम हमारे सामने आते हैं तो हम उन्हें प्राकृतिक शक्तियों के प्रहोय की भांति बुनबाव स्वीकार कर लेते हैं।<sup>1</sup> निरबुध शासन सर्वश्रेष्ठ भी हो, सब भी दार्शनिकों की दृष्टि से कुछ है क्योंकि इसमें जनता की बौद्धिक और नैतिक क्षमताओं का विकास नहीं होता।

नागरिक स्वयं सरकार के कार्यों में भाग लेकर धरना बौद्धिक विकास कर सकता है क्योंकि शासन काम में भाग लेकर ही वह अपने मुद्र और दोषों को समझता है। इसलिये "दार्शनिक सरकार यह है जिसमें संयुक्तता या पश्चिम नियंत्रण की शक्ति समुदाय के पूरे समूह में हो" (जान रॉस कठो के समान जन-रक्षक में नहीं)। अपने मठ की दृष्टि मित दो तर्कों के आधार पर करता है जिसमें से एक को हम नकारात्मक और दूसरे को सकारात्मक कह सकते हैं। मित कहता है कि वहाँ केवल एक बर्ष के हाथ में ही सत्ता होती है वहाँ शासक बय कितना ही विवेकशील क्यों न हो वह दार्शनिकों के हित पूर्ण रूप से नहीं सम्बन्ध सकता। मित एक बर्ष के शासन का विरोध इस आधार पर नहीं करता कि यह बर्ष अन्य बर्षों का समय करेगा। उसका केवल यही कहना है कि यह शासक बर्ष दार्शनिक मनुष्यों का ही बय है और वह दार्शनिकों के प्रति धरती धारणा रखते हुए भी—उनके हित में शासन करने की इच्छा रखत हुए भी—केवल अपने हित की जानकारी रखता है और वह इसी आधार पर शासन कर सकता है कि जो उसके हित में है वही सबक हित में है। इसलिये मित बय शासन की समस्त के राजनैतिक पक्ष को नहीं बरम् मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जोर देता है।

"हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जब शक्ति एक बर्ष में होती है तो वह बर्ष जानबूझ कर दूसरे बर्ष का समिधान करने हित में करेगा। यह कहना बाकी है कि धरने हित को रक्ष करने बाजों के आधार में शासन काम से

<sup>1</sup>"Leaving things to the government, like leaving things to Providence, is synonymous with caring nothing about them and accepting their results, when disagreeable, as visitations of nature."

कुछ धनुविचारों सहनी ही पड़ेंगे।<sup>1</sup> स्वतन्त्र समाज को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार की धनुविचारों सहना आवश्यक है। यदि

### आशय

स्वतंत्रता और परस्परबन्धी कार्यों का विभाजन समाज में संभव नहीं आशय केवल इतना है कि समाज में स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये समाज को कुछ धनुविचारों अथवा सहनी पड़ेंगी पर यह स्वतन्त्रता समाज के ही हित में है।

राज को भी स्वीकार नहीं करता कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मुख्य सामूहिक धनुविचार से कम है और सामूहिक हित के लिये हम किसी की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं। सब देखा जाने तो व्यक्तित्व का विकास सामूहिक हित में ही है।

( ७ )

### प्रतिनिधि-सरकार

अपनी पुस्तक रिपब्लिकेन गवर्नेन्ट में भी मिल समानता और व्यक्तिगत विकास को शासन का उद्देश्य बताया है। प्रतिनिधि-सरकार प्रजासत्ता ही इन दोनों इंग्लैंड में पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी इसलिए मिल के बहुत से विचार इंग्लैंड की शासन संस्था पर ही आधारित हैं पर इंग्लैंड की शासन संस्था का वर्णन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। यह वास्तव में प्रतिनिधि सरकार की संभावनाओं को बताना चाहता है न कि उसके व्यावहारिक रूप को। इसलिए उसकी पुस्तक इसी भास में प्रकाशित बेवहाट की "इंस्ट्रिज काम्प्ल्यूशन" से भिन्न है। बेवहाट का मुख्य उद्देश्य इंग्लैंड की शासन संस्थाओं की परिधीमार्ग बताना है संभावनाएँ नहीं।

मिल "गॉन लिबर्टी" के विचारों को ही सामने रखते हुए कहता है कि सरकार का मुख्य उद्देश्य मानवीय धर्मताओं का विकास करना है और नहीं सरकार अन्धरी नहीं जानेगी जो अपने नापरिधी में स्वतन्त्र स्व से

<sup>1</sup>"The inconvenience is one, which society can afford to bear for the sake of the greater good of human freedom." पृष्ठ १३८



कुछ धनुषिवायें सहनी ही पड़ेंगी।<sup>1</sup> स्वतन्त्र समाज को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए इस प्रकार की धनुषिवायें सहना आवश्यक है। यदि

### शाश्वत

स्वसंबंधी और परसंबंधी कार्यों का विभाजन समाज में संभव नहीं प्राप्त हो सके है कि समाज में स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये समाज को कुछ धनुषिवायें अवश्य सहनी पड़ेंगी पर यह स्वतन्त्रता समाज के ही हित में है।

उन्हें कोई भी स्वीकार नहीं करता कि एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मुख्य सामूहिक धनुषिवा से कम है और सामूहिक हित के लिये हम किसी की स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं। सब देखा जाने वो व्यक्तित्व का विकास सामूहिक हित में ही है।

( ७ )

### प्रतिनिधि-सरकार

अपनी पुस्तक रिपब्लिकेन गवर्नमेंट में भी मिथ समाजता और व्यक्तित्व के विकास को धारण का उद्देश्य बताता है। प्रतिनिधि-सरकार प्रणाली इन दिनों इन्दी में पूर्णरूप से स्थापित हो गईं थी इसलिए मिथ के बहुत से विचार इन्दी की धारण संस्था पर ही आधारित हैं पर इन्दी की धारण संस्था का वर्णन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह वास्तव में प्रतिनिधि सरकार की संभावनाओं को बताना चाहता है न कि उसके व्यावहारिक रूप को। इसलिए उसकी पुस्तक इसी काब में प्रकाशित बेजहाट की "इंजिनियरिंग काम्प्लेक्सिबल" से भिन्न है। बेजहाट का मुख्य उद्देश्य इन्दी की धारण संस्थाओं की परिधीयार्ण बताना है संभावनायें नहीं।

। मिथ "गॉल निवर्टी" के विचारों को ही सामने रखते हुए कहता है कि सरकार का मुख्य उद्देश्य मानवीय समताओं का विकास करना है और वही सरकार धरणी कही जावेगी जो अपने नागरिकों में स्वतन्त्र रूप से

<sup>1</sup>"The inconvenience is one which society can afford to bear for the sake of the greater good of human freedom." बुड १९५

शासन को संस्थापित—

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है परन्तु वह मात्र के तहत राष्ट्रीय राज्यों के लिये उपयुक्त नहीं। साथ ही मिला प्रतिमाध्यामी व्यक्तियों को समाज में एक निश्चित स्थान देना चाहता है। इसलिये वह प्रतिनिधि-सरकार के पक्ष में है। पर इस प्रतिनिधि सरकार में बल और कुशल व्यक्तियों को अपना स्थान नहीं मिल सकता इसलिये वह कुछ विशिष्ट शासन संस्थाओं की भी रक्षा करता है।

मिला लिखता है कि मात्र के विस्तृत राष्ट्रीय राज्यों में प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही लोगों को शासन कार्य में भाग लेने का अवसर मिल सकता है। "प्रतिनिधि सरकार वह है जिसमें राज्यों के सभी या बहुसंख्यक नागरिक समय समय पर अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनके द्वारा अपनी नियंत्रण शक्ति का प्रयोग करते हैं।" मिला इस बात की प्राप्ति करता है कि साधारण निर्वाचक अपने मताधिकार का प्रयोग उत्तरदायित्व की भावना से करेगा। इसलिए राज्य में बलस्क मताधिकार होना चाहिए। सामान्यतया लोगों में अच्छे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि बनाने की प्रवृत्ति होती है।

बनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से बनी हुई विधान सभा यद्यपि सामान्य निर्वाचकों से अधिक बल होती है परन्तु यह साधारण नागरिकों की सभा है इसलिए इसमें प्रशासन करने तथा विधि बनाने की शोभिता की प्राप्ति करना व्यर्थ है। विधि बनाने का कार्य बड़े परिश्रम अनुभव और शोभिता का काम है इसलिए यह काम विधान सभा को न देकर एक छोटी संस्था को देना चाहिए जिसके सदस्य अधिक अनुभवी और बल हों। इस संस्था में राजनीतिक बलों के गठन तथा बल सरकारी कर्मचारी हों। विधान सभा का कार्य इस समिति का मन्त्री परिषद के कार्यों की प्राप्ति करना तथा अर्बसर पढ़ने पर उन्हें पद से हटाने तक ही सीमित होना चाहिए।

"शासन करने की शक्ति के लिये यह पूरा शोभ्य है, प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्य है—सरकार का नियंत्रण या उसकी देखरेख करना उसके कार्यों का निरीक्षण करना मिन बलों पर किसी को सन्देश हो उनका स्पष्टीकरण करना विभिन्न कार्यों की प्राप्ति करना और यदि सरकार का निर्देश करने वाले व्यक्ति उनमें रहे गये विश्वास का दुस्प्रयोग करते हैं या राज्य की शक्ति के विरुद्ध कार्य करते हैं तो उन्हें पद से हटाना और उनके



अधिकतम के हितों की उपेक्षा होवे, का भय रहता है- और जब जनके-हितों की चिन्ता की जाती है तो उस-वर्ष से, प्रत्यक्ष-संबन्ध-रखने वाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण से उनके घुम-बिस्तकों का दृष्टिकोण भिन्न होता है" ।

सकारात्मक दृष्टि से प्रजातन्त्र में ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने हित सुरक्षित करने का अवसर मिलता है । "प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार और हित वही समय सुरक्षित रह सकते हैं और उनकी प्रबलता नहीं हो सकती जब मनुष्य में, अपने अधिकारों के लिए लड़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो" । या दूसरे शब्दों में प्रजातन्त्र में ही व्यक्ति का व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है । इस प्रकार प्रजातन्त्र वही साधन है जिसमें न केवल सबके हित सुरक्षित होते हैं बल्कि जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर मिलता है । प्रजातन्त्र में काम करते हुए व्यक्ति अपना हित तो देखेगा ही चाब ही वह दूसरों के साथ रह कर काम करना भी सीखेगा सामान्य हित को समझेगा और उस सामान्य हित में अपना हित देखेगा । वह अपने को न्यायिक समूह का अंग समझेगा और उसके हित में अपना हित मानेगा" १ ।

यहाँ एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है । कर्मों की साधन व्यवस्था में

प्रतिनिधि सरकार

वह इस प्रणाली की संभावनाओं की विवेचना करता है ।

प्रजातन्त्र ही प्रखरी सरकार है, क्योंकि इसमें सभी व्यक्ति अपने हित को सुरक्षित रख सकते हैं और दूसरों के साथ मिलकर सामाजिक हित को स्वीकार करते हैं ।

वर्ष सरकार इसलिये बुरी है कि जो दूसरे लोगों के हित का अनुभव नहीं ।

प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में अपने व्यक्तित्व को विकसित कर देता है और वह अपने को—स्वार्थगत हित को सामान्य इच्छा के विवेकपूर्ण हित में लीन कर देता है । मित की यह भावना नहीं है । मित का इतना ही कहना है कि पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रजातन्त्र में व्यक्ति न केवल अपना हित देखता रहेगा बल्कि वह सामाजिक हित को भी समझे लेगा । मित की साधन व्यवस्था में राज्य स्वयं एक नैतिक इकाई नहीं है बल्कि वह विभिन्न

व्यक्तित्व रखने वाले व्यक्तियों का केवल समूह मात्र ही है ।

रिपब्लिकेन पब्लिक प्रिंटिंग प्रेस १ १  
वही पृष्ठ २०८  
वही पृष्ठ २१७

शासन को संस्थाएँ—

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है परन्तु यह शासक के बृहत् राष्ट्रीय राज्यों के सिधे उपयुक्त नहीं। शासक ही मिल प्रतिमासाली व्यक्तियों को समाज में एक निश्चित स्थान देना चाहता है इसलिये वह प्रतिनिधि-सरकार के पक्ष में है। पर इस प्रतिनिधि सरकार में वर्य और कुशल व्यक्तियों को अपना स्थान नहीं मिल सकता इसलिये वह कुछ निश्चित शासन संस्थाओं की भी जरूरत करता है।

मिल लिखता है कि शासक के विस्तृत राष्ट्रीय राज्यों में प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही लोगों को शासन कार्य में भाग लेने का अवसर मिल सकता है। "प्रतिनिधि सरकार यह है जिसमें राज्यों के सभी या बहुसंख्यक नागरिक समय समय पर अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनके द्वारा अपनी नियंत्रण सक्ति का प्रयोग करते हैं।" मिल इस बात की भाषा करता है कि शासन निर्वाचक अपने महाधिकार का प्रयोग उत्तरदायित्व की भाषना से करेगा। इसलिए राज्य में बयस्क महाधिकार होना चाहिए। सामान्यतया लोगों में अच्छे व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि बनाने की प्रवृत्ति होती है।

जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों से बनी हुई विधान सभा यद्यपि सामान्य निर्वाचकों से धनिक बल होती है परन्तु यह शासन नागरिकों की सभा है इसलिए इसमें प्रशासन करने तथा विधि बनाने की योग्यता की प्राप्ति करना ध्यर्ष है। विधि बनाने का कार्य बड़े परिधम अनुभव और योग्यता का काम है इसलिए यह काम विधान सभा को न देकर एक छोटी संस्था को देना चाहिए जिसके सदस्य अधिक अनुभवी और दक्ष हों। इस संस्था में राजनयिक बलों के नेता तथा बल सरकारी कर्मचारी हों। विधान सभा का कार्य इस समिति या मन्त्री परिषद के कार्यों की प्राप्ति करना तथा बरबर पढ़ने पर उन्हें पद से हटाने तक ही सीमित होना चाहिए।

"शासन करने की प्रवृत्ति" के लिये यह पूर्ण समोन्व है, प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्य है—सरकार का नियंत्रण या उसकी देखरेख करना उसके कार्यों का निरीक्षण करना जिन बातों पर किसी को शक्य हो उनका स्पष्टीकरण करना विभिन्न कार्यों की प्राप्ति करना और यदि सरकार का निर्माण करने वाले वाले व्यक्ति उनमें रहे गये बिस्वास का दुरुपयोग करते हैं या राज्य की इच्छा के विरुद्ध कार्य करते हैं तो उन्हें पद से हटाना और उनके

उत्तराधिकारियों की नियुक्ति करना। देश की स्वतन्त्रता के लिए विधान सभा के पास वे अधिकारी और सुव्यवस्थाएँ हैं।<sup>1</sup>

शासन की इन विभिन्न संस्थाओं की स्थापना करने में मित का मुख्य उद्देश्य दक्षता या बौद्धिकता से प्रभावित का सम्बन्ध करना है। शासन का कार्य तो एक ही और अनुसूची लोगों के हाथ में होना परन्तु विधान सभा अपने बाद-बिबाद द्वारा प्रस्ताव के प्रत्येक पहलू पर विचार करेगी और जनता में पाने जाने वाले विभिन्न मतों को सरकार के सामने रखेगी। प्रतिनिधि-सरकार की यह विशेषता है कि इसके द्वारा सरकार के कार्यों पर बौद्धिक व्यक्तियों का प्रभाव रहता है।

**बौद्धिकता और प्रभावित का सम्बन्ध—**

प्रभावित भीतर मनुष्य को अपने हित में धारित होने का अधिकार देता है परन्तु भीतर मनुष्य अपनी वास्तविक धारण्यकताओं को नहीं समझता वह केवल अपनी इच्छा को समझता है धार की इच्छाओं को पूरा करने का प्रयत्न करता है। केवल विवेकशील प्राणी ही मनुष्य की अन्तिम धारण्यकताओं (needs) और स्वाधी हितों को जानता है इसलिए शासन में एक ही कुशल कर्मचारियों की धारण्यकता होती है। वे कर्मचारी जनता के प्रतिनिधियों को समाज की धारण्यकताओं का ज्ञान कराते हैं और जनता के प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र की इस प्रकार का ज्ञान देते हैं। इसीसे समाज के लिये नीति निर्धारण और विधियाँ बनाने में इन कर्मचारियों का हाथ होना चाहिये।

शासन के इन कर्मचारियों की नियुक्ति निर्वाचन प्रणाली से कभी भी नहीं

होना चाहिए क्योंकि भीतर मनुष्य अपने समान ही भीतर व्यक्त को अपना प्रतिनिधि बनाता है। जो विवेकशील हैं जिनमें प्रतिभा है ऐसे लोग कभी भी निर्वाचन में स्वाम नहीं पा सकते। इस लिये मित का कहना चाहिए कर्मचारियों की नियुक्ति परीक्षा लेकर एक स्वतंत्र धारण्य द्वारा होनी चाहिये। इसी का अधिकार न हो। यह अधिकार

**शासन संस्थाएँ**

व्यक्त अन्तर्द्वारः।

विधान सभा के कार्य सरकार का नियन्त्रण, जनता के विभिन्न विचारों को सरकार के सामने रखना सरकार की नीति को निर्वाचन क्षेत्रों में सप्रेमना।

प्रकार जनता को इन्हें परच्युत करने

विधान सभा को दिया जा सकता है। विधान सभा को ही इस कर्मचारी

वर्ग पर नियंत्रण रखना चाहिए क्योंकि  
सभी परिवर्ध का कार्य:—विधि  
बनाना।

कर्मचारी: इनकी नियुक्ति परीक्षा  
लेकर प्रायोग द्वारा हो

कार्य बनता के स्थायी हितों को  
विधान सभा के सामने रखना  
तथा विधि बनाने में सहयोग  
देना।

इच्छाओं और प्रावश्यकताओं का उचित सम्मिश्रण करना प्रावश्यक है।

बहुसंख्यक दल की निरक्षुब्धता—

मिश्र यह जानना था कि प्रायः प्रतिनिधि सरकार बहुमत दल के नेतृत्व में चलती है। मिश्र स्वभाव से ही किसी वर्ग विशेष की सरकार का विरोधी है। वह लिखता है वास्तव में बहुदल की निरक्षुब्धता की समस्या इस बात में है कि बहुदल के सदस्य अपने व्यक्तिगत को वर्ग में विलीन करके काम करते हैं। वे वैयक्तिक रूप में काम नहीं करते। इसलिये सामाजिक निर्माण में हमें बर्बदियों पर नहीं वैयक्तिक हितों पर धोर देना चाहिए। जब हम वर्ग हित को महत्ता देते हैं तो यह प्रासक्त होने लगती है कि सासनासक वर्ग दूसरे वर्ग की उपेक्षा करेगा। पर यदि हम वैयक्तिक हितों पर धोर दें तो समाज की विभिन्न समस्याओं का हल करने में व्यक्ति एक स्थायी वर्ग नहीं बनावेगे वरन् वे समस्याओं के अनुसार प्रसन्न प्रसन्न व्यक्तियों के मिश्रकर काम करेंगे। परन्तु प्रसन्न प्रादमी अपने हित को वैयक्तिक हित के रूप में नहीं देखता। वह अपने हित को समान हित रखने वाले व्यक्तियों के साथ मिश्र कर पूरा करता है। एक सरकार को वर्ग सरकार से कैसे मुक्ति मिल सकती है? इसके दो उपाय हैं—(१) विधान सभा में स्वतंत्र रूप से निर्वाचित सदस्य और (२) अनुपातिक प्रतिनिधि प्रणाली। स्वतंत्र सदस्य किसी दल के नहीं होते और मिश्र के अनुसार इनके उच्च प्रादर्ध होते हैं। ये अपनी वैयक्तिकता बनाये रखते हैं और यद्यपि इनकी संख्या विधान सभा में कम होती है परन्तु वे विभिन्न वर्गों के बीच संतुलन रखते हैं और किसी वर्ग हित में विधियाँ नहीं बनने देते।

साथ ही विभिन्न वर्गों के साथ सहयोग करके विद्यालय समाज का ध्यान स्थायी हित की ओर धारणित करते हैं। इसलिये विद्यालय समाज में स्वतंत्र सदस्यों के सिद्धे स्थान होगा बाह्य ओर में सबसे विद्यार्थियों का ध्यान विद्यार्थियों को ही निर्धारित हो सकता है।

फिर बहुमत को निर्धारित करने तथा उसकी प्राप्ति करने के लिये बहुसंख्यक की निरंकुशता का ही हित देखती है। व्यक्तिगत हित नहीं यदि व्यक्तिगत हित देखा जाये लगे तो वह स्थायी न हो सकता है। स्वतंत्र सदस्य और धानुपातिक प्रतिनिधित्व भी इस निरंकुशता को समाप्त कर सकते हैं।

बाह-विवाद और व्यक्तिगत की महत्ता पर ही जोर देता है। निबट्टी की तुलना में उसकी रिप्रिजेंटेटिव बसमेंट धाकार में बड़ी पुस्तक प्रबन्ध है पर राज्य धारण की दृष्टि से भी निबट्टी अधिक प्रबन्धी पुस्तक है।

( ५ )

### मिस का स्थान

मिस ने 'स्वतंत्रता' और 'प्रतिनिधि सरकार' में वैयक्तिकता पर इतना अधिक जोर दिया है कि ऐसा मान्य होता है कि मिस सामाजिक पक्ष को बिलकुल ही भूल गया है। निबट्टी में वह व्यक्ति की सामाजिक रीति-रिवाजों और लोकमत की निरंकुशता से मुक्ति दिखाना चाहता है। कोमरे ने जब टाफिसी के सामाजिक अनुष्णता (Conformities) के विस्तेरण की सहायता की थी तो मिस ने कोमरे पर यह आरोप लगाया था कि कोमरे व्यक्ति पर समाज की निरंकुशता स्थापित करना चाहता है। मिस व्यक्ति के धारण और विचारों में हस्तक्षेप करने का अधिकार समाज को नहीं देता। तब प्रश्न यह पड़ता है कि व्यक्ति को यह स्वतंत्रता कौन देना? यदि प्रजा-तांत्रिक शासन प्रणाली समाज को ही प्रबन्ध है तो यह माना नहीं की जा सकती कि समाज की निरंकुशता से राज्य द्वारा व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी। मिस के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है। उसका अपना निजी अस्तित्व नहीं।

इसलिये वह समाज और व्यक्ति के बीच सामंती संबंध स्थापित नहीं कर सका और न बता सका कि समाज में रहकर ही समाज के द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मिस के इस ध्य की पूर्ति ध्याये बसकर धीम ने की है। परन्तु समाज और व्यक्ति के धायसी संबंधों का निरूपण न करने के कारण बांकर के संबंधों में मिस केवल “खोसमी स्वतंत्रता का पैम्बर” ही रहा है। वह स्वतंत्रता के सच्चे धर्ष को नहीं देख सका।

परन्तु समाज का धयना निजी स्वान है, धयना निजी धस्तित्व है, इसलिये तीक्ष्ण दृष्टि वाला मिस उसकी धयहेलना भी नहीं कर सका है।

### खोसमी स्वतन्त्रता

मिस राज्य को व्यक्तियों का समूह ही मानता है पर कहीं कहीं उसका स्वतंत्र धस्तित्व भी मानता है। मिस व्यक्ति और समाज में सामंती संबंध स्थापित न कर सकने के कारण खोसमी स्वतन्त्रता का पैम्बर है।

कई स्थानों पर उसने समाज के इस स्वल्प को मान्यता दी है जिसके कारण उसके विचारों में विरोध भी दिखाई देता है। बड़ती हुई धावाही पर विचार व्यक्त करते हुए वह लिखता है कि लोकमत धरिबड़े बड़े कुटुम्बों का विरोध करे तो व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति कम करेगा। “जो भी व्यक्ति यह सोचता है

कि लोकमत का प्रमान मनुष्य के धाचरण पर नहीं पड़ेगा वह मानवीय प्रकृति से पूर्ण धनभिन्न है। रिप्रिजेन्टेटिव मवमेंट में वह युवा मठदान के स्वान पर खुसे मठदान का समर्धन करता है और लिखता है कि मठाधिकार जनता द्वारा दिया गया है इसलिये उसका प्रयोजन जनता के सामने धीर उसकी धासोचना के अंतर्गत होना चाहिये। धार्थिक क्षेत्र में भी मिस मन्न समाजवाद का पोषक है।

बाल स्टुडेंट मिश की उपयोधितावाही सिद्धान्त का समर्धन करने के लिए ही धारी धिषा दी गई थी इसलिये वह धयने धीजन में बेधम द्वारा धिये गये उपयोधितावाही सिद्धान्त का ही समर्धक रहा। परन्तु मिस धयने व्यापक अनुभव धीर धयनी तीक्ष्ण बुद्धि से उपयोधितावाही सिद्धान्त की कमियों की धयनी तरह देख सकता था। इन धुनों का हटाने में उसने इस सिद्धान्त को माननाधों धीर नैतिकता का निरूपण कर धधिक मानवीय धी धयधय बना दिया परन्तु इससे धारमिक उपयोधितावाही सिद्धान्त धयना रूप बनाये न रस सका। धैबाधन का कहना है मिस सिद्धान्त का मिस समर्धन करने बँध का उस सिद्धान्त से धयध दृष्टये में मा उपयोधितावाही धरम्यध का अंशेधन

करने में मिस के वर्धन की महत्ता है।<sup>१</sup> उन्होंने यह बताया कि मनुष्य केवल मुक्त नहीं चाहता मनुष्योचित या नैतिक मुक्त चाहता है। बिचटों में भी उसका यही सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उसका कहना है कि मानवीय स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज के लिए उपयोगी है परन्तु स्वतंत्रता का केवल उपयोगिता के आधार पर ही वह समर्थन नहीं करता। स्वतंत्रता मनुष्य को अपनी वैयक्तिकता बिकस करने का प्रबन्ध देती है जिससे मनुष्य का नैतिक चरित्र बनता है। इस प्रकार मिस ने उपयोगितावादी सिद्धान्त में नैतिकता और उच्च धारकों को स्थान दिया।

प्रजातांत्रिक सरकार की सर्वा करती हुए मिस समाज को मनुष्य की स्वतंत्रता का मुख्य धनु बताया है। वह व्यक्ति को समाज की रीति रिवाजों की निरंकुशता से मुक्ति दिनाता चाहता है। इसी प्रकार वह प्रारंभिक व्यक्ति-वादियों के समान व्यक्ति को सरकार की निरंकुशता से नहीं बरम् बहुमत की निरंकुशता से मुक्त कचना चाहता है। पर अपने इन विचारों में मिस ने सबसे पहिले यह विचार रखा कि प्रजातांत्रिक सरकार केवल प्रजातांत्रिक समाज में ही संभव है। राजनैतिक संस्थाओं बास्तब में सामाजिक संस्थाओं का ही संभव है और सामाजिक बातावरण ही उनके संवहन वा कार्य प्रणाली को निश्चित करता है। इस प्रकार मिस ने व्यक्ति और राज्य के संबन्धों का विवेचन करते तथा व्यक्ति स्वतंत्रता के लिए समाज को भी महत्ता दी।

डेबोइन के अनुसार उदारवादी वर्धन में मिस का योगदान चार बातों में है (१) उपयोगितावादी सिद्धान्त में नैतिक भावना का निक्षण कर उसने काण्ट के समान ही मानव व्यक्तित्व को मान्यता दी और उसका संभव नैतिक उत्तरदायित्व से स्थापित किया (२) अपने सामाजिक और राजनैतिक स्वतंत्रता को स्वयं में धर्या बताया। स्वतंत्रता इसलिए धर्या नहीं कि इसको हम धर्म साध्यों का साधन बना सकते हैं बरम् इसलिए धर्या है कि यह उत्तरदायी मनुष्य के जीवन का अंग है। स्वतंत्र रूप से अपने विचार रखना उनके धनुमार कार्य करना अपनी क्षमताओं का बिकस स्वयं धर्या बातें हैं न कि हम इनसे मुक्त प्राप्त कर सकते हैं। (३) स्वतंत्रता केवल वैयक्तिक नहीं सामाजिक धर्या है। किसी विचार के समन से व्यक्ति को नहीं समाज को हानि पहुँचाती है। (४) स्वतंत्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य

व्यक्ति को धकेले छोड़ देना नहीं है बल्कि उसका काम है अपने नियमों से व्यक्ति के कार्य करने के अवसरों को बढ़ाना ।

मिस का राजनैतिक दर्शन में महत्वपूर्व स्थान है । बढ़ती हुई प्रजातांत्रिक भावना में उसने सुराह्यों को देखा था । उसका उद्देश्य था इन सुराह्यों की

मिस की येन

उपयोगितावाद की जबकि मानवी बनाया । स्वतन्त्रता वैतित्ता और वैयक्तिक जीवन के लिये आवश्यक है स्वतन्त्रता का स्वयं अपना मूल्य है ।

प्रजातांत्रिक सरकार के लिये प्रजातांत्रिक समाज की आवश्यकता है ।

की बरिमा को लो देगा ; मिस ने इसी कारण वैयक्तिकता के विकास पर अधिक धोर दिया । साम ही उसने यह देखा था कि बयस्क मताधिकार के बढ़ने से प्रजातन्त्र मूर्खों की सरकार हो जावेगी । मिस मनुष्य की प्रकृति को बहुत ही हीन समझता है । इसलिए उसे इस बात की चिन्ता थी कि जब विचार वाले व्यक्ति समाज के अधिकार न बन जायें । वे समाज की निर्दुसता से मुक्त रहे जायें तभी समाज का कल्याण हो सकता है । मिस का उद्देश्य था प्रजा-तन्त्र को सुराह्यों से सुरक्षित करना ।

धोर समाज का ध्यान आकर्षित करना । डि टाकमिसे ने अपने अमेरिकन संविधान के अध्ययन से यह स्पष्ट कर दिया था कि ज्यों ज्यों प्रजातन्त्र विकसित होया त्यों त्यों मनुष्य में स्वतन्त्रता की नहीं वासता की भावना जाग्रत होती, मनुष्य अपने व्यक्तित्व को; अपने नैतिक साहस को और अपनी स्वतन्त्रता





## कार्ल-मार्क्स

(१८१८—१८८३)

- |                       |   |
|-----------------------|---|
| (१) जीवन और समस्या    | (२) विचारों का स्रोत                    |
| (३) धार्मिक नियतिवाद  | (४) भौतिक इन्द्रियवाद                   |
| (५) वर्ग संघर्ष       | (६) भौतिक शारी इन्द्रियवाद की व्याख्यान |
| (७) धार्मिक सिद्धान्त | (८) नई सामाजिक व्यवस्था                 |
| (९) मार्क्स का स्थान  |   |

( १ )

### जीवन और समस्या

कार्ल-मार्क्स का जन्म जर्मनी के भीमर नगर में १८१८ में हुआ था। इनका पिता यहूदी था जिसने १८२४ में प्रोटेस्टेन्ट धर्म अपना लिया था। १८४१ में मार्क्स अपनी पिरा-बीछा समाज कर प्रोफेसर बनने के लिये प्रयत्नशील हुआ परन्तु सरकार की प्रतिक्रियाकारी नीति के कारण जिससे यूरोबाद्धर को भाषण देने की मनाही कर दी गई थी मार्क्स ने प्रोफेसर बनने का विचार छोड़ दिया। इस समय कामपक्षीय हीमनवादियों की विचार बारा बोरों पर भी और मुबकिय फ्युपरबेक भौतिकवादी वर्धन प्रतिष्ठित कर रहा था। एत्रिस्त लिखता है कि इस समय हम फ्युपरबेक के अनुयायी हो गये। १८४२ में मार्क्स एक पत्र का प्रवान संवादक बना परन्तु मार्क्स के अतिरिक्त विचारों के कारण उसे यह पत्र त्यागना पड़ा।

१८४४ में मार्क्स फ्रेडरिक एत्रिस्त के सम्पर्क में आया। ये दोनों समाज विचारों के कारण जीवन-व्यस्त मित्र बन गये। दोनों ने पेरिस में क्रांतिकारी

वक में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। १८४१ में लखरनाक कमिश्नरारी समझे जाने के कारण मार्क्स पेरिस से निकाल दिया गया। १८४० में मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट लीग की कुछ कार्यवाहियों में भाग लेना प्रारंभ किया और इस लीग की विचारधाराओं को 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' नामक पुस्तक में १८४८ में प्रकाशित किया। इस पुस्तक में ही मार्क्स के प्रमुख सिद्धांत हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इसकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'बाथ केपिटल' है।

कान्तिनों में भाग लेने के कारण मार्क्स यूरोप के एक राज्य से दूसरे राज्यों में भागता रहा। अन्त में वह लन्दन आया और अपनी मृत्यु तक इसी देश में रहा।

अन्य राजनीतिक दार्शनिकों की तुलना में मार्क्स का साम्यवादी राजनीति पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। मार्क्स सिद्धता है कि सभी तक सभी दार्शनिक अथवा विज्ञान करने में सचेत रहे हैं परन्तु दार्शनिकों का मुख्य काम अन्त का विश्लेषण करना नहीं बल्कि उसे बदलना है। मार्क्स ने सामाजिक संस्थाओं और इतिहास का न केवल एक नये दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है बल्कि उसने समाज किन नियमों से परिवर्तित हो रहा है और किस ओर जा रहा है उसकी रूपरेखा भी वैज्ञानिक तरीके से दी है। उसके विचारों को उसका जीवन-काल में ही साम्यता ही जाने सगी थी। परन्तु १९१७ की रूसी क्रांति के पश्चात् जब उसके विचारों को व्यावहारिक रूप दिया जाने लगा तो विश्व की राजनीति पर उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। आज मार्क्सवाद संसार की राजनीति और दर्शन के लिए एक बड़ी चुनौती बन गया है।

विश्व राजनीति पर मार्क्सवाद के इतने प्रभावकारी होने के कई कारण हैं। मार्क्स उस युग में लिख रहा था जब विज्ञान और मशीनों ने समाज में बड़ी क्रांति उपस्थित कर दी थी। पूँजीपतियों ने औद्योगिक क्रांति से लाभ उठाकर मनुष्यों का उत्पादन अधिक मात्रा में करना प्रारंभ कर दिया था। मार्क्स मशीन के द्वारा लाने वाले इस अमलकारिक परिवर्तन को स्वीकार करता है। कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में यह लिखता है कि, "पूँजीपतियों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य अपने कार्यों से जितना अमलकार कर सकता है। आज के अमलकार दृष्टि के पिरामिड से महान है। पूँजीपतियों ने सारे राष्ट्रीयों में साम्यता का विकास किया है बड़े-बड़े शहर बनाये हैं, और इस प्रकार संसार की बहुत भाषाओं को वैश्वीकरण की विन्दनी से बचा लिया है-- प्रकृति पर

विश्व पाकर, समाज धास का कृषि में उपयोग कर, रैल-टार द्वारा गरियों से नहरें निकाल कर, इन ही बर्षों में मनुष्य ने वह प्रपत्ति की है जो अठारहवीं सताब्दी तक संभव नहीं दिखाई देती थी। वह सब मनुष्य के धर्म का परिणाम है।”

परन्तु मार्क्स पूँजीवाद के द्वारा सार्ई गई बुद्धियों को भी देख सका था। इस पूँजीवाद ने मनुष्यों के बीच केवल स्वार्थ के समाज और कोई संबंध नहीं रख दिया है। पूँजीपति ने धर्म के कुछ टुकड़े लेकर धर्मियों को अपना बस बना लिया है। स्नेह ममता धारि समाप्त हो गई है और अब मनुष्य के सारे संबंध केवल रुपये के आकार पर बसते हैं। इस प्रकार इस विज्ञान के जन्मकारिक युग ने मनुष्य समाज में खोपन और दुर्बी जीवन को भी जन्म दिया है।

पूँजीवाद की इन बुद्धियों को धर्म सोच भी जानते थे। प्रोबों का कहना था कि संपत्ति बोरती है। छुट साहमन बर्ग संपर्ष के विचारों को मानता है, और सिसमांडी पूँजीवादी व्यवस्था में घाने वाले संकटों को देखता है। वे सब मेडक भी नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं। परन्तु मार्क्स इन सब लैपकों को “काल्पनिक जगत के समाजवादी” या “बटोपियन सोसलिस्ट” कहता है। वह इनकी कटु भासौचना करता है। उसके अनुसार ये समाजवादी पूँजीवाद की बुद्धियों को ही हटाना चाहते हैं, स्वयं पूँजीवाद को नहीं। बूझते, वे यह बताने में भी असमर्थ हैं कि जगता समाजवाद और नई सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार स्थापित हो सकती। इन काल्पनिक समाजवादियों के विरुद्ध में मार्क्स धर्म को वैज्ञानिक समाजवादी कहता है, क्योंकि वह सामाजिक संस्थाओं को तथा उसमें होने वाले परिवर्तन को वैज्ञानिक नियमों द्वारा समझता है।

#### ग्रन्थ

कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (१८४८)।

दत्त कैपिटल (१८६७)।

पूँजीवादी व्यवस्था के मुख बौधों की विवेचना और सामाजिक परिवर्तन का वैज्ञानिक नियम।

समाज को नवा नारा।

वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता परन्तु उसने धर्मियों के लिए धर्म एक नया धर्म

संका कहना है कि समाज के सारे परिवर्तन कुछ नियमों के कारण होते हैं और वही नियम अन्तिम समाजवाद की स्थापना करेंगे। मार्क्स के इस वैज्ञानिक परा की वैज्ञानिक युग के सौंनों ने सामाजिक-धर्म से स्वीकार कर लिया है।

मार्क्स का सामाजिक-परिवर्तन का वैज्ञानिक विवेक्षण पूर्णरूप से ही

एक नया ढांच दिया है। एक मसीहा की भाँति वह अपने नामे युग का विश्व प्रवर्धक करता है और कहता है कि 'संसार के अगिबो एक हो जाओ, तुम्हें अपनी बैदियों के प्रताका और कुम नहीं लीगा है।' इस प्रकार मार्क्सवाद एक नया धर्म हो गया है। धर्म और विज्ञान के इस विभिन्न मिश्रण ने संसार के बहुत से लोगों को मोह लिया है और आज मार्क्सवाद राजनीति की महान् दायित बन बैठा है। मार्क्स का अनुयायी जेनिन लिखता है "मार्क्सवादी सिद्धान्त सर्वसक्तिमान है क्योंकि वह सत्य है। यह पूर्ण और समत सिद्धान्त है, और मनुष्यों को अधिकतम बिद्विचार देता है जो प्रत्येक प्रकार के धर्मविश्वास प्रतिक्रियावाद और पूर्वोक्ताधी दमन के समर्थन का विरोधी है। १९वीं शताब्दी, में मानव द्वारा बनाई गई सर्वश्रेष्ठ विचारवादाओं का यह जटिलविकापी है।"

( २ )

### विचारों का स्रोत

मार्क्स अपने विचार जर्मन इरॉन इन्ग्रेड के धर्मशास्त्रियों और फ्रांस के समाजवादियों से लेता है, और इन तीनों विचारवादाओं को मिलाकर नया ढांच उपस्थित करता है।

जर्मन के प्रसिद्ध धार्मिक हीरोस से वह इन्ग्रेड की पद्धति को अपनाता है। परन्तु हीरोस के इरॉन में विचार और विवेक की प्रधानता भी यही है। इसके विपरीत मार्क्स धार्मिक अंधता को महत्ता देता है। मार्क्स का कहना है कि समाज की धार्मिक व्यवस्था ही सारे सामाजिक संघर्षन साहित्य कला और विचारों को निमित्त करती है, इसलिए यदि हीरोस धार्मिकवादी है तो मार्क्स का इरॉन धार्मिकवादी है। वह धार्मिक नियति (economic determinism) में विश्वास करता है।

"The Marlan doctrine is omnipotent because it is true. It is complete, and harmonious, and provides men with an integral world conception which is irreconcilable with any form of superstition reaction or defence of bourgeois oppression. It is the legitimate successor of the best that was created by humanity in the nineteenth century."

Karl Marx—Selected Works, Vol. I. Moscow page 45.

क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, और उसमें परिवर्तन होता रहता है इसलिए समाज के स्वल्प को न्यायमक रूप में समझना आवश्यक है। १९वीं शताब्दी के दार्शनिक समाज के न्यायमक रूप का ही विस्तारण करते हैं। हीगल ने इस विस्तारण में दृष्टिकार की रीति का ही उपयोग किया था, मार्क्स भी इसी रीति को अपनाता है इसलिए नीतिकर्षाही होने के कारण उसकी रीति 'नीतिकर्षाही दृष्टिकार' कही जाती है।

क्योंकि मार्क्स के दर्शन में धार्मिक नीति पर ही पूरा समाज आधारित है, इसलिए मार्क्स धार्मिक व्यवस्था के विस्तारण को ही प्रमुखाता देता है। इस संबंध में वह यह सिद्धांत भी प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम के बराबर है। ईसाईयत के प्रसिद्ध धर्मशास्त्री थाडम-स्मिथ और रिकार्डो ने सबसे पहिले मूल्य का श्रम-सिद्धांत प्रतिपादित किया था। इसलिए मार्क्स के दर्शन में इन धर्मशास्त्रियों के विचारों का भी योग है।

ईसाईयत के धर्मशास्त्रियों ने श्रम सिद्धांत का प्रयोग केवल दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए किया था कि किस प्रकार श्रम दो वस्तुओं की विनिमय (या बदलाव बचानी) की दर उस पर लगे श्रम के आधार पर निश्चित कर सकते हैं। मार्क्स ने इस सिद्धांत का धार्मिक व्यापक उपयोग किया है। इसके द्वारा वह केवल वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध को ही नहीं बल्कि मनुष्य के पारस्परिक संबंधों को भी स्पष्ट करता है। वह सिद्धांत है कि वस्तु के प्रादान-ग्रहण से मनुष्य भी संबंधित होते हैं, और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी धार्मिक व्यवस्था के श्रम श्रम बाते हैं। श्रम सिद्धांत से वह पूँजी की भी विशेषता बताता है। पूँजी के द्वारा मनुष्य का श्रम खरीदा जाने समता है। मजदूर पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचने लगते हैं। इस प्रकार श्रम स्वयं एक खरीदने और बेचने वाली वस्तु हो जाती है। मजदूर, पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचकर उस श्रम का एक माप अपनी जीविका बचाने के लिये और दूसरा भाग पूँजीपतियों के मुनाफे के लिए काम में लाता है। इस प्रकार श्रमिक अपने परिश्रम से पूँजीपतियों के लिये धार्मिक मूल्य पैदा करता है। धार्मिक मूल्य का सिद्धांत मूल्य के श्रम सिद्धांत पर आधारित होते हुए भी मार्क्स का अपना निजी सिद्धांत है।

पूँजीपारी व्यवस्था के दुष्परिणामों को देखकर ही धर्म में समाजवादी भाव आनी भी जो पूँजीवाद में सुधार करना चाहती थी। इनमें से कुछ नेताओं ने सर्वतर्ज की भी नहीं की थी। मार्क्स ने इस समाजवादी भाव को

अपनाकर एक नया बन दिया। इसीलिए वह अपने सिद्धान्त को साम्यवादी सिद्धान्त कहता है। उसका कहना है कि हमारा सारा सामाजिक परिवर्तन ही

### विचारों के स्रोत

बर्मन वर्जन—हीरोन का इन्द्रवाद  
( सामाजिक परिवर्तन का  
नियम, जाति )

श्रीस—समाजवादी सिद्धान्त  
( वर्ग संघर्ष ) ;

इमैंड—मूल्य का न्यम सिद्धान्त  
( पुँबी धोर शोपण ) ;

केवल बर्चमात्र हुई थी वहाँ मार्क्स ने वर्गसंघर्ष को बड़ी महत्ता दी है, और यह कहा कि संसार का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष पर आधारित है।

इस प्रकार मार्क्स के राजनैतिक दृष्टि के मुख्य तत्व हैं—

(१) धार्मिक नियन्त्रिण (२) धौतिक इन्द्रवाद (३) धतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (४) वर्ग-संघर्ष (५) साम्यवादी व्यवस्था।

( ३ )

### धार्मिक नियन्त्रिण

साधारणतः लोगों का यह विचार है कि महापुरुष वर्गें युद्ध वर्जन और विचार समाज के स्वरूप का निर्माण करते हैं। इतिहास हमें इस प्रकार के कई उदाहरण देता है जिनसे इन विचारों का सर्वप्रथम ज्ञान है। नेपोलियन चौथम-बुद्ध अशोक सिद्धर महाम आदि ने इतिहास और समाज को प्रभावित किया है। ईसाई-धर्म यहूदी धर्म बौद्ध धर्म का भी सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इसलिये इस कथन में काफ़ी तत्व है कि इतिहास का निर्माण युद्ध वर्गें तथा धीरे विचारों द्वारा हुआ है।

परन्तु मार्क्स इस कथन पर विरोध नहीं करता। उसका कहना है कि युद्ध विरोध की धार्मिक-व्यवस्था पूरे समाज के स्वरूप को बनाती है। समाज का

क्योंकि समाज परिवर्तनशील है, और उसमें परिवर्तन होता रहता है इसलिए समाज के स्वरूप को मत्वात्मक रूप में समझना आवश्यक है। १९वीं शताब्दी के आर्थिक समाज के मत्वात्मक रूप का ही विश्लेषण करते हैं। हीयल ने इस विश्लेषण में इन्द्रबाद की रीति का ही उपयोग किया था, मार्क्स भी इसी रीति को अपनाता है इसलिए भीतिकवादी होने के कारण उसकी रीति 'भीतिकवादी इन्द्रबाद' कही जाती है।

क्योंकि मार्क्स के दर्शन में आर्थिक जीवन पर ही पूरा समाज आधारित है इसलिए मार्क्स आर्थिक व्यवस्था के विश्लेषण को ही प्रमुखता देता है। इस संबंध में वह यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम के बराबर है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री आरम-स्मिथ और रिकार्डों ने सबसे पहले मूल्य का श्रम-सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। इसलिए मार्क्स के दर्शन में इन अर्थशास्त्रियों के विचारों का भी योग है।

इंग्लैंड के अर्थशास्त्रियों ने श्रम सिद्धान्त का प्रयोग केवल दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए किया था कि किस प्रकार इन दो वस्तुओं की विनिमय (या बदला बरबी) की दर उस पर लगे श्रम के आधार पर निर्धारित कर सकते हैं। मार्क्स ने इस सिद्धान्त का आर्थिक व्यापक उपयोग किया है। इसके द्वारा वह केवल वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध को ही नहीं बल्कि मनुष्य के पारस्परिक संबंधों को भी स्पष्ट करता है। वह सिद्धता है कि वस्तु के आदान-प्रदान से मनुष्य भी संबंधित होते हैं और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध भी आर्थिक व्यवस्था के अंग बन जाते हैं। श्रम सिद्धान्त से वह पूँजी की भी विश्लेषण करता है। पूँजी के द्वारा मनुष्य का श्रम खरीदा जाने लगता है। मजदूर पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचने लगते हैं। इस प्रकार श्रम स्वयं एक खरीदने और बेचने वाली वस्तु हो जाती है। मजदूर, पूँजीपतियों को अपना श्रम बेचकर उस श्रम का एक भाग अपनी जीविका बताने के लिये और दूसरा भाग पूँजीपतियों के मुताकै के लिए काम में लाता है। इस प्रकार श्रमिक अपने परिश्रम से पूँजीपतियों के लिये अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित होते हुए भी मार्क्स का अपना निजी सिद्धान्त है।

पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को देखकर ही फ्रांस में समाजवादी आंदोलन की भी जो पूँजीवाद में सुधार करना चाहती थी। इनमें से कुछ नेताओं ने अर्पतर्पण की भी, कर्षा की भी। मार्क्स ने इस समाजवादी आंदोलन को

घपनाकर एक नया रूप दिया। इसीलिए वह घपने सिद्धान्त को साम्यवादी सिद्धान्त कहता है। उसका कहना है कि हमारा सारा सामाजिक परिवर्तन ही

### विचारों के स्रोत

जर्मन दर्शन—होमेल का इम्बवाद  
( सामाजिक परिवर्तन का  
नियम, कर्मि )

प्रति—समाजवादी सिद्धान्त  
( वर्ग संघर्ष )।

इम्पेड—मुख्य का घम सिद्धान्त  
( पूंजी और शोषण )।

नई सामाजिक व्यवस्था की धोर का  
रहा है, धोर वृत्ति सारी सामाजिक  
व्यवस्था धार्मिक नींव पर आधारित  
है इसलिए नई साम्यवादी व्यवस्था में  
पूँजीवाद को कोई स्थान न रहेगा।  
इसलिए वहाँ फ्रांस के समाजवादी  
पूँजीवादी व्यवस्था में सुधार करना  
चाहते थे, वहाँ मार्क्स इस व्यवस्था को  
समाप्त करना चाहता है। इसके वहाँ  
इन समाजवादियों में वर्गसंघर्ष की  
केवल चर्चामान हुई थी वहाँ मार्क्स ने वर्गसंघर्ष को बड़ी महत्ता दी है और  
यह कहा कि संसार का सारा इतिहास वर्ग-संघर्ष पर आधारित है।

इस प्रकार मार्क्स के राजनैतिक दर्शन के मुख्य तत्व हैं—

(१) धार्मिक नियतिवाद (२) भौतिक इम्बवाद (३) प्रतिरिक्त मुख्य  
का सिद्धान्त (४) वर्ग-संघर्ष (५) साम्यवादी व्यवस्था।

( १ )

### धार्मिक नियतिवाद

साधारणतः लोगों का यह विचार है कि महापुरुष, धर्म मुक्त दर्शन  
और विचार समाज के स्वरूप का निर्माण करते हैं। इतिहास हमें इस प्रकार  
के कई उदाहरण देता है, जिनसे इन विचारों का समर्थन होता है। मेसोपोटमिया  
पौतम-बुद्ध धर्म, सिन्धु नदी महान धादि ने इतिहास और समाज को  
प्रभावित किया है। ईसाई-धर्म, बहुवी धर्म और धर्म का भी सामाजिक  
संस्थाओं के निर्माण में महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इसलिये इस कथन में काफ़ी  
तत्व है कि इतिहास का निर्माण मुक्त, धर्म नेता और विचारों द्वारा हुआ है।

परन्तु मार्क्स इस कथन पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि बुद्ध  
विशेष ही धार्मिक-व्यवस्था पूरे समाज के स्वरूप को बनायी है। समाज का



साहित्य कक्षा विचार, दर्शन नियम राजनीतिक संरक्षण अर्थिकों सब धार्मिक-व्यवस्था नियत करते हैं। मार्क्स के इस विचार को हम धार्मिक नियतिवाद कहते हैं।

धार्मिक नियतिवाद को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। यदि हम किसी कृषि समाज को देखें तो इसकी धार्मिक-व्यवस्था कृषि पर घबलंबित है। मनुष्य वस्तुओं का उत्पादन भूमि रीत भ्रम और कृषि कार्य की रक्षता द्वारा करता है। इन सब सामग्री को हम उत्पादन साधन (productive forces) कह सकते हैं।

इन्हीं उत्पादन साधनों के अनुकूल जमींदार और किसान किसान और किसान तथा किसान और धर्म लोगों के संबंध बनते हैं। इन्हीं हम उत्पादन संबंध कह सकते हैं।

उत्पादन साधनों के अनुकूल ही उत्पादन के संबंध होते हैं। उत्पादन के साधन और उत्पादन संबंध दोनों समाज की धार्मिक व्यवस्था बनाते हैं।

ऐसे कृषि समाज में बड़े-बड़े जमींदार ही सम्मानित प्रतिष्ठित और शक्ति-शाली व्यक्ति समझे जायेंगे। सामाजिक संगठन पर उनका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देगा उनका निर्लुप्त सबको मान्य होगा और समाज के नियम बनाने में उनका हाथ होगा। इसलिये सामाजिक व्यवस्था ग्याय विधि व सरकार के संगठन पर जमींदारों के प्रभाव की स्पष्ट छाप दिखाई देगी, जो मुझ होगी उस पर माय रीत या हल का चित्र अंकित होगा। इस समाज में माय भूमि या कृषि पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों की पुजा होगी साहित्य और कला का भी नियम कृषि से संबंधित होगा। नैतिक विचार, दर्शन भ्रम ग्याय सामाजिक संस्कार, सब धार्मिक व्यवस्था पर आधारित होगी।

मार्क्स का कहना है कि धार्मिक व्यवस्था यदि नीचे की मंजिल (Sub-Structure) है तो पूरी सामाजिक-व्यवस्था-भ्रम नियम दर्शन धार्मिक-बुद्धि मंजिल (Super Structure) है और जिस प्रकार बुद्धि मंजिल की दिशा में पढ़नी मंजिल की दिशा में पर आधारित होती है उसी प्रकार धार्मिक व्यवस्था समाज के स्वरूप को निर्दिष्ट करती है।

धार्मिक व्यवस्था में परिवर्तन होने से समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है और धार्मिक व्यवस्था में परिवर्तन लाते हैं उत्पादन के साधन।

उदाहरण के लिये कृषि-समाज में यदि वस्तुओं का उत्पादन नये इन से होने लगे या उत्पादन क्षेत्र में नई खोज या नये प्रत्येकण का भाव हो उसका पूरे समाज पर प्रभाव पड़ेगा। उदाहरण के लिये यदि ऐसे समाज में कोयले और लोहे की खानों मिल जायें सोन इन वस्तुओं से मशीनें बनाने और बनाने लवें तो वस्तुओं के उत्पादन साधनों में परिवर्तन हो जायेगा। प्रत्येक संघर्ष का उत्पादन भूमि या बसों पर प्रवर्तित नहीं है परन्तु सोडा, कोयला और मशीनों पर प्रवर्तित है। इन उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होते ही उत्पादन संबंधों में परिवर्तन हो जायेगा और जमींदार, किसान के आपसी संबंधों के स्वाम पर अधिक और उद्योगपति के संबंध स्थापित हो जायेंगे। इन उत्पादन संबंधों के अनुरूप ही समाज का पूरा स्वरूप बदल जायगा।

### आर्थिक नियतिवाद

आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था बनाती है।

उत्पादन साधन के अनुरूप उत्पादन संबंध।

उत्पादन साधन और संबंध (आर्थिक व्यवस्था) पर बर्मे समाज साहित्य विचारों की मजिद आधारित।

आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन।

उस प्रकार मासर्ष अपने आर्थिक नियतिवाद द्वारा यह बताता है कि समाज का पूरा स्वरूप उत्पादन के साधनों पर प्रवर्तित है।

इस प्रकार मासर्ष अपने आर्थिक नियतिवाद द्वारा यह बताता है कि समाज का पूरा स्वरूप उत्पादन के साधनों पर प्रवर्तित है।

( ४ )

### भौतिक दुःखवाद

मासर्ष के अनुसार मानव इतिहास में पाँच प्रकार की आर्थिक व्यवस्था हो सकती है—

(१) आदिम साम्यवाद, (२) बसों पर आधारित व्यवस्था (३) सामंतवाद (४) पूंजीवाद और (५) आधुनिक मानव समाजवाद।

प्रश्न यह उठता है कि एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था में कैसे परिवर्तित हो जाती है? परिवर्तन का क्या नियम है?

१९वीं शताब्दी के दार्शनिकों ने समाज के इस परिवर्तन के नियम की खोज की। दार्शनिकों का विकासवादी सिद्धान्त वैज्ञानिकों का

धीरे-धीरे प्रकृति के विकास की विवेचना करता है। कुछ लोगों ने जर्मन के इस विकासवादी सिद्धान्त के अनुसृत सामाजिक जर्मनवाद भी प्रारंभ किया था। हीगल ने वर्णसंघात में इन्धबाद की रीति द्वारा परिवर्तन क्रम को समझने की चेष्टा की थी। इन्धबाद का अर्थ होता है—विरोधी शक्तों के एकीकरण का सिद्धान्त। मार्क्स ने हीगल के इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से खारज किया। परन्तु हीगल और मार्क्स के इन्धबाद में अन्तर है। हीगल विचार या वर्णन को प्रमुख मानता है और मार्क्स भौतिक जगत को या धार्मिक व्यवस्था को। हीगल के अनुसार आत्मा सारे संसार को अनुप्राणित करती है और इस सारे संसार की गति इसी आत्मा की ओर हो रही है। पिछड़े समाज आत्मा से दूर है परन्तु प्राकृतिक राज्य धार्मिक विकसित होने के कारण आत्मा के निकट है, और उनमें आत्मा की अभिव्यक्ति अधिक हो रही है। इस प्रकार हीगल के अनुसार सारे संसार के विकास को हम आत्मा की अभिव्यक्ति के आधार पर समझ सकते हैं।

मार्क्स के धार्मिक विद्वेषवाद के अनुसार सारे समाज का स्वरूप धार्मिक व्यवस्था पर अवलंबित है इसलिये समाज के विकास को हम धार्मिक व्यवस्था या भौतिक जगत के द्वारा समझ सकते हैं। मार्क्स के अनुसार स्वयं आत्मा या विचार धार्मिक व्यवस्था या भौतिक जगत से प्रभावित होते हैं। इसी कारण हीगल से खारज गई इन्धबाद की रीति को वह भौतिकवादी इन्धबाद कहता है और उसे हीगल की रीति से भिन्न मानता है। कैपिटल के प्रथम खंड की भूमिका में वह लिखता है, "मेरी स्वयं की इन्धारमक रीति हीगल की रीति से न केवल भिन्न है, बल्कि पूर्ण विरोधी है। क्योंकि हीगल के लिए— विचार वास्तविक जगत का सृष्टा है और वास्तविक जगत केवल विचार की बाह्य-अभिव्यक्ति है। परन्तु मेरे लिये विचार-जगत और कुछ नहीं केवल भौतिक जगत का मानव मस्तिष्क पर प्रतिबिम्ब है और भौतिक जगत का वह प्रतिबिम्ब ही विचार बनाता है।

मार्क्स ने भौतिक जगत को विचारों का सृष्टा कहा है। हीगल विचारों को भौतिक जगत का सृष्टा कहता है। इसलिये मार्क्स लिखता है कि हीगल तिर के बस जाड़े होकर संसार को देखा करता था, जैसे अपनी रीति में हीगल को उसके पैरों के ऊपर चढ़ा कर दिया है।

इन्धारमक रीति का हम तीन नियमों के अंतर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

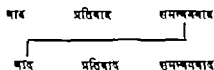
(घ) मात्रा व गुण में, धीरे-धीरे गुण का मात्रा में होना परिवर्तन होना—

बाग़ के सारे परिवर्तन धीरे-धीरे होते हैं, धीरे-धीरे इन परिवर्तनों का कारण वस्तु की मात्रा में परिवर्तन होने के कारण होता है। पर इस परिवर्तन क्रम में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जब वस्तु बूझकर कम मिये बिना अपने को परिवर्तित नहीं कर सकती। उदाहरण के लिये पानी ठंड की बोझी बोझी मात्रा पाकर धीरे-धीरे ठंडा होता जाता है पर एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि पानी बर्फ़ का रूप ले लेता है। इसी प्रकार बीमे बीमे मर्म करने पर एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब पानी माफ़ बन जाता है। इसी तरह प्रत्येक मातृ की पतन अवस्था होती है। उस अवस्था के पड़े पहिले तक वो मातृ ठोस अवस्था में रहती है परन्तु उस अवस्था के बाद ही मातृ पिघलकर अपना रूप बदल लेती है। इस प्रकार मात्रा से होने वाला परिवर्तन एक विचित्र अवस्था में पहुँचकर गुणात्मक परिवर्तन कर देता है। इस अचानक परिवर्तन (Sudden Jumps) को माक्स अन्ति कहता है। सारे समाज के परिवर्तनों में इस प्रकार की अन्तियाँ होना अनिवार्य है। इन अन्तियों के परिणाम स्वयं ही हम प्रारंभिक साम्यवादी अवस्था से बाधों की अवस्था सामंतवादी धीरे-धीरे पूँजीवादी अवस्था में आये हैं। धीरे-धीरे इस प्रकार की अन्ति से हम समाजवादी अवस्था में पहुँचेंगे।

(ब) बिरोधी तत्वों की एकता का नियम—वस्तु में परिवर्तन का कारण वस्तु में बिरोधी तत्वों का एक साथ होना है। इस कथन को भी हम कुछ उदाहरणों से स्पष्ट कर सकते हैं। पूर्व और पश्चिम बिरोधी तत्व हैं परन्तु माक्स का कथन है कि पूर्व में पश्चिम बिरोधीतत्व निहित है, क्योंकि यदि हम पूर्व की धीरे-धीरे चले जायें तो पश्चिम में पहुँच जायेंगे। जिसकी में भी हम मैटेरियल और पात्रियल तत्व साथ ही साथ पाते हैं धीरे-धीरे परमाणु भी प्रोटोन और न्यूट्रोन से बना है। इस तरह माक्स का कहना है कि (१) प्रत्येक इकाई में दो बिरोधी तत्व निहित होते हैं तथा (२) ये बिरोधी तत्व एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। पूँजीवादी समाज में हम अर्थिक धीरे-धीरे पूँजीपति से बिरोधी बर्ग पाते हैं, परन्तु इनमें से कोई भी बर्ग बिना दूसरे बर्ग के विकास नहीं कर सकता। पूँजीपति के लिये अर्थिक आधारयक है जिसमें कि वे उनका धोखा कर सकें धीरे-धीरे अर्थिक के लिये पूँजीपति आधारयक है जिसमें वे अपना धन पूँजीपति की सेवा सकें।

(घ) विरोध के विरोध का नियम—इस नियम को हम बाद-विचार प्रतिबोधिता से समझ सकते हैं। बाद-विचार प्रतिबोधिता में पहला भाषणकर्ता अपने विचार मंथन या बाद रखता है। दूसरा उसका प्रतिवाद करता है। तीसरा भाषणकर्ता इन दोनों के विचारों का सामंजस्य करता है या दूसरे दब्धों में वह प्रतिवाद का प्रतिवाद करता है। तीसरे भाषणकर्ता के विचार पहिले दो भाषणकर्ताओं के विरोधी विचारों के सामंजस्य के कारण पहिले विचारों से अधिक उच्च और परिष्कृत होते हैं। चौथा भाषणकर्ता तीसरे भाषणकर्ता का प्रतिवाद करता है। इस प्रकार तीसरे भाषणकर्ता का सामंजस्यता बाद बन जाती है और उसका फिर विरोध होता है। पाँचवाँ भाषणकर्ता तीसरे और चौथे का समन्वय करता है और उसके विचार तीसरे भाषणकर्ता से अधिक विकसित होते हैं।

इस प्रकार विचारों के विकास का कम तिमन चिह्न से दर्शाया जा सकता है।



विचारों के इस विकासक्रम में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) हर बार नौ विचार रने जाते हैं वे पुराने दब्धे विचारों को ले लेते हैं। इसलिये प्रत्येक दब्धस्था पिछली दब्धस्था से प्रकृतिशील है। (२) विचारों की प्रगति यदि इस प्रकार होती रहे तो हम ऐसी दब्धस्था में पहुँच जायेंगे जब उनका विरोध हीना संभव न होया और जब विरोध न होया तो प्रगति भी रुक जायेगी क्योंकि हय पूर्ण दब्धस्था को पहुँच जायेंगे।

यह हम मार्क्स के नैतिकवादी द्वाववाद को अच्छी तरह समझ सकेंगे। मार्क्स ने (१) उत्पादन के साधनों पर उत्पादन संबंध आधारित बताया है (२) उत्पादन के साधन समाज के स्वरूप को निर्मित करते हैं। इसलिये जब एक सामाजिक व्यवस्था में मोज के कारण नये उत्पादन के साधन घाते हैं तो उनमें संघर्ष व्यवस्था और उत्पादन-संबंध बदल जाते हैं। जो सोव उत्पादन के साधन के मासिक होते हैं उन्हें एक नये बर्न का सामना करना पड़ता है क्योंकि वह नया बर्न नये उत्पादन साधनों का प्रयोग अधिक प्रकृती तरह कर

सकता है और इस प्रकार इन दो विरोधी बलों में संघर्ष होता है। ध्यान रखने की बात है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में नये उत्पादन के साधनों में क्रमिक और मात्रिक परिवर्तन ही होता है। परन्तु एक व्यवस्था ऐसी धा जाती है - जब पूर्ण अस्तित्व होती है और समाज नया रूप ले लेता है। यह नया समाज पुराने समाज से अधिक विकसित होता है क्योंकि वह पुराने समाज की सब कमजोरियों को लेकर जन्मता है।

इस प्रकार पुरा मानव-इतिहास पाँच व्यवस्थाओं में से जुड़ेगा। सामंतवाद के आतिरिक्त विरोध के कारण कई पूँजीवादी व्यवस्था आई, जो सामंतवाद से अधिक विकसित व्यवस्था है। समाजवाद इस विरोधी पूँजीवाद का प्रतिवाक करेगा और वह पूँजीवाद की उद्योग व्यवस्था और टेक्निकल ज्ञान को अपनाय लेगा। इस प्रकार विकासवादी इत्बात्मक वासावादी सिद्धांत है। यह बात

### भौतिक दृष्टिकोण

आर्थिक नियंत्रण + इ बचक

इ बचक नियम

(१) मात्रा का बुरा में परिवर्तन।

(२) प्रत्येक तत्व में विरोधी तत्व।

(३) विरोध का विरोध।

समाज का परिवर्तन क्रम—

आदिम साम्यवाद—बास प्रवा—

सामंतवाद—पूँजीवाद—समाजवाद

और साम्यवाद।

प्रत्येक व्यवस्था पिछली व्यवस्था

से अग्रगामी।

और वे अमीबार के बास न होते थे। (४) आधुनिक युग में पूँजीपति का बेबस उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व है। श्रमिकों पर नहीं। यद्यपि श्रमिकों की पूँजीपति के काम करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। (५) साम्यवादी व्यवस्था में श्रमिक उत्पादन के साधनों के मालिक होंगे और पूर्ण स्वतंत्र होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यवस्था पहिली व्यवस्था से अग्रणी है

क्योंकि हर धार्मिक धर्म बानी व्यवस्था में उत्पादन और स्वतंत्रता अधिक है, और प्रत्येक व्यवस्था पिछली व्यवस्था के अच्छे तत्वों को धरनाये है।

( ३ )

### वर्ग संघर्ष

वर्ग संघर्ष की चर्चा फ्रांस के कुछ मेसर्सों ने मार्क्स के पहिले की थी लेकिन मार्क्स ने (१) वर्ग संघर्ष को भौतिकवादी दृष्टि का धंग बनाया और इसके आधार पर यह नियम बनाया कि धारे धार का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है, (२) वर्ग-संघर्ष ही समाज में विरोध लाता है और यही परिवर्तन करता है (३) वर्ग विभाजन समाज की उत्पादन व्यवस्था पर प्रभुत्व है और (४) वह वर्ग संघर्ष मजदूरों की लानायाही और अंत में वर्ग विहीन समाज की स्थापना करेगा।

प्रारम्भ में प्रत्येक मनुष्य के पास उत्पादन के साधन थे, परंतु धार्मिक-युग में ही एक समय ऐसा आया जब उत्पादन के साधनों को कुछ लोगों ने हथिया लिया इसलिए समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया—(१) जिनके पास उत्पादन के साधन थे और (२) जिनके पास केवल धरना था।

इस प्रकार उत्पादन के साधन उत्पादन संबंधों को निर्दिष्ट करते हैं। उत्पादन सम्बन्ध मनुष्य ही शोषक और शोषित के बीच होते हैं। इनका विरोध ही समाज में इन्दारमक नियम के अनुसार परिवर्तन लाता है।

क्योंकि प्रत्येक वर्ग केवल धरने हित को समझता है, इसलिए हम इस वर्ग संघर्ष को या वर्गों को धरने हित साधन के लिये दोषी नहीं ठहरा सकते। वर्ग व्यवस्था समाज का नियम है समाज का धर्म है इसलिए हम इसे परिवर्तित भी नहीं कर सकते और न इसमें संशोधन ही कर सकते हैं। इसी कारण मार्क्स इस बात को नहीं मानता कि कोई भी सरकार या गुणरक इस वर्ग संघर्ष में गुणरक कर सकता है या उसे समाप्त कर सकता है। परन्तु यह वर्ग संघर्ष ही समाज में परिवर्तन कर रहा है। समाज में जब नये उत्पादन के साधन बंधा होते हैं तो उसे नियंत्रित करने वाले या उन्हें गुणरक बन ले बनाने वाले नये धर्मिकों का वर्ग प्रारम्भ होता है। वे गुणरने उत्पादन

साधन के स्वामियों को चुनौती देने लगते हैं, और इस प्रकार समाज की इसी व्यवस्था का जाती है।

यद्यपि कोई भी वर्ग इस वर्ग व्यवस्था से मुक्ति नहीं पा सकता है, क्योंकि वर्ग-व्यवस्था समाज का ही अंग है और भी प्रत्येक वर्ग में वर्ग चेतना है और इस बात की चेतना भी कि सामाजिक परिवर्तन जाने में उसका अपना एक स्थान है।

आज हम पूँजीवादी व्यवस्था में हैं इसलिये वर्ग-संघर्ष पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच में है। श्रमिकों की चेतना दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। बीरे बोरे वह समय आयेगा जब क्रांति होगी और श्रमिकों के हाथ में उत्पादन के सारे साधन आ जायेंगे। इस प्रकार हम और उत्पादन साधन का मेल हो जायगा और यह साम्यवादी व्यवस्था होगी।

चूँकि आज के श्रमिकों के नीचे और कोई श्रमिक वर्ग नहीं दिखाई देता

### वर्ग संघर्ष

और न कोई नये उत्पादन के साधन

दिखाई देते हैं इसलिये साम्यवादी

व्यवस्था में कोई विरोधी शक्ति न

रहेगी। इसमें दो वर्ग न होने इसलिये

समाज का यह अंतिम रूप वर्ग विहीन

होगा।

दो वर्ग—उत्पादन के साधन के स्वामी

उत्पादन साधन हीन।

वर्ग व्यवस्था समाज में विरोध  
साली है परिवर्तन करती है।

वर्ग संघर्ष सामाजिक नियम है,  
इससे बचाव नहीं।

चूँकि इन्व्वाद के नियम के अन्तर्गत

आरे परिवर्तन विरोधी शक्तों के कारण

होते हैं, इसलिये साम्यवादी व्यवस्था

में कोई परिवर्तन न होगा क्योंकि यह बिना किसी विरोधी शक्ति के होगी।

वह समाज की अंतिम अवस्था है।

वर्ग संघर्ष की समीक्षा करते समय हमारे सामने निम्नलिखित बातें आती हैं—

(१) मार्क्स प्रत्येक समाज में केवल दो वर्ग ही बताता है जबकि हमारा अनुभव समाज में कम से कम तीन वर्गों का है। मध्यम वर्ग समाज में स्वायत्त माने जाया महत्वपूर्ण वर्ग है। इसकी चर्चा मार्क्स नहीं करता।

मार्क्स समाज में स्वान के अनुसार कई वर्गों के अस्तित्व को मानता अवश्य है परन्तु इन्व्वाद के नियम की पुष्टि के लिये वह प्रतिवाद के रूप में



केवल दो ही वर्गों को मान्यता देता है और मध्यम वर्ग की या तो उपेक्षा करता है, या उसे मजदूर वर्ग के अन्तर्गत रख देता है।

(२) मार्क्स प्रत्येक वर्ग में एक वर्ग चेतना पाता है। उसका कहना है कि इस वर्ग चेतना के कारण संसार भर के समिक एक ही और वे एक होकर पूँजीपतियों से संघर्ष करते हैं। व्यावहारिक जीवन में हम इस वर्ग चेतना का पूर्ण अभाव पाते हैं। मजदूर-वर्ग में स्त्री और पुरुष कारीगर और साधारण मजदूर, स्वेच जाति तथा अल्प मजदूर में पारस्परिक द्वेष प्रासानी से देखा जा सकता है। उन्नतिशील देशों के मजदूर, जिन्हें धार्मिक पारिवर्तिक मिलता है कभी यह नहीं चाहते कि पिछड़े देशों के कम मजदूरी पाने वाले समिक उनके देश में काम करें। इस

### आलोचना

(१) समाज में दो ही वर्ग नहीं होते।

(२) वर्ग चेतना वर्गों में नहीं होती।

(३) वर्ग संघर्ष भी राष्ट्रीय संघर्ष काल में नहीं दिखाई देता।

(४) वर्ग संघर्ष ही इतिहास का निर्माता नहीं करता।

जिनके संसार भर के मजदूरों में कोई वर्ग चेतना नहीं है।

(१) यह सोचना कि संसार का साध संघर्ष केवल मजदूर और पूँजीपतियों के बीच है बड़ी घाटी भूल है। दो महायुद्धों के अनुभवों से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय संघर्ष में एक राष्ट्र के मजदूर और पूँजीपति एक साथ मिलकर दूसरे राष्ट्र के मजदूरों और पूँजीपतियों का विरोध करते हैं।

(२) यह सोचना कि संसार का साध इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास है, ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्य नहीं। संसार में संघर्षों के कई कारण हैं।

( ९ )

### आलोचना

मौलिकवादी अन्तर्द्वार की आलोचना करने के पूर्व मार्क्स के विचारों को संक्षेप में कुछ देना जरूरी होगा। मार्क्स के अनुसार—(१) समाज में धार्मिक तत्व सबसे महत्वपूर्ण हैं विशेषकर अनादिम के साधन। यही सामाजिक संघर्ष सरकार, विचार, दर्शन साहित्य के स्वरूप को निर्मित करता है।

(२) समाज का साथ परिवर्तन इन्कारत्मक सिद्धान्त पर होता है। वर्ग-सर्वर्ष समाज में बिरोधी तत्व हैं और जब नये उत्पादन के साधन धीरे धीरे मात्रा में बढ़ते जाते हैं, तब एक समय ऐसा आ जाता है, जब नये साधनों का प्रभुत्व हो जाता है और उसके पश्चात् उन साधनों के अनुकूल पूरी सामाजिक व्यवस्था बदल जाती है। इन्कारत्मक विकास सर्वैव उन्नति की ओर प्रयत्न हो रहा है इसलिये नई सामाजिक व्यवस्था पिछली सामाजिक व्यवस्था से सर्वैव श्रेष्ठ है।

(३) अंतिम विकास की व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था होगी जिसमें कोई बिरोधी तत्व न होगे। यह जग बिहीन समाज होगा।

मार्क्स के इस ऐतिहासिक भौतिकवाद में जो जो प्रमुख तत्व हैं, उसमें पहिला तत्व कि समाज में धार्मिक तत्व प्रमुख है बिरोध महत्वपूर्ण है। धार के इतिहासकार भी मार्क्स के इस विचार से प्रभावित हो समाज के अध्ययन में धार्मिक तत्व की महत्ता स्वीकार करन लगे हैं। परन्तु दूसरा तत्व कि परिवर्तन क्रम इन्कारत्मक सिद्धान्त पर आधारित है धार के लेखकों द्वारा ( केवल मार्क्सवादियों को छोड़कर ) महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की इस प्रकार धारोचना की गई है—

(१) इतिहास एक परिवर्तन धारा है जिसमें न तो हमें कोई अंतिम व्यवस्था दिखाई देती है और न कोई अति द्वारा हुए निम्न निम्न परिवर्तनों की व्यवस्थाएँ। मार्क्स ने जो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ बताई हैं वे किसी एक निश्चित समय पर अचानक नहीं आईं। एक व्यवस्था दूसरी व्यवस्था में संकड़ों वर्षों के पश्चात् परिवर्तित हुई है इसलिये मार्क्स की धार प्रतिधार और समन्वयवाद की शर्तों केवल कल्पना मात्र हैं।

(२) इतिहास का क्रम सर्वैव उन्नति की ओर नहीं रहा है। मनुष्य का इतिहास उत्पादन और वतन का इतिहास है।

(३) इन्कारत्मक रीति खतरनाक भी है क्योंकि इसमें हम इस बात को मानकर चलते हैं कि मनुष्य बाह्य शक्तियों का—धार्मिक शक्तियों का—धात है। उसमें इतिहास के क्रम को बदलने की शक्ति नहीं। इसके स्थान धीरे धीरे धार में धारण और नये समाज की कल्पना श्रेष्ठ है।

(४) यदि विचार, विज्ञान धीरे धीरे अस्तित्व धार्मिक व्यवस्था द्वारा बने हैं तो इसका यह धर्म हुआ कि नये उत्पादन के साधन धारसे धार उत्पन्न हुए हैं,

पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मये धार्मिक साधन मनुष्य के मस्तिष्क और विचार द्वारा बनाये जाते हैं।

(२) वास्तव में समाज की रचना विचारों द्वारा होती है। मार्क्स को भी नहीं नहीं इस बात को स्वीकार करना पड़ा है। मार्क्स पूर्ण रूप से यह भी सिद्ध नहीं कर सका है कि धार्मिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था बनाती है। उसने जो भी उदाहरण अपने मत की पुष्टि के लिये दिये हैं—वे केवल धार्मिक समुदायों के हैं जिनके जीवन पर भौतिक बल और प्राकृतिक शक्तियों का बहुत अधिक प्रभाव रहता है।

(३) मार्क्स ने समाज के विकास का कोई वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया और न यह जानने की चेष्टा की कि इस विकास के पीछे कौन तत्व हैं। उसने इतिहास में इतर उतर नहीं भी कोई

प्रमुख धार्मिक तत्व देखा उसे ही उस विकास का कारण बता दिया। एक लेखक लिखता है कि म्यूटन को मुरखा कपल के नियम को खोजने की प्रेरणा सिर पर सैब धिरने से मिली थी क्योंकि उस समय की धार्मिक परिस्थिति के लिए इस प्रकार की खोज आवश्यक थी। वास्तव में इतिहास एक अतिम विषय है और ऐतिहासिक घटनायें कई शक्तियों के परिणामस्वरूप होती हैं। धार्मिक तत्व सबैव ही प्रमुख नहीं होता।

(७) मार्क्स भी धार्मिक व्यवस्था को नहीं बरन् टेकनिक को—प्राच्योपिष्ठा

भौतिक इदवाद को आसोषना

(१) मार्क्स की यह प्रतिवाद समन्वय वाद की व्यवस्थायें कल्पित हैं।

(२) इतिहास उल्लोम्बुकी नहीं है।

(३) इदवाद मनुष्य को भौतिक शक्तियों का बल समझता है।

(४) धार्मिक साधन विचारों से उत्पन्न होते हैं।

(५) समाज की रचना विचारों से होती है।

(६) इदवाद धार्मिक है।

(७) मार्क्स प्राच्योपिष्ठा को महत्ता देता है धार्मिक व्यवस्था को नहीं।

को—महत्त्वपूर्ण मानता है भिन्न प्राच्योपिष्ठा धार्मिक व्यवस्था नहीं। इस दृष्टि से उसका दृष्टिकोण और भी सीमित हो जाता है।

तब बात तो यह है कि मार्क्स और एन्ड्रियु धन्य तत्वों की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं। एन्ड्रियु ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यदि अपने धार्मिक तत्व को महत्ता दी है तो इदवाद इसलिए कि उसके समय में इस तत्व की उपयोग की जा रही थी।

( ७ )

### प्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स ने भौतिकवादी इन्व्हाल के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (theory of surplus value) की खोज की है। इस सिद्धान्त के मूल विचार उसने इङ्ग्लैंड के धर्मशास्त्रियों से लिए थे। परन्तु अपने विचारों के उपयुक्त बनाने के लिए उसने इङ्ग्लैंड के धर्मशास्त्रियों के विचारों को काफी विकसित किया है।

सबसे पहली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में साक ने यह विचार रखा था कि मनुष्य जब अपना श्रम लगाता है तो उस श्रम के कारण ही वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। इसे हम मूल्य का श्रम-सिद्धान्त कह सकते हैं। रिकार्डों ने इसी सिद्धान्त को अपनाते हुए यह कहा था कि किसी वस्तु की कीमत उस पर खर्च किये गये श्रम के बराबर होती है। लासाल (Lassalle) ने मजदूरी के लौह नियम (Iron Law of wages) की खोज की थी जिसके अनुसार किसी श्रमिक की मजदूरी उसके जीवन-निर्वाह के खर्च के बराबर होती है।

मार्क्स इन विचारों के आधार पर यह नियम बनाता है कि समान श्रम वाली दो वस्तुओं की विनिमय दर समान होगी अर्थात् यदि दो वस्तुओं के बनाने में समान श्रम खर्च हुआ है, तो उनका विनिमय हो सकता है। इस प्रकार मार्क्स ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त को वस्तु के विनिमय से सम्बन्धित किया।

धर्मशास्त्रियों ने वस्तु के मूल्य को उस पर व्यय किये गये श्रम शक्तों की मात्रा के बराबर बताया था। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता था कि एक पूँजीपति जब किसी मजदूर को काम पर लगाता है और बितने बड़े बड़े काम करता है यदि उसने ही मूल्य की वस्तु का वह उत्पादन करता है तो पूँजीपति को इस श्रमिक को काम पर लगाने से क्या फायदा हो सकता है। इसलिये मार्क्स ने लासाल के सिद्धान्त को अपनाते हुए यह कहा कि पूँजीपति श्रम को नहीं श्रम शक्ति को खरीदता है, और श्रम-शक्ति स्वयं एक वस्तु है इस लिये उसका मूल्य उसने बंटों की मजदूरी है जिससे मनुष्य अपना श्रम और अपने कुटुंब का निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार पूँजीपति श्रम का मूल्य अर्थात् जीवन निर्वाह के लिये मजदूरी (Subsistence wages) देकर श्रम-शक्ति खरीदता है।

श्रमिक में अपनी जीविका-निर्वाह के लिये आवश्यक श्रम से अधिक

अम करने की अमता होती है। इसलिये पूँजीपति अधिक अम कराके अपनी नाम करता है। उदाहरण के लिए एक मजदूर पाँच घण्टे काम करके अपनी जीविका निर्वाह के लिये बग उत्पन्न कर लेता है। पूँजीपति जसते इस घंटे काम लेता है और उसे केवल पाँच घण्टे के अम के बराबर अर्थात् उसकी अम-शक्ति का मूल्य चुकाता है। जो पाँच घण्टे मजदूर प्रतिरिक्त काम करता है इस प्रतिरिक्त मूल्य को पूँजीपति अपने पास रख लेता है। यह प्रतिरिक्त मूल्य पूँजीपति का मुनाफ़ा है। यह प्रतिरिक्त मूल्य अर्थात् पाँच घण्टे का प्रतिरिक्त कार्य अर्थात् अम का शोषण है, क्योंकि यद्यपि उसने अधिक कार्य करके नई वस्तु का उत्पादन किया है परन्तु उसका मूल्य अर्थात् को नहीं मिलता। व्यवहार में अर्थात् को मुद्रा में मजदूरी मिलती है, इसलिये हम इस परिस्थिति को ठीक ठीक नहीं समझ पाते कि मजदूर को अपने अम के लिए कितना दिया गया है और उसे कितना अम दिया कीमत मिले करना पड़ता है। आइम-स्मिथ ने इस प्रतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का संकेत अपनी पुस्तक में किया है, परन्तु इसको स्पष्ट करने का श्रेय मार्क्स को ही है।

अम-शक्ति को मात्र अस्विर पूँजी कहता है। पूँजीपति इस अस्विर पूँजी को मशीन कच्चे माल आदि अस्विर पूँजी (Constant capital) के साथ लगाता है, परन्तु मार्क्स के अनुसार केवल अस्विर पूँजी ही मूल्य निर्मित करती है। यदि हम सोना चांदी आदि धर्म्य वस्तुओं को मूल्यवान समझते हैं तो केवल इसलिये कि उनमें मूल्य की लक्षणा है। वास्तव में उनका वर्तमान मूल्य कुछ भी नहीं। ध्यान रखने की बात है कि व्यवसायी किसी वस्तु का मूल्य भूमि (कच्चा माल) अम पूँजी और संयंत्र पर आधारित बताते हैं, परन्तु मार्क्स केवल अम को ही मूल्य का कारण मानता है और धर्म्य वस्तुओं को कोई महत्त्व नहीं देता।

क्योंकि प्रतिरिक्त मूल्य से ही मुनाफ़ा बनता है इसलिये अस्विर पूँजी और अस्विर पूँजी के अनुपात पर मुनाफ़े की दर प्रभावित होती है। इसलिये ज्यों-ज्यों औद्योगिकरण होता नई नई मशीनें आरंभ की जाती हैं कम अर्थात् को काम पर लगाया जानेका। अर्थात् की संख्या जैसे जैसे कम होती जाती जाती है अर्थात् पूँजीपति का मुनाफ़ा भी कम होता जायेगा।

प्रतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त से मार्क्स तीन नियम निर्यातता है—

(१) श्रम की पूँजी के संयंत्र का नियम

पूँजीपति धर्म्य पूँजीपतियों से प्रतिपत्ति करता है, और वह अधिक

वस्तुओं के निर्माण करने के लिये ऐसी मशीनें खरीरता है जिनसे कम की बचत हो। लेकिन श्रमिकों के कम होने से उसके मुताफे का अनुपात कम हो जाता है। स्वाधी पूंजी का यह संक्रम पूंजीपति किसी मनोवृत्ति के कारण नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था के नियमों से बाध्य होकर (जिनसे वह बच नहीं सकता) करता है।

(२) पूंजीपतियों की संख्या में कमी का नियम

पूंजीपतियों की प्रतिभोगिता के कारण छोटे-छोटे पूंजीपति समाप्त होते जायेंगे क्योंकि वे बड़ी-बड़ी मशीनें स्थापित नहीं कर सकते और इस तरह एक पूंजीपति कई पूंजीपतियों को समाप्त करता है ( 'One capitalist kills many' )। छोटे-छोटे पूंजीपति श्रमिकों की श्रम में घा बाते हैं। इस प्रकार पूंजीपतियों की संख्या दिन प्रतिदिन कम होती जाती है और श्रमिकों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती है।

(३) मजदूरों की कुर्बत वृद्धि का नियम

पूंजीपति अपने कम होने हुए मुताफे को पूरा करने के लिये श्रमिकों से और अधिक बड़े काम लेना प्रारम्भ करता है और इस प्रकार श्रमिक या सर्वहारा वर्ग की अवस्था दिन प्रतिदिन खराब होती जाती है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

श्रमिक श्रम वस्तु का मूल्य बनाता है।

रिचार्जों श्रम = मूल्य।

लाभान्तः मजदूरी का लौह नियम।

मार्क्स श्रम = विनिमय दर

श्रम शक्ति = जीवन निर्वाह

की मजदूरी

अतिरिक्त मूल्य = पूंजीपति

का लाभ

(१) ज्यों २ नई मशीनें भाँसेनी कम

मजदूर श्रम कर लेंगे और

मुनाफा कम होता जायेगा।

इन नियमों के कारण सर्वहारा वर्ग अपनी सुरक्षा के लिए अपना संगठन बनाते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में एक ही फेक्टरी में बहुत से मजदूर एक साथ काम करते हैं जिसके कारण संगठन करने में सुविधाएँ मिलती हैं।

पूंजीवाद की व्यवस्था जब पूर्ण विकसित हो जाती है तो हमें पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों में दो स्पष्ट वर्ग दिखाई देने लगते हैं जिससे वर्गसंघर्ष

तीव्रतम हो जाता है और सर्वहारा वर्ग शक्ति करके इस पूरी व्यवस्था को नष्ट कर देता है। इस प्रकार मार्क्स अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त के आधार पर शीतल व्यवस्था के नियम की पुष्टि करता है।

प्रतिरिक्त मूल्य का विद्यालय मार्क्स के वर्धन का प्रमुख सिद्धान्त है। इसके

- (२) इतलिये पूँजीपतियों की संख्या कम होती जायेगी। धारण पर ही यह समाज को क्षोभित और क्षोभक बलों में विभाजित करता है और यह बताता है कि समाज में क्षोभण कार्य किस तरह होता है।
- (३) मजदूरों की कुपंति दिन प्रतिदिन बढ़ती जायेगी। पर मार्क्स के इस सिद्धान्त में कई कम संघर्ष तीव्र होना और क्षति भूनों है। प्रसिद्ध भ्रमंशास्त्री कील्ट का होना है कि मार्क्स के धार्मिक सिद्धान्त न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य हैं, बल्कि धार्मिक युग में उनका कोई मूल्य नहीं है। वेपर लिखता है कि बाउ कैपिटल के धार्मिक सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले धर्म्याय निम्न कोटि (dullard) के हैं —

मार्क्स के सिद्धान्त में हमें निम्नलिखित मूल्य दिखाई देती हैं —

(१) कम अकेला ही कोई मूल्य नहीं बना सकता। बिना पूँजी के कम का कोई धर्म नहीं।

(२) धार्मिक धर्म बिना क्षमति के पूँजीपतियों से उचित मजदूरी पा सकता है। धार्मिक युग में राज्य और मजदूरों के संगठन ने पूँजीपतियों को उचित वेतन दर और कार्य के बँटे निर्दिष्ट करने को बाध्य किया है।

(३) मार्क्स के अनुसार मजदूरों की कुपंति दिन प्रतिदिन बढ़ती जायेगी। लेकिन मार्क्स की यह भविष्यवाणी मजदूरों को मजदूर नहीं है, क्योंकि १९वीं शताब्दी की अनेक घात का मजदूर धार्मिक सुधी है।

(४) पूँजी भी कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित नहीं हो रही है। ज्वार्ट स्टोक कम्पनियों में सांभेरारियों की संख्या बढ़ जाने से पूँजी समाज के बहुत से लोगों में बिखरित हो गई है।

(५) छोटे-छोटे पूँजीपति या व्यापारियों की संख्या भी कम नहीं हो रही है। कहना तो यह चाहिए कि नये व्यापार और उद्योगों को तुलने से उनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

(६) मार्क्स ने इस सिद्धान्त के द्वारा वैज्ञानिक तरीके से जो यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि समाज में केवल दो ही वर्ग रह जायेंगे उसकी यह कोशिश भी विफल होती दिखाई देती है, क्योंकि न केवल मध्यम-वर्ग की स्थिति

मजदूर हो गई है बरन् उद्योग के क्षेत्र में घात मनेजर, दस दिल्ली, सत्ताह कार, आदि के रूप में नये बर्गों का भी जन्म हुआ है।

(७) प्रतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह भूमिजों की बढ़ती हुई कुर्मति को माँग और पूर्ति के नियम द्वारा स्पष्ट कर सकता था।

मार्क्स के इस सिद्धान्त से धनस्य

### भासोचना

- (१) बिना पूर्वी भ्रम मूल्य नहीं बना सकता।
- (२) व्यक्ति शक्ति रीतियों से कुर्मति से बच सकता है।
- (३) न तो मजदूरों को हालत बिल प्रतिरिक्त बिगाड़ रही है न पूर्वी-पत्तियों की संख्या कम हो रही है और न पूर्वी क्षेत्रित हो रही है।
- (४) मध्यम बर्ग शक्तिशाली हो रहा है।
- (५) मार्क्स प्रतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त बिना अपने बिचार रख सकता था।

ही कुछ बातें स्पष्ट हुई हैं। उसका बिस्लेषण भले ही ठीक न हो परन्तु उसने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूर्वीवादी व्यवस्था में कुछ मूलमूल बिरोध हैं। मशीनों के बढ़ जाने से एक ओर वस्तुओं का उत्पादन अधिक हो जाता है—बूझी ओर मजदूरों में वस्तु खरीदने की शक्ती न होने से उन वस्तुओं के बाजार बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार देश में प्राबिक संकट घा जाते हैं। प्रांतिक प्राबिक संकटों से बचने के लिये पूर्वीपति बिदेष्टों में बाजार डू डूते हैं, बिसे घन्तरीप्रीम संकट घाते हैं, और समाज की सुरक्षा का प्रयत्न बढ़ा हो जाता है।

मार्क्स के प्रतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का धर्मशास्त्रियों की दृष्टि में कोई मूल्य भये ही न हो परन्तु राजनीतिक और सामाजिक भारे के रूप में इसका बड़ा प्रभाव रहा है। मैक्सबिस्मर का ये कहना ठीक ही है कि अपने प्राबिक सिद्धान्त में मार्क्स मुख्यतया धर्मोत्थनकर्ता (agitor) है।

( ८ )

### राज्य

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में मार्क्स का बिचार है कि जिस बर्ग के पास उत्पादन के साधन हैं जन्मीं क पास स्वतंत्रता होती है और उत्पादन के साधनों को सुरक्षित रखने के लिये के समाज के दूसरे बर्ग पर श्रमन कार्य



करते हैं, और इस समन कार्य के लिये उन्होंने राज्य का निर्माण किया है । इस प्रकार समन और बल प्रयोग राज्य के सत्तण हैं । ज्यों २ नई सामाजिक व्यवस्थाएँ घाती हैं, त्यो २ राज्य का यह समनकारी रूप स्पष्ट होता जाता है ।

“बर्ग संघर्ष की अधिक उपतिष्ठीत व्यवस्था में जो प्रत्येक क्रान्ति के पश्चात् घाती है, राज्य का यह समनकारी विपुल स्वरूप अधिक स्पष्ट दिखाई देता है ।”

पूँजीवादी समाज में पूँजीवादियों ने राज्य की सारी संस्थाओं पर अपना नियंत्रण कर रखा है । राज्य इन पूँजीपतियों के हितों का पोषक है । इसलिये अन्तिम क्रान्ति के पश्चात्, जब सर्वहारा बर्ग उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर सेवा ठग नई सामाजिक व्यवस्था बनेगी ।

### सर्वहारा बर्ग की तानाशाही

नई सामाजिक व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जायेगी और उत्पादन के साधनों का समाधीकरण हो जायेगा परन्तु पूँजीपति भाषाणी से अपने अधिकारों को छोड़ने वाले नहीं । इसलिये उनका समन करने के लिये सर्वहारा बर्ग की तानाशाही स्थापित की जायेगी । यह तानाशाही समन कार्य करेगी और इस प्रकार इस तानाशाही में राज्य का स्वरूप बना रहेगा । परन्तु यह समन पूँजीवादी व्यवस्था के समन से भिन्न होगा । इसमें बहुसंख्यक सर्वहारा बर्ग अल्पसंख्यक पूँजीपतियों पर समन करेगा । इसलिये पूँजीवादी राज्यों की तुलना में यह राज्य अधिक प्रजातन्त्रिक होगा । पूँजीवादी प्रजातन्त्र को मार्क्स प्रजातन्त्र नहीं कहता क्योंकि उसका कहना है कि जिस समाज में दो बर्ग हों, और अल्पसंख्यक बर्ग बहुसंख्यक बर्ग का समन करता हो, वही प्रजातन्त्र कैसे हो सकता है । नये समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम के अनुसार वस्तुएँ मिलेंगी व किसी भी प्रकार का शोषण न होगा । परन्तु यह समाज का अन्तिम विकास नहीं है । यह समाजवादी व्यवस्था है अन्तिम व्यवस्था साम्यवादी होती ।

### साम्यवादी व्यवस्था

समाजवादी व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था में अपने प्रायः प्रसफूर्ति हो जायेगी । कुन्ति समाजवादी व्यवस्था में कोई विरोध नहीं है । इसलिये समाजवादी व्यवस्था का यह परिवर्तन क्रान्ति के द्वारा नहीं होगा । इस व्यवस्था में

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही समाप्त  
राज्य

पुंजीपतियों ने मजदूरों का हमला करने  
के लिये ही राज्य बनाया है।

इसलिये क्रांति के पश्चात् सर्वहारा  
वर्ग को तानाशाही बनेगी जो अधिक  
प्रजातांत्रिक होगी।

यह तानाशाही साम्यवादी व्यवस्था  
में बदल जायेगी जो राज्य और वर्ग  
बिहीन होगी।

समाज की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है।

हो जायेगी, राज्य समाप्त हो जायेगा  
वर्ग समाप्त हो जायेगे। इस प्रकार  
साम्यवादी व्यवस्था राज्य-बिहीन वर्ग  
बिहीन—पुंजी स्वतन्त्रता की व्यवस्था  
है। इस साम्यवादी व्यवस्था में प्रत्येक  
मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार कार्य  
करेगा और प्रत्येक मनुष्य अपनी  
आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ  
पायेगा।

मार्क्स ने राज्य के विहीन होने  
के क्रम का और इस साम्यवादी धारणा

( २ )

मार्क्स की रचना

मार्क्स धार्मिक युग का महान् दार्शनिक माना जाता है। संसार में और  
किसी अन्य दार्शनिक के विचार न तो इतने आधिकारी हुए हैं, और न इतने  
प्रभावपूर्ण। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करने वालों की संख्या दिन प्रति  
दिन बढ़ती जा रही है, क्योंकि इसने धर्मियों को एक मजा नाच दिया  
और एक नई सामाजिक व्यवस्था का चित्र उपस्थित किया। पूर्ण रूप से  
बैज्ञानिक न होते हुए भी इसने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक ढंग से रखने का  
प्रयत्न किया और इसके अनुयायी इस सिद्धान्त को पूर्ण वैज्ञानिक मानते हैं।  
१९वीं शताब्दी में जब लोग निरंतर उत्पत्ति की मानना विज्ञान की महानता  
में विश्वास करते थे जब धर्मियों की व्यवस्था दिन प्रतिदिन खराब होती  
जा रही थी उस समय मार्क्स नये धर्म के परिवार के रूप में प्रकटित हुआ,  
और उसने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक प्रगतिवादी और धर्मियों की जनता  
कुबंति से छुड़ाया देने वाला सिद्धान्त बताकर समाज में एक नई चेतना पैदा  
करदी। उसका यह नाच "विश्व के धर्मियों एक हो जाओ, तुम्हें अपने  
बंधनों के सिवा और कुछ नहीं खोना है" नये समाज के लिये बड़ा प्रभावशाली  
बन गया।

मार्क्स के सिद्धान्त में कुछ त्रुटि हैं परन्तु मार्क्स की महामता इसमें है कि वह माबी समाज के विकास-मय को समझ सका। उसने उन महत्वपूर्ण तत्त्वों को स्पष्ट किया जो उसके समाकालीन दार्शनिक न देख सके थे। वह प्रथम दार्शनिक था जिसने—

(१) व्यापारिक चक्र (Trade cycle), अर्थात् उत्पादन और बिक्री में संबंध देखा

(२) यह बताया कि औद्योगिक व्यवस्था इतनी बढ़ जायेगी कि उसे राष्ट्र की सीमाओं के बाहर जाकर अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ढूँढना पड़ेगा

(३) व्यापार की मात्रा के आधार पर राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय, या राष्ट्र की आवश्यकता को धरती बताना अनुचित समझा

(४) यह स्पष्ट किया कि पूँजीवादी व्यवस्था से मजदूरों का संघर्ष बढ़ेगा

(५) औद्योगीकरण से सामाजिक संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे, और

(६) ऐतिहासिक प्रक्रमण में धार्मिक तत्व का महत्वपूर्ण स्थान है।

मार्क्स के विचारों में कुछ त्रुटि हैं, जिन्हें हम पहले ही विभिन्न धीरे-धीरे के अन्तर्गत स्पष्ट करते जायेंगे। फिर भी कुछ प्रमुख त्रुटियों को इंगित देना आवश्यक है।

(१) उसके धार्मिक निवृत्तिवाद के अनुसार मनुष्य उसका समाज और उसकी संस्कृति धार्मिक शक्तियों की बाध है। परन्तु बात ठीक नहीं है। प्रजिस्स का यह कथन किटना प्रमथुलं मान्य होता है कि यदि नेपोलियन पैदा नहीं हुआ होता तो धार्मिक व्यवस्था ऐसी भी कि उसका कार्य करने के लिये कोई दूसरा व्यक्ति पैदा होता। सब बात यह है कि मनुष्य धार्मिक व्यवस्था का बाध नहीं है।

(२) मार्क्स का कहना कि धार्मिक स्थिति ही समाज में प्रतिष्ठा देती है ठीक नहीं। महात्मा गांधी ईसा मसीह नुरुदात कोई पूँजीपति न थे फिर भी उनका समाज में महान् स्थान है।

(३) धारम के अनुसार समाज दो वर्गों में बँटा है, और कोई व्यक्ति अपना वर्ग नहीं बदल सकता। परन्तु धारम के समाज में व्यक्ति निम्न वर्ग से

मध्यम वर्ग में और मध्यम वर्ग से उच्च वर्ग में जाने का प्रयत्न करता रहता है। वर्ग-व्यवस्था स्थायी नहीं अधिक परिवर्तनक है।

(४) मार्क्स ने जो इतिहास में चार सामाजिक व्यवस्थाएँ बताई हैं वे क्रान्तिक हैं क्योंकि एक व्यवस्था के समाप्त होने और दूसरी व्यवस्था के पैदा होने में घटावियों का समय लगा है। फिर धनही व्यवस्था सबसे ही निम्नली व्यवस्था से घटती नहीं रही है। ग्रीक और रोम की नभ्यता की तुलना में सामंतवादी व्यवस्था बड़ी निम्न स्तर की थी। मार्क्स जिस प्रारम्भिक साम्यवाद की बर्ण करता है धातुनिक मानव शास्त्र (Anthropology) उसकी पुष्टि नहीं करता।

(५) यदि प्रौढिक साम्य ही इतिहास निर्मित करते हैं तो सारे सकार में एक छात्र ही यह सामाजिक व्यवस्था क्यों नहीं आई और पूँजीवादी व्यवस्था केवल योरोप में ही क्यों है? अन्य देशों में क्यों नहीं?

(६) मार्क्स ने विचार, दमन और मनोवैज्ञानिक तत्वों की पूर्ण व्यवहेतना की है।

इन दोषों के होते हुए भी मार्क्स ने न केवल धातुनिक राजनीतिक दर्शन को बल्कि राजनीतिक संगठनों व्यवहारों और राजनयिक सम्बन्धों को प्रभावित किया है। उसने राजनीति को एक नया अन्वेष दिया है।

## टामस हिल ग्रीन

( १८३६ - १८८२ )

- |   |  |
|---|--|
| (१) जीवन और समकालीन परिस्थितियाँ ।      | (२) सामाजिक नियमन और स्वतन्त्रता ।           |
| (३) मानव प्रकृति और राज्य ।             | (४) स्वतन्त्रता ।                            |
| (५) अधिकांश ।                           | (६) संयुक्तता ।                              |
| (७) राज्य का प्रसार इच्छा है, बल नहीं । | (८) राज्य के कार्य इच्छा सिद्धान्त ।         |
| (९) राज्य का विरोध करने का अधिकार ।     | (१०) जीवन अधिकार, बुद्धि और विस्मय नैतिकता । |
- (११) जीवन का स्वाम ।

( १ )

### समकालीन परिस्थितियाँ

ग्रीन वॉलिंगटन के रेक्टर के पुत्र थे उनकी सिला वॉलिंगटन के नियमित कामेज में हुई थी । १८०८ में वे वॉलिंगटन विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए । इस पर से उन्होंने जो भावण दिये वे उनकी मृत्यु के पश्चात् "प्राचीनविद्या के अन्वित" और "प्रिन्सिपल्स ऑफ पोपेटिफन ग्राम्पी गेगन" नामक पुस्तकों में प्रकाशित हुए । "ग्रीन के राजदर्शन संबंधी विचार बुद्धी पुस्तक में ही मिलते हैं ।

ग्रीन ने राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति में भी थोड़ा बहुत भाग लिया था विशेषकर गिटा प्रसार और मद्रासकी के ग्राम्पीनियों में । १८८१ में

मध्यम के धबधर पर उन्होंने जो मापण दिए थे "लिवबर्स घोन सिवरेल सेबिस्तेशन एण्ड प्रीवम प्रांक बाम्पु बट" के नाम से प्रसिद्ध है। इन व्याख्याओं के पढ़ने से मानुस होता है कि घोन उदार प्रकृति के व्यक्ति के व्यक्तिवादी सिद्धान्त में विश्वास करते थे परन्तु वे अपने से पूर्व व्यक्तिवादियों के समान

### कृतियाँ

- (१) प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल बाम्पु बट।
- (२) लिवबर्स घोन सिवरेल सेबिस्तेशन एण्ड प्रीवम प्रांक बाम्पु बट।

परिस्थितियों के अनुसार इ ब्लैक के उदारतावादी सिद्धान्त (Liberalism) में परिवर्तन कर उन्होंने इस सिद्धान्त को नई परिस्थितियों में भी लागू बताया।

### घोन की समाजशास्त्रीय परिस्थितियाँ

घटाएकी घटाएकी के अन्तिम वर्षों में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह विचार बारा प्रमट हुई कि यदि राज्य हस्तक्षेप न करे तो व्यक्ति प्राबिक जीवन में बड़ा विकास कर सकता है। उन दिनों प्राबिक जीवन को नियंत्रित करने के निचे सारे यूरोप में बहुत से नियम पाये जाते थे जिनके कारण प्राबिक विकास संभव न था। इसलिये 'व्यक्ति को छोड़ दो' (लैसेफेयर) का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। इ ब्लैक में 'आनंताज' को समाप्त करने के आन्दोलन बने। प्राबिक व्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन के लिए स्पेसर ने बैज्ञानिक तथा मिस ने नैतिक तर्क उपस्थित किये थे। इन सब का बैज्ञानिक विचार यह था कि व्यक्ति अपना हित जानता है अपने कामों से अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है इसलिए व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए और राज्य को व्यक्ति के कार्य में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। परन्तु १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणाम स्पष्ट होने लगे। उद्योगपतियों की स्वतन्त्रता में श्रमिकों की स्वतन्त्रता देना व्यर्थ था। श्रमिकों की हालत दिन प्रतिदिन बराबर हो रही थी। परन्तु व्यक्तिवादी सिद्धान्त अभी भी राज्य के हस्तक्षेप को पूर्ण समझता था। एक नये दर्शन की आवश्यकता थी जो न्याय के

मुषारों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक बताते। मिस की कृतियों में हमें इस परिवर्तन का संकेत मिलता है परन्तु मिस में समाजवादी प्रवृत्ति होती हुए भी समाज का ध्यान निजी महत्त्व नहीं दिलाता। वह व्यक्ति को ही अपने विचार का केन्द्र मानता है और राज्य को केवल व्यक्तियों का समुह मान।

१८७० ईसवी में इंग्लैंड में सिरी डेयर सिद्धान्त को छोड़ सामाजिक नियमन अपनाया।

सामाजिक नियमन स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक था।

जिसा जितके द्वारा ही स्वतन्त्रता की रक्षा हो सकती है। उसमें एक सामाजिक पूर्णता के विचारों का समापन है जिसके द्वारा ही राज्य और व्यक्ति का विरोध हटाया है।

नई परिस्थिति में काम के घंटे सीमित करने मजदूरों का बैठक निश्चित करने और फ़र्शियों पर स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामाजिक नियमन आवश्यक था। इस नये युग में वैदिक नियमन स्वतन्त्रता के लिए उतना ही आवश्यक था जितना १८१० में समाज संबंधी नियमों (social laws) को हटाना। इसलिए १८७० में राज्य ने धर्मियों के हित में नियम बनाने प्रारम्भ कर दिये। ये नियम स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक समझे गये परन्तु हम परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल कोई रचना न था। यह रचना प्रीन ने किया।

( २ )

नियम और स्वतन्त्रता

सामाजिक नियमन पुराने व्यक्तिवादी विचारों के विरुद्ध है परन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रत्येक उद्योगवादी इनकी आवश्यकता मानता है। इसलिए प्रीन ने उद्योगवादी सिद्धान्त और व्यवहार में धार्मिकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। प्रीन व्यक्तिवादी ही है वह वह नई परिस्थितियों के अनुकूल अस्थापित व्यक्तिवाद देता है। सेवेडेयर से वह सामाजिक नियमन

की घोर धावसंचारी सिद्धान्त के सहारे बाठा है और समाज को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पीपक मानता है।

प्रीम का कहना है कि पुराने 'व्यक्तिवादी विचारक सामाजिक नियमन के विरुद्ध हैं क्योंकि उससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित होती है। इसलिए वे समाज द्वारा किये गये सुधारों के भी विरुद्ध हैं। इसमें संदेह नहीं कि व्यक्तिवादी विचारधारण के प्रारम्भिक वर्षों में नियमों का विरोध करना आवश्यक था, क्योंकि इन नियमों से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सीमित होती थी। परंतु धार्मिक के युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए सामाजिक नियमन आवश्यक है। इसलिए पुरानी व्यक्तिवादी विचारधारण धार्मिक के लिये उपयुक्त नहीं है। व्यक्तिवादी विचारधारण से केवल पूँजीपति वर्ग का हित साधन हुआ है, सर्वसाधारण का नहीं। वास्तविक स्वतन्त्रता का धर्म होता है—अपना रास्ता स्वयं चुनना। परंतु पूँजीवादी समाज में यदि केवल यही रास्ते हैं—कम बेटन पर काम करना या मूर्खों मरना तो हममें किसी रास्ते को चुनना व्यक्ति के विकास या उसकी स्वतन्त्रता के लिये बाधक है।

प्रीम सिद्धता है कि सही धर्मों की स्वतन्त्रता मानव को सबसे बड़ी देन है—धीरे स्वतन्त्रता को प्राप्त करना प्रत्येक नागरिक का सही उद्देश्य भी है। परंतु स्वतन्त्रता का धर्म केवल नियंत्रण से मुक्ति पाना नहीं है—धीरे न स्वतन्त्रता का धर्म है—स्वच्छ या मनचाहूँ कार्य करना। साथ ही हम उसे भी स्वतन्त्रता नहीं कह सकते—जब एक व्यक्ति या कोई वर्ग दूसरे की स्वतन्त्रता की बलि देकर स्वतन्त्रता का उपयोग करे। हम उसी स्वतन्त्रता को मूल्यवान मानते हैं जिससे हमें उस काम को करने की सुविधा मिले उन क्षमताओं को बढ़ाने की सुविधा मिले जो मनोप्योचित हैं जो मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। इसलिए हमारे काम दूसरे मनुष्यों के कार्यों से संबंधित हैं। 'स्वतन्त्रता से हमारा धर्म उस व्यक्ति से होता है जो प्रत्येक मनुष्य को दूसरों की सहायता या धर्म साधियों द्वारा की गई सुरक्षा द्वारा मिलती है—धीरे जिसके द्वारा वह धर्म व्यक्तियों को सुरक्षा देता है'।\* हमें उस समय समाज की स्वतन्त्रता में वृद्धि मानते हैं जब प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक धीरे धरणी भलाई करने की शक्तियों में वृद्धि होती है। यदि यह व्यक्ति कुछ लोगों के पाम ही होती है,

We mean by it a power which each man exercises through the help or security given him by his fellow men and which he in turn helps to secure for them.



तो इसे हम स्वतन्त्रता नहीं कह सकते क्योंकि घम्य व्यक्तियों को सामाजिक भलाई में अपना योग देने का अवसर नहीं रहता ।

इस प्रकार स्वतन्त्रता केवल साधन है और साध्य है सामाजिक क्रमशास्त्र में समान योगदान देने के लिये सबकी शक्तियों को मुक्त करना । इसलिये कोई मनुष्य किसी की संपत्ति नहीं हो सकता और न कोई मनुष्य दूसरे का साधन बन सकता है ।

पुरानी व्यवस्थाओं द्वारा में सामाजिक नियमन का विरोध आवश्यक था क्योंकि सामाजिक नियम व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित करते थे परन्तु पुँजीवादी व्यवस्था में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के लिये सामाजिक नियमन आवश्यक हो गया ।

स्वतन्त्रता का अर्थ है मनुष्योचित समता का विकास करना और सामान्य हित में अपना योग देना ।

अम के पटे निर्धारित करने वाली तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करने वाली विविधा व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित नहीं करती बल्कि मनुष्य को अपनी शक्ति प्रयोग करने की सुविधा देती है ।

‘हमारा धार्मिक निश्चय जो अम शिक्षा और स्वास्थ्य से संबंध रखता है और जिसके कारण हमारे समझौते की स्वतन्त्रता में अधिकाधिक हस्तक्षेप मान्य होता है इस आधार पर म्यान्वोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक प्रवृत्तियाँ बढ़ाना नहीं है फिर भी वह उन परिस्थितियों को बनाता है जिनके बिना मानवीय शक्तियों का स्वतन्त्र रूप से कार्य करना असंभव है ।’\*

\* Our modern legislation, then, with reference to labour and education and health, involving as it does, manifold interference with freedom of contract, is justified on the ground that it is the business of the State, not indeed directly to promote moral goodness, for that from the very nature of moral goodness it cannot do but to maintain the conditions without which a free exercise of human faculties is impossible.

इस प्रकार प्रीन व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिये समाज और राज्य के नियमों को आवश्यक मानता है।

( ३ )

### मानव प्रकृति और राज्य

मीति वर्चन के प्रोफेसर होने के नाते ही प्रीन ने अपने राजनीति वर्चन संबंधी विचार रखे हैं इसलिये प्रीन के राजनीतिक विचारों को हम आचार संबंधी विचारों की पृष्ठभूमि में ही आसानी से समझ सकते हैं। प्रीन व्यक्तिवादी है और व्यक्ति को साम्य मानता है साधन नहीं। उसका आचार न राजनीति संबंधी विचार व्यक्ति से ही प्रारंभ होते हैं।

प्रीन के अनुसार आत्म विकास ही परम मनस या सर्वश्रेष्ठ ध्येय है। आत्मवस्थाएँ वासनाओं और इच्छाओं को बुद्धि के अधीनस्थ करने में है। इसलिये व्यक्तित्व के विकास के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य वासनाओं का मुक्तान न हो बरस इन वासनाओं और माधनाओं का विकास बुद्धि के अन्तर्गत करे।

आत्म विकास समाज के धर्म्य व्यक्तियों के अनिच्छित सहयोग से ही सम्भव है। आदय आत्मा सामाजिक आत्मा भी है। इसलिये व्यक्ति यदि अपना

व्यक्ति साध्य है साधन नहीं।

व्यक्ति आत्म विद्यात धर्मात् विवेक द्वारा वासनाओं का नियमन चाहता है।

आत्म विकास बुद्धि कभीते धार्मिक समुदायों के हित में काम करने से ही होता है।

इसलिये धार्मिक आत्मा सामाजिक आत्मा है और स्वाध और परार्थ में कोई भेद या विरोध नहीं।

एवाकार बुद्धि कभीस मानवता और उनके हितों से कर सके तो वह अपने धान अपने संबंधी व्यक्तित्व से अपने को ऊपर उठा सकता है। इस लिये केवल समाज में ही व्यक्ति आत्म वस्थाएँ प्राप्त करता है। वासना और इच्छा का बीजन निम्न बीजन है। जहाँ मनुष्य वासना का मुक्तान होता है वहाँ मनुष्यों के हितों में विरोध रहता है। जब वे विरोधीय हा पाते हैं तो उनके हित समान हो पाते हैं और व्यक्ति में सामान्य हित की

चेतना हो जाती है क्योंकि विवेक के द्वारा वह हमारे व्यक्तियों में अपना ही

प्रतिबिम्ब देखता है इसलिये नैतिक जीवन बहू है जिससे मनुष्य की उच्च धीर हीन प्रकृतियों का विरोध समाप्त होता है धीर जिसके द्वारा हीन प्रकृति उच्च प्रकृति में बदल जाती है। उच्च प्रकृति बुद्धिमय आत्मा है यह हमें समाज द्वारा ही मिलती है। जिसका ही धार्मिक व्यक्ति अपने स्वार्थ अपनी संकीर्णता का नाश करता है और समाज का धीर और मानवता के साथ एकाकार करता है उसका ही धार्मिक उस उच्च धार्मिक या बौद्धिक आत्मा की प्राप्ति होती है। सर्वश्रेष्ठ वैयक्तिक संभव और उच्चतम सामाजिक संभव स्वार्थ धीर परार्थ में कोई विरोध नहीं दोनों एक है।

इस तरह सामाजिक संस्कारों से माध्यम है जिसके द्वारा हम अपना विकास कर सकते हैं। समाज में रहकर ही हम अपना नैतिक जीवन प्राप्त करते हैं। धीर के बिना बहू बिल्कुल जेटो धीर धरतू के बिना ही मिलते हैं।

पुरु ध्यात विकास एक धारण है। जब मनुष्य की आत्मा परम लक्ष्य प्राप्त कर लेती है तो उसे हम परमात्मा कहते हैं। इसलिये धुरे धरतों में हम यह कह सकते हैं कि ध्यात की पुरुता का प्रथम है मनुष्य के भीतर परमात्मा की धार्मिकव्यक्ति। इसलिये मनुष्य जब विकास के लिये प्रयत्नशील होता है तो इसका धर्म है धमर जेतना (परमात्मा) का उसमें प्राणुर्भाव होता बहू मानव जेतना को सामाजिक संभव का बिचार लेती है जिसमें व्यक्ति अपनी आत्मा का एकाकार समाज के साथ कर सके।

समाज के प्रतिष्ठा को स्वीकार करते हुए ही धीर व्यक्तिपारी ही है। वह विव्रता है कि 'राष्ट्र के जीवन की धानी कोई बास्तविकता नहीं बहू तो राष्ट्र की निमित्त बरने वाले व्यक्तियों का जीवन है।' राष्ट्र की महानता का धपना कोई धर्म नहीं। राष्ट्र की महानता ही धर्म हाता है व्यक्ति की उपरि राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों का विकास। इन प्रकार धीर हीनेम के बिचारों को स्वीकार नहीं करता। हीनेम राष्ट्र को ही परमात्मा का स्वरूप मानता है धीर उसकी धाजा मानने में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्ति का विकास देगता है।

समाज नैतिक इकाई है

प्रथम यह उठ धरता है कि व्यक्ति में ध्यात विकास की मानता बहू है

\*"The life of the nation has no real existence except as the life of the individuals composing it."

पाती है ? और वह समाज में रहकर और समाज के द्वारा यह विकास कैसे कर सकता है ? इन बातों को समझने में धीम अंधो उड़ान वाला तत्व बार्ड निक नहीं है । वह गभीर दयार्थकारी है । वह लिखता है कि प्रत्येक समाज में हम बड़ी प्रवृत्ति देखते हैं । इन्हीं वास्तविक प्रवृत्तियों को देखकर ही हम मनुष्य की सभावनाओं को समझ सकते हैं । "बिना वास्तविक परिस्थितियों के आदर्श संभावना का विचार ही नहीं सकता ।"

व्यक्ति कुटुम्ब में रहता है और हम यह हमेशा देखते हैं कि कुटुम्ब का स्कामी या सभी सदस्य एक दूसरे के कल्याण में सने रहते हैं । प्रत्येक अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता है, प्रत्येक कुटुम्ब के सुख में अपना सुख देखता है । कुटुम्ब के विकास में सबका विकास निहित होता है । यही भावना हमें परिवारों और कबीलों में दिखाई देती है । इसी भावना से सामाजिक नैतिकता का जन्म होता है ।

सामाजिक नैतिकता समाज के रीति रिवाज निम्न एक संस्कारों में व्यक्त होती है और मनुष्य को नैतिक कार्य करने को बाध्य करती है । इस तरह समाज की नैतिकता हमारे पूर्वजों की नैतिक भावना ही है और यह नैतिकता हमें धाने बढ़ने और उच्च होने को प्रेरित करती है । इस प्रकार समाज एक नैतिक इकाई है । सामाजिक नैतिकता के माध्य निम्न समाज के हित में हों हैं और समाज में रहकर मनुष्य अपनी ही इच्छा से यह कार्य करता है बिना किसी समाज उससे आशा करता है इसलिये मनुष्य के कार्यों और समाज के उत्थित में सामंजस्यता रहती है । दूसरे शब्दों में मनुष्य की इच्छा सामाजिक इच्छा द्वारा निरदिष्ट होती है ।

सामाजिक नैतिकता और अपने अनुभवों के आधार पर तथा अपने कार्यों पर चिन्तन कर मनुष्य उन आदर्श कर्तव्यों की धारणा बनाता है जो उससे धारणित हैं । इस प्रकार वह परम संयत वा सामाजिक संयत में अपना कल्याण देखता है । यह धारण ही उसे बताता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिये । वह परम संयत चित्तवात्मा है जिसमें निरक और इच्छा का पूर्ण सामंजस्य होता है । यही परम संयत वा धारण चेतना मनुष्य को धारण विकास या धारण बोन करने के लिए प्रेरित करती रहती है । इसलिये बार्डर लिखता है कि धीम के राजनैतिक विचारों से परे उसका तत्व धारण है और धीम की धारण को धारणा के पीछे एक धारण चेतना ( eternal self consciousness )

धार्म विकास का अर्थ है पर  
मत्मा को अभिव्यक्ति धर्म चेतना  
मानव चेतना को सामाजिक मूल्य का  
विचार देती है ।

व्यक्ति कुटुम्ब के सुख में अपना  
सुख देखता है; कुटुम्ब या समुदायों के  
प्रति कर्तव्य भावना सामाजिक नैतिकता  
बनाती है, जो समाज के रीति रिवाजों  
में व्यक्त होती है । इस तरह समाज  
नैतिक इकाई है ।

सामाजिक नैतिकता पर चिन्तन  
कर मनुष्य धर्म मूल्य की चारखा  
बनाता है ।

नैतिक बाधाकरण को मनुष्य की पूर्व पीढ़ियों का सुफल मानता है । नैतिकता  
स्वयं राज्य की अपनी वस्तु नहीं ।

समाज और व्यक्ति

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की चेतना कुटुम्ब पक्षीय समाज  
और अन्य संस्थाओं की नैतिकता बनाती है । इसी चेतना के द्वारा वह दूसरों के  
लिए काम करने में सतर्क पाता है दूसरों की भलाई में अपनी भलाई समझता  
है । इस नैतिक बाधाकरण में चिन्तन करने से उसे इस सामाजिक नैतिकता के  
आधार पर विद्युत् नैतिकता की भावना प्राप्त होती है इसलिये राज्य और  
समाज स्वयं नैतिक इकाई है साक्ष्य है । इस साक्ष्य का अंग बनकर ही  
व्यक्ति उच्च धारणों की प्राप्ति की चेष्टा करता है । इसलिये व्यक्ति अपने चिन्तन  
तत्त्व के द्वारा इस उच्च धारणों या निरवारणों के साथ एतदा स्थापित कर सकता  
है और पूरुष का अनुभव करता है । यही पूर्णता प्राप्त करना ही धार्म बोध  
धर्म साक्षात्कार या धार्म विकास कहलाता है । चिन्तन तत्त्व के कारण मनुष्य  
कबल अपनी आधुनिक इच्छाओं और भौतिक सुखों से संतुष्ट नहीं होता । वह  
धार्म साक्षात्कार ही में अपनी सर्वश्रेष्ठ भलाई समझता है । इसलिये मनुष्य का  
सर्व प्रयत्न इस उच्च जीवन उस चेतना को प्राप्त करना है जिसे हम ईश्वर

का विचार पाया जाता है जो मनुष्य  
की चेतना को सामाजिक मसाई का  
ज्ञान कराती है ।

इस संबंध में ग्रीन के विचार हीरोस  
से मिलते दिखाई देते हैं । हीरोस के  
अनुसार राज्य नैतिकता की मूर्ति है  
और यही व्यक्ति को नैतिक बनाता है  
ग्रीन के अनुसार भी समाज व्यक्ति को  
नैतिक बनाता है क्योंकि समाज ही  
व्यक्ति की चेतना के सम्मुख इस  
नैतिकता के अन्तर्गत सामग्री  
या वस्तु उपस्थित करता है । हीरोस  
और ग्रीन में अन्तर यह है कि ग्रीन इस

या विश्वासना में पाते हैं। इस प्रकार धीन के तत्व दर्शन की प्रमुख बात यह है कि मनुष्य सर्व ही उच्च जीवन के लिये प्रयत्नशील रहता है।

चूँकि प्रत्येक मनुष्य में चेतन तत्व है और वह विश्वात्मा में भाग लेता है इसलिये व्यक्ति की अपनी महत्ता है, अपनी गरिमा है। इसलिये सभी मनुष्य स्वतंत्र हैं और बराबर। इसलिये प्रत्येक मनुष्य साम्य है। सबन नहीं और प्रत्येक मनुष्य के लिये प्रत्येक व्यक्तियों के व्यक्तित्व को मान्यता और सम्मान देना आवश्यक है। चूँकि सामाजिक जीवन में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है इसलिये धारम साम्राज्य की भावना में सामाजिक भावना निहित है। धीन का कहना है कि 'आत्म सामाजिक धारम है' (Self is a social self)।

अब यह स्पष्ट ही पया होगा कि धीन किस प्रकार वैधम धारि व्यक्ति धारियों का ही मनुष्यायी है किम प्रकार उसके दर्शन का केन्द्र व्यक्ति ही है। परन्तु उसका उदारवादी सिद्धान्त सेसेप्येयर के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि वह समाज को धुराई नहीं समझता समाज के कायों को सीमित नहीं करना चाहता। वह यह मानता है कि समाज व्यक्ति को प्रत्यत रूप से नैतिक नहीं बना सकता परन्तु समाज व्यक्ति की नैतिकता के मार्ग में धाने वाली बाधाओं को हटा कर उदारवादी नियमन द्वारा व्यक्ति को

### व्यक्तिवाद'

समाज नैतिक इकाई है, वह व्यक्ति को परम मगल की चेतना देता है।

व्यक्ति में चेतन तत्व है, वही धारम विकास के लिये प्रयत्नशील होता है इसलिये व्यक्ति साम्य है। फिर वह समाज में ही नैतिकता प्राप्त करता है इसलिये समाज धुराई नहीं। समाज का अर्थ होकर, समाज के नियमों द्वारा ही उसे धारम जीवन होता है।

सहायता पहुँचा सकता है। समाज का अर्थना निजी मस्तित्व है समाज का अर्थ होकर ही व्यक्ति यह श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है।

( ५ )

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता का साधारण अर्थ बात में अर्थ होता है, धुराई के उदाह से मुक्ति पाना। मनुष्य अपने भीतर भी दो व्यक्तियों का अनुभव करता है, जिसे

आत्म विकास का ध्येय है पर  
मात्मा की अभिव्यक्ति, समर चेतना  
मानव चेतना को सामाजिक मूल्य का  
विचार देती है।

व्यक्ति कुटुम्ब के सुख में अपना  
सुख देखता है। कुटुम्ब का समुदायों के  
प्रति कर्तव्य भावना सामाजिक नैतिकता  
बनाती है जो समाज के रीति रिवाजों  
में व्यक्त होती है। इस तरह समाज  
नैतिक इकाई है।

सामाजिक नैतिकता पर चिन्तन  
कर मनुष्य परम संगत की चारणा  
बनाता है।

नैतिक वातावरण को मनुष्य की पूर्ण पीढ़ियों का सुकल मानता है। नैतिकता  
स्वयं राज्य की अपनी वस्तु नहीं।

समाज और व्यक्ति

संशोधन में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की चेतना कुटुम्ब पड़ोस समाज  
धीरे धीरे संस्थाओं की नैतिकता बनाती है। इसी चेतना के द्वारा वह दूसरों के  
लिये काम करने में सक्षम पाता है। दूसरों की जलाई में अपनी भलाई समझता  
है। इस नैतिक वातावरण में बितन करने से उस हम सामाजिक नैतिकता के  
आधार पर विमुक्त नैतिकता की भावना प्राप्त होती है इसलिये राज्य धीरे  
समाज स्वयं नैतिक इकाई है साक्ष्य है। इस साक्ष्य का धर्म बनकर ही  
व्यक्ति सब धारणों की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इसलिये व्यक्ति अपने चेतन  
तत्त्व के द्वारा इस उच्च धारणों या विरहात्मा के साथ एकात्मता स्थापित कर सफल  
है धीरे बुद्धि का अनुभव करता है। यही बुद्धि प्राप्त करना ही आत्म भाव  
आत्म साक्षात्कार या आत्म विकास कहलाता है। चेतन तत्त्व के कारण मनुष्य  
केवल अपनी धार्मिक दृष्टियों धीरे नैतिक मूर्तों से सजुष्ट नहीं होता। वह  
आप साक्षात्कार ही में अपनी सर्वश्रेष्ठ भलाई समझता है। इसलिये मनुष्य का  
सजुष्ट प्रयत्न उस उच्च जीवन उस सजुष्टता को प्राप्त करना है जिसे हम ईश्वर

का विचार पाया जाता है जो मनुष्य  
की चेतना को सामाजिक मसाई का  
ज्ञान कराती है।

इस संदर्भ में धीरे के विचार हीन  
से मिलते दिखाई देते हैं। हीन के  
अनुसार राज्य नैतिकता की मूर्ति है  
और यही व्यक्ति को नैतिक बनाता है  
धीरे के अनुसार भी समाज व्यक्ति को  
नैतिक बनाता है क्योंकि समाज ही  
व्यक्ति की चेतना के सम्मुख इस  
नैतिकता के लिये वातावरण सामग्री  
या वस्तु उपलब्ध कराता है। हीन  
धीरे धीरे में अन्तर यह है कि धीरे इस

या विस्वात्मा में पाते हैं। इस प्रकार धीन के तत्व दर्शन की प्रमुख बात यह है कि मनुष्य सर्वत्र ही उच्च जीवन के लिये प्रयत्नशील रहता है।

चूँकि प्रत्येक मनुष्य में वेतन तत्व है और वह विस्वात्मा में भाग लेता है इसलिये व्यक्ति की अपनी महत्ता है अपनी गरिमा है। इसलिये सभी मनुष्य स्वतंत्र हैं और बराबर। इसलिये प्रत्येक मनुष्य साम्य है साधन नहीं और प्रत्येक मनुष्य के लिये अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व को मान्यता और सम्मान देना आवश्यक है। चूँकि सामाजिक जीवन में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है इसलिये धारम साक्षात्कार की भावना में सामाजिक भावना निहित है। धीन का कहना है कि 'आत्म सामाजिक धारम है' (Self is a social self)।

अब यह स्पष्ट हो गया होना कि धीन किस प्रकार बेधम आदि व्यक्तिवादियों का ही अनुयायी है किस प्रकार उसके दर्शन का केन्द्र व्यक्ति ही

**'व्यक्तिवाद'**

समाज नैतिक इकाई है, वह व्यक्ति को परम मंगल की धेतना देता है।

व्यक्ति में वेतन तत्व है, वही धारम विकास के लिये प्रयत्नशील होता है इसलिये व्यक्ति साम्य है। फिर वह समाज में ही नैतिकता प्राप्त करता है इसलिये समाज बुराई नहीं। समाज का धंग होकर, समाज के नियमों द्वारा ही उसे धारम बोध होता है।

परन्तु उसका उधारवादी सिद्धान्त सेसेफेर के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि वह समाज को बुराई नहीं समझता, समाज के कार्यों को सीमित नहीं करना चाहता। वह यह मानता है कि समाज व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं बना सकता परन्तु समाज व्यक्ति की नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटा कर उधारवादी नियमन द्वारा व्यक्ति को

सहायता पहुँचा सकता है। समाज का धपना निम्नी धस्थित्व है, समाज का धंग होकर ही व्यक्ति यह धेष्टता प्राप्त कर सकता है।

( ५ )

**स्वतंत्रता**

स्वतंत्रता का धधारमस बोध भास में धप होता है दूसरों के धबाध से मुक्ति पाना। मनुष्य धपने भीतर भी दो व्यक्तियों का अनुभव करता है, जिसे



वह जन्म से शीतल और देवता कहता है। शीतल प्रकृतियों के बराब से ईश-प्रकृतियों को छुंकारा मिलता ही स्वतंत्रता है। इसी बात को ज्योती संतपाल या अन्य बर्म पैयम्बरों ने कहा है। ज्योती का कहना है कि बातगायों का भविष्य होने पर मनुष्य इच्छाओं का पुताम होता है। जब वह इच्छाओं को विवेक के छाबीन रखता है तभी मनुष्य बर्म पालता है, तभी मनुष्य स्वतंत्र है। इसलिये मनुष्य उस सनक स्वतंत्र है जब वह विवेक पूर्ण सत्य को अपने जीवन का साध्य बनावे जब वह मनुष्य होने की शैष्टा करे, जब धारण, धारण साक्षात्कार की भावना उसके जीवन को सजावित करे। अतः शीत के शब्दों में "मनुष्य की इच्छा स्वतंत्र है परन्तु इस का अर्थय बना है इस पर स्वतंत्रता का अर्थ निर्भर होता है।" केवल इस या उस इच्छा की संतुष्टि यदि मनुष्य ने अपना लक्ष्य बनाया है तो मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। मनुष्य तभी समय स्वतंत्र है जब वह उस संतोष की अपेक्षा करता है जिसे हम धारण कहते हैं जिसमें हम पूर्णता प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में हम उस समय स्वतंत्र हैं जब हमारी इच्छा औरविवेक में मेल होता है, जब हमारी इच्छाएँ धारणवैतन के या बौद्धिक धारणा से कार्यान्वित होती हैं या बौद्धिक धारणा हमारी इच्छाओं या प्रकृतियों का हनन नहीं करती बरन् उनका उपवन एवं सम्प्राप्तीकरण करती हैं।

ईश्वर या धारणव वैतना में भी इच्छा और विवेक का मेल होता है। उसमें हम पूर्ण स्वतंत्रता देखते हैं। धारणव वैतना का धारण होने क धारण स्वतंत्रता मानव वैतना का ही कुछ है। काट के इस कथन में कि मनुष्य स्वतंत्रता है मही बात कही गई है। धारण विवन्वितहोना मनुष्य की स्वभाव पद विशेषता है। परन्तु यह विशेषता हमें धारण मनुष्य में ही मिल सकती है बास्तबिक मनुष्य में इनकी सम्भावना ही हमें दिखाई देती है। इसलिये बास्तबिक मनुष्य को धारण है पूर्णता प्राप्त करने का धारण विवन्वित होने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार स्वतंत्रता का अर्थ मन चाहा वा स्वेच्छा से कार्य करना नहीं

स्वतंत्रता

मनुष्य की इच्छा तभी स्वतंत्र है जब उनमें विवेक का मेल हो।

जब उनकी इच्छाओं बौद्धिक आत्मा से संबन्धित हों।

इस प्रकार धारणव वैतना में भी इच्छा और विवेक का मेल होता है। स्वतंत्रता का अर्थ विवन्वित है।

ईश्वर उन कामों को करना जो मनुष्योचित हैं जिन्हें धारण साक्षात्कार के लिये हमें करना चाहिये। इस प्रकार धारणव वैतना स्वतंत्र नहीं है बने ही धारणव वैतना और धारणव वैतना में उन पर कोई प्रतिबन्ध न लगा हो। स्वतंत्रता का अर्थ विवन्वित है।

प्रकार धारणव वैतना स्वतंत्र नहीं है बने ही धारणव वैतना और धारणव वैतना में उन पर कोई प्रतिबन्ध न लगा हो। स्वतंत्रता का अर्थ विवन्वित है।

साब ही स्वतन्त्रता दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्ति पाने में नहीं है। यह तो स्वतन्त्रता का नकारात्मक रूप है।

धर्म नियंत्रित होना मनुष्य का गुण है ईश्वर का गुण है इसलिये अपूर्ण मनुष्य स्वशासित होने की चेष्टा करता है।

स्वतन्त्रता के निर्विघ्न लक्ष्य है— मनुष्योचित कार्य करना स्वतन्त्रता सकारात्मक है—कुछ काम करने में है।

स्वतन्त्रता का अर्थ है दूसरों के दबाव से मुक्ति नहीं बरन् स्वयं कुछ कार्य करने की क्षमता। इस प्रकार स्वतन्त्रता सकारात्मक है स्वतन्त्रता स्वयं कुछ करने में है अपूर्णता से पूर्णता प्राप्त करने में है।

संक्षेप में उचित कामों को करने या उनका उपयोग करने की सकारा-

त्मक शक्ति ही स्वतन्त्रता है।\*

इस तरह धीम कांट के समान ही स्वतन्त्र नतिक इच्छा को मनुष्य की धारणा का मूल मानता है। इस स्वतन्त्रता का ही मनुष्य सामाजिक कर सकता है इसलिये राज्य को स्वतन्त्रता का समान नहीं करना चाहिए। धारण सामाजिक स्वयं व्यक्ति ही कर सकता है अन्य कोई बाह्य शक्ति या राज्य मनुष्य को वह धारण सामाजिक नहीं कर सकता पर राज्य मनुष्य के रास्ते में धारण बाधाओं को हटा सकता है।

( ५ )

### अधिकार

समाज में रहकर जब मनुष्य पूर्ण संभव की धारणा प्राप्त कर लेता है तो वह इस धारणा के आधार पर वास्तविक समाजों की नीतिक्रम को मत्पता है उनकी धारणना करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस कुछ मंगल को प्राप्त करने के लिये उसे कुछ विशेष परिस्थितियाँ मिलना चाहिए। वह इन परिस्थितियों की माँग समाज से करता है। वह स्वयं दूसरे व्यक्तियों को इन प्रकार की परिस्थितियाँ देने को उद्योग रहता है। इस प्रकार इन परिस्थितियों की एक ओर माँग होती है और दूसरी ओर उन्हें धरलण एवं

\* "A positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying."

मान्यता प्राप्त का प्रावधान भी रहता है। चीन इन परिस्थितियों को अधिकार कहता है। चूंकि इनके द्वारा ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है इनके द्वारा मनुष्य मनुष्य बन सकता है इसलिए इन्हें हम प्राकृतिक अधिकार भी कह सकते हैं। इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए ही राज्य की आवश्यकता है क्योंकि यदि हमारी नैतिक प्रकृति इनकी आवश्यकता मानती है तो भी हमारी वास्तविक प्रकृति इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न कर सकती है। अतः मनुष्य इन नैतिक अधिकारों के विरुद्ध जा सकता है। दूसरों को हानि पहुँचा सकता है इसलिए इनकी सुरक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।

चीन इस तरह नीति शास्त्र ( प्रांतीय स्वतंत्रता ) के राजनीति (बाह्य आवश्यकता) पर धारा है। (१) मानव जेता स्वतंत्रता चाहती है (२) स्वतंत्रता के लिए अधिकार आवश्यक है (३) अधिकारों की रक्षा के लिये राज्य आवश्यक है।

मनुष्य के बाह्य कार्य राजनीति के विषय हैं। बाह्य जगत की स्वतंत्रता (अर्थात् अपनी स्वतंत्रता के लिए दूसरा का सहयोग प्राप्त होना और अन्तर्गत विकास में जाने वाली बाधाओं से मुक्ति) राजनीति का विषय है। राज्य एक ओर तो व्यक्ति द्वारा मांग की गई परिस्थितियों को मान्यता देकर दूसरी ओर सामाजिक परिस्थितियों में सुधारकर मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त करने में सहायक होता है।

व्यक्ति के अपने लिए अधिकार की मांग अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को मान्यता देने की पुरस्कृत है। इस प्रकार समाज में सामान्य हित की सामान्य जेतना कार्य करनी है। इस प्रकार अधिकार में दो तरह मिले हैं (१) अपने प्राप्त विनाश के लिए व्यक्ति द्वारा मांग और (२) समाज द्वारा इस मांग को स्वीकृति।

इसलिये अधिकार नैतिक अर्थों के लिये वह व्यक्तिगत मांग है जिसे समाज द्वारा स्वीकृति व संरक्षण प्राप्त हो। ये अधिकार व्यक्ति को केवल समाज के सदस्य होने के लिये मिल सकते हैं क्योंकि सामाजिक संरक्षण इन अधिकारों का एक आवश्यक तत्त्व है। पूरे समाज के अन्तर्गत से संबंधित होने के कारण ही समाज इन्हें मान्यता देता है। जब तक मनुष्य में इस प्रकार "सामान्य हित की सामान्य जेतना" नहीं होती तब तक जब समाज में व्यक्ति ही होती, अधिकार नहीं।

## अधिकार और वैयक्तिक अधिकार

ग्रीन जब सामाजिक संरक्षण की बर्णना करता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य ने इनको मान्यता दे दी है और ये व्यक्ति के वैयक्तिक अधिकार हैं।

### अधिकार

पूर्व मजदूरी कायदा के अधिनियम पर व्यक्ति सामाजिक नैतिकता को तोड़ता है और पूर्व मजदूरी प्राप्त करने के लिये कुछ अवस्थाओं की माँग समाज से करता है।

इस प्रकार अधिकार अपने विकास के लिये परिस्थितियों को माँग है जिन्हें समाज मान्यता देता है।

इन अधिकारों से ही मनुष्य अपना प्राकृतिक (पुर्ब) हक प्राप्त करता है।

इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिये राज्य आवश्यक है।

अधिकार केवल (१) व्यक्ति के विकास के लिये होते हैं। (२) समाज से ही सम्भव है।

ये अधिकार कानून द्वारा संरक्षित हैं और जिन्हें मंग करने वाले को राज्य से दण्ड मिलता है वे कानूनी अधिकार (legal rights) कहे जाते हैं। जो प्राकृतिक अधिकार मात्र हैं कस राज्य और कानून द्वारा स्वीकृत और संरक्षित किये जाने पर वही कानूनी अधिकार में बदले जा सकता है।\*

### प्राकृतिक अधिकार का अर्थ

ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है, जिस अर्थ में धरतू ने इस शब्द का प्रयोग किया था। धरतू के अनुसार

\* डा० महादेव प्रताप शर्मा—धार्मिक राजनीति के विभिन्नवाद पृष्ठ १२३

मनुष्य का प्राकृतिक रूप उलका पूर्ण विकसित रूप है इसलिये अपने पूरुष विकास के लिये अभिवर्धन साधन के रूप में ही शीन उन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जाता है। लोक धार्मिक अनुभववादियों ने प्राकृतिक अधिकार शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया है। इन अनुभववादियों का कहना है कि सामाजिक सम मीति से पूरा मनुष्य के कुछ सम्पन्नता अधिकार से और राज्य इन सम्पन्नता अधिकारों को माय्यता देता है, इसलिये राज्य इनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। ये अधिकार, जिन्हें हम मूल अधिकार भी कह सकते हैं, राज्य और समाज से

### प्राकृतिक अधिकार

जिन अधिकारों को राज्य ने माय्यता देनी है वे वैयक्तिक अधिकार हैं।

जिन अधिकारों को समाज या राज्यक माय्यता है पर जिन्हें राज्य द्वारा माय्यता नहीं मिली है वे प्राकृतिक अधिकार हैं। ये धार्मिक वैयक्तिक अधिकार हो सकते हैं।

प्राकृतिक से अर्थ प्राकृतिक सम्पत्ति के अधिकारों से नहीं बरन् नैतिकता से होता है।

आवश्यकता समाज की सामुदायिक नैतिक बैठना स्वीकार करती है। इसलिये इन अधिकारों की स्वीकृति राज्य की विधान सभा द्वारा नहीं समाज की नैतिक भावना द्वारा है। दूसरे रूप में भी ये अधिकार आत्मोन्नति से संबंधित होने के कारण हमारी नैतिकता से संबंधित हैं।

### विधि, नैतिकता और अधिकार

राज्य की विधियों नैतिकता और अधिकार में अनिच्छित संबंध है परन्तु ये पर्याप्तबाधी राज्य नहीं। अधिकार आत्मोन्नति के लिये आवश्यक हैं और इस तरह से नैतिकता से ही संबंधित हैं। जब हम यह कहते हैं कि इन अधिकारों को राज्य से संरक्षण मिलना चाहिए तो हमारा यह कभी भी तात्पर्य नहीं कि राज्य इन अधिकारों को लागू कर प्यक्ति को नैतिक बना सकता है। क्योंकि नैतिकता हमारी आन्तरिक प्रवृत्ति या स्वभाव से संबंधित है और राज्य की

पूर्ण स्वतंत्र है। परन्तु अधिकारों के लिये शीन दो बातें आवश्यक मानता है। समाज द्वारा माय्यता और आत्मोन्नति के लिये व्यक्ति द्वारा मांग। चूंकि मनुष्य की आत्मोन्नति समाज के दूसरे व्यक्तियों से संबंधित है इसलिये शीन समाज के पूर्व की प्राकृतिक व्यवस्था में इन अधिकारों की रचना नहीं कर सकता है। इस प्रकार शीन जिन अधिकारों की रचना करनी है, वे नैतिकता से संबंधित हैं और उन्हें मने ही राज्य की द्वारा बना द्वारा स्वीकृति या माय्यता न मिली हो पर इनकी

पहिले धान्तरिक प्रकृति एक नहीं ही पाटी । राज्य ता केवल हमारे बाह्य कार्यों को नियमित या प्रोत्साहित कर सकता है । इसलिये प्राकृतिक अधिकार, जो धान्तरिकता से सम्बन्धित है वैदिक अधिकारों से अधिक व्यापक है ।

परन्तु राज्य के नियम और राज्य की विधियाँ हमें प्रस ही नैतिक न बना सकते हमारे नैतिक विकास में सहायता देती हैं । राज्य इन विधियों के द्वारा मनुष्य को उन कामों को करने के लिये विवश करता है जिनसे समाज का नैतिक लक्ष्य पूरा होता है । यदि कहीं ऐसे नियम प्रचलित हों जो मनुष्य की आत्म निर्भरता आत्मिक विरहान्न या कौटुम्बिक भावना कम करते हों ता इन

### विधि और नैतिकता

राज्य की विधियाँ मानव के बाह्य व्यवहार से हो सम्बन्ध रखती हैं, जब कि नैतिकता धान्तरिकता से सम्बन्धित है । इसलिये प्राकृतिक अधिकारों का क्षेत्र विधियों से अधिक विस्तृत है ।

विधियाँ नैतिकता में योग देती हैं (१) हमारे विचारों की बाधाओं को हटाकर (२) सामाजिक लक्ष्य को पूरा करने के लिये मनुष्य को विवश करके ।

जीवन की उन व्यवस्थाओं को बनाना जिसमें नैतिकता संभव हो सके । पितृसुल्य (Paternal) राज्य केवल इसलिये बुरा है कि ऐसा राज्य व्यक्ति के लिये सब कुछ करता है इसलिये मनुष्य का निस्वार्थ भावना स काय करने का क्षेत्र सीमित हो जाता है । इस तरह प्राकृतिक अधिकारों की भाँति राज्य के नियम और विधियाँ भी नैतिक उद्देश्य से संबंधित हैं ।

( १ )

सम्प्रभुता

इन प्राकृतिक और नैतिक अधिकारों को लागू करने की आवश्यकता भी है क्योंकि हवाटी शैविक आत्मा यदि ऐसे अधिकारों की आवश्यकता

समझी भी है तो भी हमारी वास्तविक इच्छायें न तो दूसरों के अधिकारों को मान्यता देना चाहती हैं और न वे सामान्य हित को स्वीकार करती हैं। पर मनुष्य को धार्म-साक्षात्कार करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है और बिना अधिकारों के हमारा नैतिक उद्देश्य पूरा हो ही नहीं सकता। इसलिये इन अधिकारों का होना आवश्यक है और इसके लिये मनुष्य पर बल भी कामना सकता है। दूसरे दृष्टियों में राज्य हमें स्वतंत्र करने के लिए बल का प्रयोग कर सकता है।

पर वह संप्रभु सवित समाज को ही मिलना चाहिए या दूसरे दृष्टियों में राज्य करने का अधिकार सामान्य हित की सामान्य चेतना (जो समाज निर्माण करती है) को ही मिलना चाहिये। यही चेतना हमारे अधिकारों को भी बनाती है। यदि इस चेतना की सामान्य इच्छा कहे तो कसों के दृष्टियों में यह वह सबते हैं कि समाज का संप्रभु सामान्य इच्छा है।

पर यदि हम वास्तविक जगत को देखें तो हमें धार्मिक की संप्रभु की परिभाषा अधिक व्यावहारिक दिखाई देती है। परन्तु धार्मिक की संप्रभु की परिभाषा कसों के संप्रभु की परिभाषा की विरोधी है क्योंकि वहाँ धार्मिक का संप्रभु (१) निश्चित मानव है और उसके पास (२) बल प्रयोग करने की शक्ति है वहाँ कसों की सामान्य इच्छा न तो निश्चित है और न उसके पास बल प्रयोग करने की असीमित शक्ती ही है।

धीन धार्मिक और कसों दोनों की परिभाषाओं का मेल करता है और उन्हें एक दूसरे का पूरक मानता है। उसके अनुसार प्रत्येक विधि का श्रेष्ठ निश्चित होता है। विधियों परम्पराओं से निम्न है क्योंकि विधियाँ पालिसीयमेट पासक धार्मिक निश्चित मानव या मानव समूह द्वारा बनाई जाती है जब कि परम्पराओं का श्रेष्ठ निश्चित नहीं है। इसलिये धार्मिक का यह कहना ठीक है कि विधि का श्रेष्ठ संप्रभु है—निश्चित मानव है।

परन्तु प्रजा विधियों की स्वभावतः इतलिय नहीं स्वीकार करती कि उसे विधि उत्सर्जन करने पर बल मिलने का अर्थ होता है। वह विधियों का इन लिये मान्यता देती है क्योंकि वे विधियाँ उसके सामान्य हित में हैं—या वे प्रजा की सामान्य इच्छा व्यक्त करती हैं। हर दूसरी धर्म में यह स्पष्ट कर दिया है कि राजशासनिक के समान स्वच्छावापि पासक भी बनता की सामान्य इच्छा या शक्ति विधियों के विरुद्ध नियम नहीं बना सके थे।

इसलिये संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में विधियों का स्रोत निश्चित मानव है परन्तु यह निश्चित मानव विधियों के बनाने में जन-इच्छा या सामान्य इच्छा को ही विधियों में व्यक्त करता है। या यह कहना चाहिये कि विधि बनाने में संप्रभु सामान्य इच्छा का एजेन्ट मान है।

थास्टिन की बड़ी भारी भ्रम यह है कि वह संप्रभु को बहुत अधिक शक्ति काही मान बैठ है। वास्तव में संप्रभु इतना महत्वपूर्ण नहीं है। निश्चित मानव की इच्छा सब कुछ नहीं है। सब बात यह है कि संप्रभु शक्ति जनता के सामान्य हित की भावना में निहित है किसी व्यक्ति विशेष में नहीं। यह सामान्य हित की भावना ही लोगों की नियमों को पालने के लिये भाष्य करती है।

पीन इस बात को इतिहास से उदाहरण लेकर स्पष्ट करता है वह लिखता है कि प्राचीन सम्राट भी सर्वशक्तिवादी न थे। वे प्रजा के लिये विधियाँ

### संप्रभुता

मनुष्य की नैतिक कार्यों के लिए बिना करने की शक्ति सामान्य हित की सामान्य चेतना या सामान्य इच्छा को होना चाहिये।

पर थास्टिन निश्चित मानव को प्रभु शक्ति देता है।

पीन, कसो और थास्टिन की संप्रभुता की परिभाषाओं को एक सूत्र के रूप में पुरक मानता है।

(१) विधि का निश्चित स्रोत होता है।

(२) विधि संप्रभु के मय के कारण नहीं बरन् सामान्य इच्छा व्यक्त करके के कारण पाली जाती है या सूत्र के अर्थों में।

नहीं बनाये थे। केवल कर बसूट करने में ही उनकी शक्ति की शीर कर बसूट करने में ही वे शक्ति का प्रयोग करते थे। विधियों के निर्माण और उनके पालन करने का काम राज्य के हाथ में न था बरन् वह कार्य जनता के विश्वास प्राप्त पुजारियों या कुटुम्ब के मुखियों के हाथ में ही रहता था जो जन हित में काम करते थे। इसलिये प्रजा इन साम्राज्यों में विधियों को सह्य स्वीकार करती थी। इसी प्रकार अब कोई विदेशी शक्ति धनता साम्राज्य बनाती है तो वह जनता की सामान्य इच्छा का ध्यान सर्वत्र रखती है। इसमें सन्देह नहीं कि रोम के पासकों ने बर्बर जातियों को नहीं रोमन विधियों की थी पर बर्बर जातियों ने इन विधियों को केवल इस कारण ही स्वीकार नहीं किया कि उन्हें रोमन शक्ति का मय था बरन् इसलिये कि जन



प्रचलित प्रीति रिवाजों की अपेक्षा रोमन विधियों उनके सामान्य हित को धरती

निरिक्त मानव को विधियाँ इस लिये पायी जाती हैं क्योंकि इन विधियों में सभ्यता साम्राज्य इच्छा का एजेंट होता है और उसे ही व्यक्त करता है।

पुराने साम्राज्य जनता की विधियों में हस्तक्षेप नहीं करते थे और यदि रोम ने नई विधियाँ भी ली तो जनता ने व्यक्तिगत रूप से कारण नहीं सामान्य हित के कारण ही इन्हें माना।

इसलिए समाज की धर्मिक प्रतिमान सामान्य हित की सामान्य चेतना है।

में 'राजनैतिक कार्यों को प्रोत्साहित और नियंत्रित करने वाली धर्मिक प्रेरणा धर्मिक धार्मिक धर्मिक धर्मिक है—यह सामान्य विश्वास है जिससे संप्रभुत्व स्थापित होता है—यह सामान्य चेतना है जो धर्मियों और समाज के एजेंटों को धर्मिक प्रेरणा करती है। यह सामान्य चेतना (या विश्वास) ही धर्मिक बनाती है, धर्मिक बनाती है या नियमों की बहु व्यक्तता बनाती है जिसमें धर्मिक सु-मित रहते हैं। संप्रभु बनाती है जिसका एक मात्र काम है विधियों को बनाना या लागू करना जो सभी संप्रभुओं को धर्मिक बनाती है और उनमें धर्मिक व्यक्तता रखना जिसमें हमारे नियम और धर्मिक ठोस रूप में व्यक्त होते हैं।

( ७ )

राज्य का आधार जन इच्छा है बस नहीं

इस प्रकार राज्य जन इच्छा पर आधारित है बस पर नहीं। राज्य बस के आधार पर ही धर्मिक नहीं करता है। केवल सामान्य हित की सामान्य चेतना ही राज्य का निर्माण करती है।

सामाजिक उन्नयन के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले धार्मिक भी राज्य को स्वीकृति पर आधारित बताते हैं परन्तु उनके सिद्धान्त में कुछ भ्रमियाँ हैं। उनका कहना है कि समाज-सुख प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के अपने प्राकृतिक

अधिकार थे। समझौते के द्वारा मनुष्य राज्य की स्थापना करता है और इस समझौते वा स्वीकृति से राज्य को शक्ति मिलती है। पर जब राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग स्वतंत्रता को घीमित करने में करता है तो वे इस परिस्थिति को स्वायोजित बताने में अपने को अग्रमर्ग पाते हैं। सामाजिक समझौते के लेखकों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे प्रजा और संप्रभु को अलग-अलग मानते हैं। वे यह नहीं समझते कि केवल समाज में ही और सामान्य हित की भावना के कारण ही व्यक्ति को अधिकार मिलते हैं और जिस राज्य शक्ति को उन्हें मानना पड़ता है वह शक्ति भी सामान्य हित को संबन्धित करने वाली सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। वे यह भूल जाते हैं कि प्रजा और संप्रभु इस सामान्य हित की भावना के कारण प्राप्त में संबन्धित हैं।

व्यक्ति में श्रेष्ठ बनने की भावना समाज में ही पाती है। सामाजिक वातावरण ही मानव सत्त्व निर्धारित करता है वही उसे अधिकार की भावना देता है और राज्य का उद्देश्य किन्हीं प्राकृतिक अधिकारों को मूर्च्छित करने से नहीं वा समझौते से नहीं बल्कि सामान्य हित और सामान्य जीवन को संबन्धित करने वाली संस्थाओं के विकास से होता है। क्योंकि यदि कोई सामान्य धारण है जिसके माते हम अधिकारों की मांग करते हैं दूसरों को अधिकार देते हैं तो ये सामान्य धारण ही राज्य की संस्था बनाते हैं। इसलिये व्यक्ति की नतिक इच्छा ही राज्य निर्मित करती है।

भौतिकता और राजनैतिक आधीनता दोनों का एक ही स्रोत है और वह स्रोत है सामान्य हित में अपना हित देखना। दोनों में यह दो कारणों निहित हैं (१) मुझे कुछ काम अपनी वास्तविक इच्छा के विरुद्ध करने होंगे (२) इस वास्तविक इच्छा के विरुद्ध कार्य करना सामान्य हित में है उदाहरण के लिये मुझे रात में सोने में बसी लगाकर जलना चाहिये और मुझे नाइ पीड़ितों की सहायता करनी चाहिये। इन दोनों वाक्यों में 'आहिये' शब्द लगा है जिससे स्पष्ट है कि मुझे यह कार्य अपनी वास्तविक प्रकृति के विरुद्ध करने होंगे। पहिले काय में तो धारण पुलिस का जय हो जो दूसरे काय में नहीं दिखता। परन्तु दोनों काबों में यह भावना अक्षय निहित है कि हमारी वास्तविक प्रकृति का नियंत्रण सामाजिक हित के लिये है। इस तरह राज्य की धारणा पालने में शब्द का भय नहीं रहता बरना सामाजिक हित की भावना निहित रहती है। केवल भय से ही राज्य की धारणा का पालन नहीं होता। भय की कुछ मात्रा राज्य की धारणा पालन में अवश्य रहती है पर किन्हीं वह कहना

कठिन है। हाँ यह बात ठह है कि भय के कारण ही भाडा पासन की घाबल किसी राजनीतिक समाज में नहीं पाई जा सकती।

जिसमें केवल सार्वजनिक हित में ही राज्य विधियाँ बनाये इसके लिये प्रत्यक्ष प्रजातंत्र ( जिसमें सभी राज्य के कार्यों में प्रत्यक्ष भाग लेते हैं ) आवश्यक है। पर घाबल हमें बड़े बड़े राज्यों में प्रतिनिधि प्रणाली का सहारा लेना पड़ता है इसलिये यह आवश्यक है कि स्वाधीन संस्थाओं के अधिकारों को बढ़ाया जाये जिसमें पब्लिक से पब्लिक व्यक्तियों को घाबल में भाग लेने का अवसर मिल सके।

पर इससे भी समस्या हल नहीं होती क्योंकि आधुनिक युग में हमें बहुत सा कार्य सरकारी कर्मचारियों पर छोड़ देना पड़ता है। इनके धारकों के संबंध में बहु प्रश्न पबलम उठाया जा सकता है कि क्या इन सरकारी कर्मचारियों द्वारा किये गये धारकों को भी हम दृष्ट नय से नहीं बरनू सामान्य हित की सामान्य चेतना के कारण पासन करते हैं? इती तरह बहु पूछा जा सकता है कि मुद्रा या कर्तियों के परचात् को राज्य बनते हैं तो इन राज्यों क बनाने वालों में सामान्य हित की भावना कहाँ होती है? इनकी स्वार्थ भावना में नतिकता में काई जाने वाली निस्वार्थ भावना को देखना क्या मूल नहीं है?

इसमें सदिह नहीं कि इन सरकारी कर्मचारियों मुद्रा धीर कान्ति करने वाले नेतारों क हृदयों में सामान्य हित की भावना पूर्ण रूप से नहीं रहनी। परन्तु जनता यदि इन राज्यों को स्वीकार करती है तो केवल इस लिये कि यह राज्य उनकी सम्पत्ति धीर कुटुम्ब मुर्छित रखेया उन्हें धीर बाटुओं से बचावेया, उसे नियत समय पर वेतन देया। ये सब मुर्छाओं उसके पड़ीनी भी चाहते हैं। इस प्रकार अचेतन रूप में ही वह उन सब परिस्थितियों की मान घाने पड़ीनी से करता है जो उसके धीर पड़ीनी लोगों के हित से है। इस प्रकार वेतन रूप से न सही अचेतन रूप से सामान्य हित की सामान्य चेतना ही लोगों की इन राज्यों के नियमों को मानने की बाध्य करती है दृष्ट का भय नहीं। इनलिये इन राज्यों में भी जो राज्य के प्रति निष्ठा दिगती है वह इन अविदित सामान्य हित की चेतना के कारण ही है। यह अवश्य है कि यह अविदित भावना हमें राज्य निष्ठा जलें ही बना दे पर देना भक्त नहीं बना सकती। मधी धीर बौद्धिक देय भक्ति सभी उत्तम होगी है जब व्यक्ति राज्य में कर्तव्य भाव से न कि केवल राज्य के हाउ ही गई मुर्छा धीर धानि की

निष्क्रिय रूप से स्वीकार करता रह। इसलिये व्यक्ति में रात्र्नीतिक कर्तव्यों की ऊँची भावना उभी समय आ सकती है जब वह राज्य के कार्य में भाग ले। और यह दग यकिन तीव्रतर उसी समय होगी है जब व्यक्ति राज्य को अपना समझने लगे जब उसमें राज्य के प्रति बही भावना आ जावे जो वह एक ही मकान में रहने वाले एक ही रीति रिवाज पानने वाले एक ही मापा वाले औद्युमिक सुख सुग को अपना समझने क कारण अपने कुटुम्ब के प्रति रखता है। धातुनिक राज्य अभी तक इस भावना को विकसित नहीं कर सके हैं।

परन्तु यह तो आश्चर्य का कर्षा होने लगी। धातु हम राज्य को किस रूप में देखते हैं? कुटुम्ब क रूप में नहीं बल्कि व्यक्ति के रूप में जिसकी धातु अधिकतर लोगों को दृष्ट के भय से मानता पड़ती है। इन राज्यों के बहुत से कार्य सामाजिक हितों की उपेक्षा करते दिखाई देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के राज्य धरस्य हैं जो दृष्ट पर आधारित हैं पर न धनिक दिन नहीं टिक सकते और धरस्यकारीन राज्य को राज्य नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग राज्य को साक्षय के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि साक्षय के रूप में राज्य का धरना निश्चित सत्य है। व्यक्ति तो केवल कोष (cells) मात्र है जिन्हें राज्य के सत्य की चेतना नहीं। इससे संदेह नहीं कि सभी प्राणियों की धाति राज्य एक प्राकृतिक साक्षय है और वह भी पनबायु, भूमि धादि प्राकृतिक बाठाकरण से प्रभावित हो कर बना है। परन्तु राज्य एक प्राकृतिक साक्षय ही नहीं नैतिक साक्षय है। नैतिक साक्षय होने के कारण ही उसका धरना निश्चित उद्देश्य है। उसके कोष (cells) या व्यक्ति इस निश्चित उद्देश्य से अनुप्राणित हैं। उसके एनेस्ट राज्य के इन निश्चित उद्देश्य की धाते हैं और राज्य को उन धोर ल धाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये नैतिक साक्षय होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति धोर साक्षय धर्म में राज्य के उद्देश्य की सामान्य हित की चेतना रखनी है और राज्य व्यक्ति का दृष्ट पर आधारित दिखाई देगा है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि साक्षय धर्म में यह चेतना कहीं होती है? यह तो अपने स्वार्थ में काम करता है। मुई ध्याएहें धोर हेतुधे धष्टम या वेपानियन में तो धियय की पिपासा भी उनमें सामान्य हित की भावना कहीं थी? पर इन साक्षयों में धियय की धाकीधा कहीं से धाई? समकारीन सामाजिक प्रभावी के ही तो यह धैयनिक भावना निमित्त की थी इसलिये

इनकी वैयक्तिक बरब प्राप्ति की जाकांसा अपने राज्य के बरब प्राप्ति में ही पूर्ण हो सकती थी। राज्य की इस बरब प्राप्ति की भावना यद्यपि बुरी और सैतानी पुण की परन्तु इसमें मानबटा की भावना भी इतनी मिली थी कि इस बरब प्राप्ति में भी राज्य मानव हित को ही पूरा करता दिखाई देता है। फ्रांस के बरब से अन्य राज्यों के लोगों को दमन से मुक्ति मिली और वे नया नेपोलियन संहिता (code) प्राप्त कर सके। इस प्रकार शासकों के स्वार्थ में भी अच्छाई निहित रहती है और इन शासकों के स्वार्थ सामाजिक अच्छाई की भावना द्वारा धारित होते हैं। इस तरह ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन करने में हमें केवल शासकों के वैयक्तिक कार्य या इनकी स्वार्थ साधना ही नहीं देखना चाहिये बल्कि मानव की श्रेष्ठतम जीवन पाने की भावना को भी देखना चाहिये जो इन शासकों के कार्यों को सञ्चालित करती है। चीजर और नेपोलियन को महान् बनाने वाली यही सामाजिक शक्ति थी उनके वैयक्तिक कार्य नहीं। वे तो केवल इस सामाजिक हित की भावना के साधन मात्र थे। स्वार्थ की भावना में धारण भावना के मिश्रण से ही अच्छे कार्य हो सकते हैं। नेताओं के वैयक्तिक कार्यों को समकालीन संस्थायें बनाती हैं पर वे सामाजिक संस्थायें स्वयं मनुष्य के सामान्य हित की सामान्य भावना की प्रतिबिम्ब हैं। इसलिये स्वार्थी शासकों के कार्यों के पीछे भी राज्य की स्थापना राज्य के विकास में हमें सामान्य हित को सामान्य दृष्टि दिनाई देनी है बल नहीं। राज्य बल पर धारित नहीं है बल्कि जन शक्तों और हितों पर धरमन्वित है जिन्हें सुरक्षित करने के लिये बल का प्रयास होता है।

तब हमारा यह विश्वास क्यों है कि राज्य बल पर धारित है। इसका मुख्य कारण हमारी सप्रभुता की भावना है। सप्रभुता पर धरम से विचार करने पर हम सप्रभुता को सर्व शक्तिशाली समझते हैं और बौद्ध राज्य का लक्षण यह सप्रभुता है इसलिए राज्य का पुण भी हम शक्ति समझते मन्ते हैं। पर यदि हम यह समझ जायें कि सप्रभुता राज्य नहीं बनाती राज्य सप्रभु बनाता है तो हमारी धारणा ठीक हो जायेगी। कबल बल प्रयोग करके कोई स्वामी शक्तों का राज्य नहीं बन सकता—भने ही बह शक्तों का सप्रभु माना

जाये । राज्य नागरिकों की अधिकार भावना पर आधारित है और राज्यों के अधिकार नहीं होते । इसी प्रकार संघ्रमु को प्रमुखीयन समझ के कारण हम सोचते हैं कि संघ्रमु की इच्छा नियम है, वह कोई भी विधि बना सकता है और स्वयं इन विधियों से मुक्त है-परन्तु संघ्रमु यदि सामाजिक भावना संचि चान रीति रिवाजों को उपेक्षा करते हुए विधियाँ बनाये तो राज्य न रहेगा । राज्य मनुष्य के सामाजिक संकलन को सुदृढ़ करन उनके हित साधन के लिए बना है और संघ्रमु केवल समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए नियम बनाता है । संघ्रमु समाज का एजेंट है, वह स्वयं मनुष्य की इच्छा पर आधारित है और संघ्रमु का राज्य की सत्ता का अर्थन है अधिकारों को नहीं बनाता बरन् समाज के पहिले से ही पाये जाने वाले अधिकार की भावना को वास्तविक रूप देता है।<sup>१</sup> इसलिये राज्य केवल संघ्रमु की सत्ता के प्राचीन व्यक्तियों का समूह नहीं है बरन् वह समाज है जिसमें कुटुम्ब या कबीले में रहने वाले व्यक्तियों के अधिकार परिभाषित या समन्वित होते हैं । जहाँ पहिले से ही कबीले या कुटुम्ब का सामाजिक संघटन हो जिसमें व्यक्तियों के अधिकार की व्यवस्था हो वही अधिकार व्यवस्था को बनाये रखने के लिये राज्य विकसित होता है । राज्य के विकास होने पर

वास्तव में प्रजा की सामान्य हित की सामान्य चेतना ही संघ्रमु है वही राज्य का आधार है ।  
राज्य की धारणा पालने में राज्य का भय नहीं होता सामान्य हित का ध्यान होना है ।

जिसमें राज्य को धारणा हनारी धारणा मानो जाये व्यक्ति को राज्य में भाग लेना चाहिये ।

पर सरकारी कर्मचारी या अर्थि के धार बने राज्य के धारक को धारणा क्यों मानो जाती है ? उन्हें सामान्य हित की भावना कहाँ होती है ? नागरिक इन राज्यों की विधियों को भी सामान्य हित के कारण ही स्वीकार करता है ।

पर सच्ची राज्यमरित सभी धा सकती है जब व्यक्ति राज्य के प्रति पूरी भावना रखे जो वह कुटुम्ब के प्रति रखता है ।

साक्षरों मित्रान्त में भी हमें इस चेतना की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि राज्य प्राकृतिक साक्षर नहीं नतिक साक्षर है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य हित की चेतना होती है ।

जिसमें राज्य को धारणा हनारी धारणा मानो जाये व्यक्ति को राज्य में भाग लेना चाहिये ।  
पर सरकारी कर्मचारी या अर्थि के धार बने राज्य के धारक को धारणा क्यों मानो जाती है ? उन्हें सामान्य हित की भावना कहाँ होती है ? नागरिक इन राज्यों की विधियों को भी सामान्य हित के कारण ही स्वीकार करता है ।  
पर सच्ची राज्यमरित सभी धा सकती है जब व्यक्ति राज्य के प्रति पूरी भावना रखे जो वह कुटुम्ब के प्रति रखता है ।  
साक्षरों मित्रान्त में भी हमें इस चेतना की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि राज्य प्राकृतिक साक्षर नहीं नतिक साक्षर है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य हित की चेतना होती है ।

<sup>१</sup> "The sovereign as a characteristic institution of the state does not create right, but gives fuller reality to rights already existing" Green T.H., Principles of Political Obligation para 132.

यह अधिकार दोष धीरे बढ़ जाता है धीरे सामान्य हित की भावना भी उच्च धीरे अधिक बिस्तृत हो जाती है। नये अधिकारों धीरे नये सामान्य हितों के विकास से मनुष्य का धीरे विकास होता है धीरे नये दूरियों की पूर्ति होती है। राज्य नीतिकता में सक्षम हो जाता है। राज्य हमारे अधिकारों पर धारित है धीरे हमारे अधिकार हृषीक नतिक इच्छा पर। इसलिए इन उच्च नीतिक इच्छाओं की पूरा करने के लिए ही राज्य बना है, दण्ड के प्रयोग के लिये नहीं।

संप्रभु की राज्य का लक्षण समझने के कारण हम राज्य को बल पर धारित समझने की मूल करते हैं। पर राज्य संप्रभु बनाता है, धीरे राज्य हमारी इच्छा हमारी अधिकार व्यवस्था के लिये है। इसलिए संप्रभु हमारी इच्छा को पूरा करने के लिये ही बल का प्रयोग करता है।

के लिये ही राज्य का विकास होता है।

### समुदाय

राज्य समुदायों की सृष्टि नहीं करता इसलिए उन्हें समाप्त भी नहीं कर सकता।

समुदायों में सामंजस्यता स्थापित करने के कारण राज्य की प्रभावता अधिक है।

पिण्ड करने के कारण राज्य उनका नियंत्रक धीरे संरक्षक है। इसलिए

### राज्य और अन्य समुदाय

हम देख चुके हैं कि राज्य के विभिन्न समुदायों का स्वतंत्र अस्तित्व है। वे ही सामाजिक नीतिकता बनाते हैं राज्य के पूरे परिवार जैसे कबीले प्रादि प्राकृतिक समुदाय मनुष्य में अधिकार भावना प्राप्त करत हैं धीरे इन अधिकारों को अधिक बिस्तृत करने तथा विभिन्न समुदायों में सामंजस्यता स्थापित इस प्रकार राज्य समुदायों का समुदाय है राज्य समुदायों की सृष्टि नहीं करता धीरे न परिवार, कबीले जैसे प्रादि में पाये जाने वाले अधिकारों धीरे कठोरों की सृष्टि करता है। यही राज्य से पहिले में ही विद्यमान होते हैं। इसलिए राज्य इन समुदायों के अधिकारों को छोड़ नहीं सकता। इन विभिन्न समुदायों में सामंजस्य स्थापित करने के कारण राज्य उनका नियंत्रक धीरे संरक्षक है। इसलिए

वह प्रायः समुदायों से श्रेष्ठ है। परन्तु श्रेष्ठ का अर्थ यह नहीं कि राज्य सर्व-शक्तिमान है।

( = )

### राज्य के कार्य दृष्ट

यू कि मनुष्य का लक्ष्य धारण साक्षात्कार है। इसलिए राज्य मनुष्य के इस नैतिक सत्य को पूरा नहीं कर सकता। वह मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता। नैतिकता आन्तरिक वस्तु है और आन्तरिक पर राज्य का बल नहीं। राज्य का कार्य क्षेत्र केवल बाह्य व्यवस्था ही हो सकता है और उसके पास केवल बल का साधन है। दृष्ट और नैतिकता विरोधी हैं परन्तु राज्य कुछ कार्यों को जो सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक है जैसे ही वे दृष्ट के भय से किये जायें मनुष्य को करने के लिये विवश कर सकता है। परन्तु यह क्षेत्र वास्तव में बहुत ही सीमित है। सत्य बात तो यह है कि नैतिक विकास मनुष्य की इच्छा और कार्य पर अवलम्बित है। पर राज्य मनुष्य के विकास के रास्ते में जाने वाली बाधाओं को हटा सकता है, इसलिये ग्रीन का कहना है कि राज्य का कार्य बाधाओं का हटाना है।

राज्य का कार्य सर्वथी ग्रीन का सिद्धान्त नकारात्मक दिखाई देता है। इससे स्पष्ट यह नहीं मासूम होता कि राज्य कौन कौन से कार्य करे। परन्तु

#### राज्य के कार्य

राज्य मनुष्य को नैतिक नहीं बना सकता। राज्य का कार्य है विकास के मार्ग में जाने वाली बाधाओं को हटाना।

राज्य का यह कार्य क्षेत्र सीमित नहीं।

इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने में राज्य बहुत से कार्य कर सकता है उदाहरण के लिये मद्य निषेध विद्या प्रसार, श्रम का समान वितरण अधिकों के कार्य बटे निश्चित करना आदि आदि। चूँकि मनुष्यता या व्यक्तिगत व्यक्तियों के विकास के मार्ग में बाधा है इसलिये राज्य इस बाधा को हटाने के लिये मद्य निषेध विद्या प्रसार आदि कर सकता है। ग्रीन व्यक्तिवारी है और उसके राज्य कार्य का सिद्धान्त भी सीमित मासूम होता है परन्तु जैसा हम पहिले कह आये हैं कि पूर्व व्यक्तिवादियों के समान ग्रीन राज्य के कार्यों को पूर्णतः तब तक ही सीमित नहीं रखता है। उसके अनुसार राज्य के ऐसे



बहुत से कार्य हो सकते हैं जिन्हें मात्र न्यायालयकारी और समाजवादी राज्य करते हैं। परन्तु समाजवादी राज्यों का मुख्य मौलिक सुख साधन बुझाना है जब कि धीन के अनुसार राज्य का कार्य जीवन की उन परिस्थितियों को बनाना है जिनमें नैतिकता सबन हो सके। राज्य स्वयं व्यक्ति को नैतिकता प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि नैतिकता का धर्म है निस्वार्थभाव से अपने कर्तव्यों का—अपने द्वारा दिये गये धारकों का—निर्वाह करना।

राज्य किंच सीमा तक और क्यों व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप करता है यह धीन के दृष्ट सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक हित में अपना योगदान देने का अधिकार है इसलिये यदि कोई व्यक्ति इस योगदान में हस्तक्षेप करता है तो वह दृष्ट का भागी है। दृष्ट के संबंध में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं। प्रतिहार (restraint) सिद्धान्त, निवारक सिद्धान्त और मुष्कटारणक—प्रतिहार सिद्धान्त का मुख्य आधार है—धर्म के बरसे धर्म—यदि तुम्हें किसी में हानि पहुँचाई है तो तुम्हें उसी हानि के बराबर क्षरणी से बदला देने का अधिकार है। परन्तु इस सिद्धान्त के दो बिन्दु क्यों को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि हानि की मात्रा मापना कठिन है और फिर एक ही प्रकार की हानि भिन्न २ लोगों को अलग अलग मात्रा में नष्ट पहुँचाती है। इसलिये हानि की मात्रा के बराबर दंड देना कठिन है और यदि हम मनुष्यों के अनुपात में एक ही क्षरणी के लिये अलग अलग दंड की मात्रा दें तो समाज न्याय की भावना कुण्ट हो जायेगी। दूसरे इस सिद्धान्त में बदले की भावना पर जोर दिया जाता है। बदले की भावना को व्यक्तियों या दो राज्यों के बीच हो सकती है राज्य और व्यक्ति के बीच बदले की भावना होना असंभव है। नाशुन सार्वजनिक बस्तु है और यदि कोई क्षरणी समाज के विरुद्ध कोई क्षरणी करता है तो दृष्टा यह धर्म नहीं कि समाज में बदले की भावना बाधत हो गई। दूसरे बदले की भावना में और भावना होती है जैसे अपेक्षा का अन्वय या मुरझा कहा जा सकता है। समाज या राज्य में दण्ड प्रसार को और भावना करी नहीं हो सकती। प्रतिरोधी सिद्धान्त तो आदिम जाल की बस्तु है उसे विरहित समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रतिरोधी तो वैयक्तिक क्षरणी है और आदिम लोगों में भी यह बुद्धि का अधिकार था। विरहित समाजों में दंड नहीं होता है जिनमें क्षरणी को यह ज्ञान हो जाने कि उसे सामाजिक हित में कुछ कार्य करना है और वह इन कार्यों को नहीं कर रहा है। दंड देने का अधिकार भी राज्य

की केवल इसी दृष्टि से ठीक कहा जावेगा जब राज्य यह दण्ड सामान्य हित की सुरक्षा में ही है। प्रविद्योक्त सिद्धान्त इस दृष्टि से ठीक नहीं।

दुष्टता सिद्धान्त निवारक (Preventive) सिद्धान्त है जिसके अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि दूसरे सोय उसे दण्डित होते देखकर डरें और अपराध न करें। साथ ही भविष्य में अपराधी दण्ड की याद कर चाहे अपराध न करें। धीन इस सिद्धान्त पर सबसे अधिक जोर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड उसी समय न्यायोचित कहा जाता है जब वह दोषों को दूर करे (१) दण्ड जिसे रोकता है वह कार्यात्मिक नहीं बल्कि पदार्थ प्रतिकार का उत्पन्न है; और (२) जिन सामर्थ्यों से यह रोका जा रहा है वह वास्तव में धारक हैं। भेद चुनने के लिये मृत्यु दण्ड देना निवारक सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता क्योंकि अपराध की तुलना में दण्ड अधिक है। साधारणतया मृत्यु दण्ड ही अपराध का निवारण करने में पर्याप्त होता है।

न्याय पूर्ण दण्ड वह है जो माया में अपराध के बराबर हो परन्तु अपराध और दण्ड की मात्राओं को निकालना और मापना कठिन है। पदार्थ में दण्ड विभाग का मुख्य उद्देश्य भविष्य में अपराध को रोकना है। दण्ड देते समय राज्य यह नहीं देखता है कि जो कुछ हानि अपराध से हो चुकी है वह पूरा कर ले जाने बल्कि भविष्य में इस प्रकार के अपराध न हों। इसलिये दण्ड देते समय यह धारक नहीं कि उसी अपराध के लिये वही दण्ड देनेवाला दिया जाये।

कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में अपराध हो जाते हैं जो अपराध की उपाय को कम करती हैं, उदाहरण के लिये यदि कोई मूला धारमी चोरी करे। कानून भी इन विशेष परिस्थितियों का ध्यान रखता है परन्तु धीन का कहना है कि यदि ऐसे प्रसंग पर दण्ड कम दिया जाता है तो केवल इसलिये कि इन अपराधों को धार्मिक बल से रोकने के लिय बहुत कम धन की धारकता होती है।

दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार करना भी है, सुधार होने से अपराधों का निवारण हो जाता है इसलिये दण्ड का सुधार सिद्धान्त निवारक सिद्धान्त से सम्बन्धित है। परन्तु सुधार का धन यहाँ अपराधी का पुनर्गतिवत्ता प्राप्त कराना नहीं है क्योंकि नतिकता प्राणिक गुण है राज्य उसमें नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सकता। सुधार का धर्म केवल यही है कि अपराधी अपराध करना छोड़ दे जिसमें दूसरे लोगों के प्रतिकार सुचित हो सकें। इसके लिये भी

बहुत से कार्य हो सकते हैं बिना ही मात्र कस्मात्कस्मात् घोर समाजवादी राज्य करते हैं। परन्तु समाजवादी राज्यों का लक्ष्य नीतिक गुण स्थापन बुझाना है जब कि चीन के अनुसार राज्य का कार्य जीवन की उन परिस्थितियों को बनाना है जिनमें नीतिकला समभव हो सके। राज्य स्वयं व्यक्ति को नीतिकला प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि नीतिकला का धर्म है निस्वार्थभाव से अपने कर्तव्यों का—अपने द्वारा दिये गये भावों का—निर्वाह करना।

राज्य किस सीमा तक और क्यों व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप करता है यह चीन के दृष्ट सिद्धान्त से स्पष्ट ही जाता है। प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक हित में अपना बोलचाल देने का अधिकार है इसलिये यदि कोई व्यक्ति इस यौनदान में हस्तक्षेप करता है तो वह दण्ड का भागी है। दण्ड के संबंध में चीन सिद्धान्त प्रकृतित है प्रतिकार (revenge) सिद्धान्त, निवारक सिद्धान्त और मुद्रासलक—प्रतिकार सिद्धान्त का मुख्य आधार है—मार्थ के बदले मार्थ—यदि तुम्हें किसी ने हानि पहुँचाई है तो तुम्हें उसी हानि के बराबर क्षयपयी से बदला लेने का अधिकार है। परन्तु इस सिद्धान्त के दो बिन्दु शर्तों को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि हानि की मात्रा नापना कठिन है और फिर एक ही प्रकार की हानि भिन्न २ लोगों को क्षय क्षय मात्रा में क्षय पहुँचायी है। इसलिये हानि की मात्रा के बराबर दण्ड देना कठिन है और यदि हम मनुष्यों के अनुपात में एक ही क्षयपयी के लिये क्षय क्षय दण्ड की मात्रा दें तो समान न्याय की भावना फुट ही जायेगी। दूसरे इस सिद्धान्त में बदले की भावना पर जोर दिया जाता है। बदले की भावना को व्यक्तियों या दो राज्यों के बीच हो सकती है राज्य और व्यक्ति के बीच बदले की भावना होना संभव है। कानून धार्मिकिक बलु है और यदि कोई क्षयपयी समाज के विरुद्ध कोई क्षयपयी करता है तो इसका यह धर्म नहीं कि समाज में बदले की भावना जागृत हो गई। दूसरे बदले की भावना में बंद भावना होती है जिसे क्षेप का प्रचार या सुरक्षा कहा जा सकता है। समाज या राज्य में इन प्रकार की बंद भावना नहीं मदी ही सकती। प्रतिक्षेप सिद्धान्त तो धार्मिक बल की वस्तु है उसे विरहित समाजों पर लागू नहीं दिया जा सकता है क्योंकि प्रतिक्षेप तो वैयक्तिक अधिकार है और धार्मिक युगों में भी यह बुद्धि का अधिकार था। विरहित समाजों में दण्ड नहीं ठीक है जिनसे क्षयपयी को यह ज्ञान हो जाये कि उसे सामाजिक हित में कुछ कार्य करना है और वह इन कार्यों को नहीं कर रहा है। दण्ड देने का अधिकार भी राज्य

के केवल इसी दृष्टि से ठीक कहा जायेगा जब राज्य यह दृष्ट सामान्य हित की सुरक्षा में ही रहे। प्रतिघोष सिद्धान्त इस दृष्टि से ठीक नहीं।

दूसरा सिद्धान्त निवारक (Preventive) सिद्धान्त है जिसके अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिये दिया जाता है कि दूसरे लोग उसे दण्डित होते देखकर डरे और अपराध न करें। साथ ही भविष्य में अपराधी दण्ड की याद कर धाये अपराध न करें। शीन इस सिद्धान्त पर सबसे अधिक धोर देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड उसी समय न्यायोचित कहा जाता है जब वह जो घटते पूरी करता हो (१) दण्ड जिसे रोकता है वह कारणात्मिक नहीं बरन् यथार्थ अधिकार का उत्पन्न है और (२) जिन कारणों से यह रोका जा रहा है वह वास्तव में आवश्यक हैं। मेड सुदाने के लिये मृत्यु दण्ड देना निवारक सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता क्योंकि अपराध की तुलना में दण्ड अधिक है। साधारणतया न्यूनतम दण्ड ही अपराध का निवारण करने में पर्याप्त होता है।

न्याय पूर्ण दण्ड वह है जो मात्रा में अपराध के बराबर हो परन्तु अपराध और दण्ड की मात्राओं को निकालना और मापना कठिन है। यथार्थ में दण्ड विधान का मुख्य उद्देश्य भविष्य में अपराध को रोकना है। दण्ड देते समय राज्य यह नहीं देखता है कि जो कुछ हानि अपराध से हो चुकी है वह पूरी कर दी जाने बरन् भविष्य में इस प्रकार के अपराध न हों। इसलिये दण्ड देते समय यह आवश्यक नहीं कि उसी अपराध के लिये वही दण्ड हमेशा दिया जाये।

कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में अपराध हो जाते हैं जो अपराध की उपद्रवा को कम करती हैं उदाहरण के लिये यदि कोई नृत्ता आरामी खोरी करे। कानून भी इस विशेष परिस्थितियों का ध्यान रखता है परन्तु शीन का कहना है कि यदि ऐसे अवसर पर दण्ड कम दिया जाता है तो केवल इसलिये कि इन अपराधों को सांख्यिक बनने से रोकने के लिय बहुत कम मय की आवश्यकता होती है।

दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार करना भी है सुधार होने से अपराधों का निवारण हो जाता है इसलिये दण्ड का सुधार सिद्धान्त निवारक सिद्धान्त से सम्बन्धित है। परन्तु सुधार का धर्म यहाँ अपराधी का पुनर्नैतिकता प्राप्त करना नहीं है क्योंकि नैतिकता धार्मिक मूल है राज्य उसमें नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सकता। सुधार का धर्म केवल यही है कि अपराधी अपराध करना छोड़ दे जिसमें दूसरे लोगों के अधिकार सुरक्षित हो सकें। इसके लिये भी

निवारक सिद्धान्त को अपनाया पड़ता है ताकि एक अघराधी के बन्ध को देख कर अन्य लोग अघराध न करें। प्रस्त उठ सकता है कि ऐसे अघराधी को मृत्यु दण्ड या आजीवन कारावास क्यों न दिया जाये ? इत प्रकार का दण्ड प्रसंगत

धीन दण्ड सिद्धान्त में प्रतिकार, निवारक और सुभारत्माक सिद्धान्तों का मेल करता है उसके अनुसार दण्ड कितना आवश्यक हो उतना ही दिया जाये ताकि व्यक्ति का सुधार हो सके और वह नैतिक अधिकारों का प्रयोग कर सके। मृत्यु दण्ड या आजीवन कारावास इस दृष्टि से ठीक नहीं। दण्ड मनुष्य के विकास मार्ग में जाने वाली बाधा को हटाता है।

वह ऐसी परिस्थिति में आ गया है कि कभी भी अपने अधिकारों का उपयोग न कर सकेगा।

दण्ड का उद्देश्य अघराध रूप से नैतिक है क्योंकि दण्ड का उद्देश्य उन अधिकारों के उत्सर्जन को रोकना है जो गैतिकता के लिये आवश्यक हैं इसलिये न्यायोचित दण्ड प्रकृत रूप में समाज की गैतिक सलाई के लिये ही है। दण्ड अघराधी की गैतिकता के लिये आवश्यक है क्योंकि इससे वह सुधार कर फिर गैतिक जीवन अपना सकता है।

दण्ड को यदि हम राज्य के कार्य संबंधी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में देखें तो दण्ड शासन में व्यक्ति के विकास के मार्ग में जाने वाली बाधा को हटाता है इसलिये दण्ड को बाधा हटाने का ही काम करना है। दण्ड शासन का अनुपात बाधा के अनुपात में होना चाहिये। दण्ड अघराधी को जो घायात पहुँचाता है उससे उसकी धारणा फिर से जाग जाती है और वह नैतिक मार्ग पर चलने लगता है, इन प्रकार अघराधी अघराधों से निकृष्ट हो सुधार पाता है।

( ६ )

विरोध करने का अधिकार

धीन ने समाज और राज्य के बीच अन्तर माना है। धीन के अनुसार समाज ही व्यक्ति के अधिकारों को सम्पन्न करता है और व्यक्ति समाज से ही

अधिकारों की माँग करता है, राज्य समुदायों का समुदाय होने के कारण विभिन्न समुदायों में सामंजस्यता रखता है और समाज की अधिकार व्यवस्था को बनाये रखता है। अधिकारों का सुष्ठा राज्य नहीं समाज है और नैतिक जीवन के लिये अधिकारों की माँग व्यक्ति करता है। इतिहास प्रस्त यह उठ सकता है कि क्या व्यक्ति या समाज राज्य का विरोध करने का अधिकार माँग सकता है।\*

धीन सिद्धता है कि विद्वान्त्र में ऐसे अधिकार की आवश्यकता नहीं हो सकती क्योंकि अधिकार नैतिक उत्पत्ति के लिये माँग है जिस समाज ने स्वीकृति दी है। इसलिये प्रत्येक अधिकार में समाज की स्वीकृति आवश्यक है। चूंकि समाज की इस अधिकार व्यवस्था को बनाये रखने के लिये ही राज्य है इसलिये यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति राज्य से ही अधिकार पाता है और इस अधिकार व्यवस्था में राज्य के विरुद्ध अधिकार हो ही नहीं सकता। हम देख ही चुके हैं कि प्रत्येक अधिकार किसी न किसी सामाजिक समूह (समुदाय) पर व्यवस्थित है इसलिये समाज के विरुद्ध अधिकार का प्रस्त उठ ही नहीं सकता।

तब क्या व्यक्ति राज्य के नियम का विरोध नहीं कर सकता है? नहीं। यदि राज्य अपने उद्देश्य को पूरा कर रहा है। अधिकार का प्रस्त उसी समय उठ सकता है जब राज्य अपने उद्देश्य को पूरा न कर रहा हो या सामाजिक समूहों में ऐसे कोई नये अधिकार पदा हो रहे हैं जिनका राज्य अपनी अधिकार व्यवस्था में सामंजस्य न कर रहा हो। दूसरे दृष्टों में हम कह सकते हैं कि राज्य के हित में ही राज्य के विरुद्ध अधिकार हो सकता है। वास्तविक राज्य प्रचल है और वे धार्मिक राज्य की भाँति उन सब अधिकारों की माँगता

### विरोध का अधिकार

चूंकि राज्य व्यक्ति की अधिकार व्यवस्था का संरक्षक है इसलिये विद्वान्त्र में राज्य के विरुद्ध अधिकार नहीं हो सकता।

अपुन राज्य में राज्य के हित में ही अर्थात् अधिकार व्यवस्था को व्यापक बनाने के लिये ही यह अधिकार व्यवस्थित है।

नहीं है जो मानव के लिये आवश्यक है। इसलिये व्यक्ति को राज्य की आज्ञा

\* हीयेन के अनुसार अधिकारों का सुष्ठा राज्य ही है इसलिये हीयेन के दर्शन में राज्य के विरुद्ध अधिकार का प्रस्त उठ ही नहीं सकता।

के विरुद्ध जाने का अधिकार है। अर्थात् केवल यह है कि जिन अधिकारों की मान्यता व्यक्ति राज्य से चाहता हो वे (१) सामाजिक हित में हों और (२) समाज

राज्य का विरोध करने के पूर्व यह वैजना आवश्यक है कि (१) इससे सामाजिक हित पूरा होता है (२) अन्य व्यक्ति भी इस नये अधिकार की माँग करते हों (३) नये अधिकार के लिये सामाजिक व्यवस्था को भी अतरे में आना या सकता है।

की व्यवस्था को अतरे में आना सकता है। हम एक अधिकार के लिये पूरी अधिकार व्यवस्था को नष्ट नहीं कर सकते। फिर उस अधिकार को अन्य लोग भी इतना ही महत्वपूर्ण समझते हैं यह जानना भी आवश्यक है। इसलिये राज्य का विरोध करने के पूर्व व्यक्ति को सबसे पहिले उस अधिकार की धोर नीतियों का ध्यान आकषित करना चाहिये और उसके पक्ष में लोकमत तैयार करना चाहिये। लोकमत तैयार होने पर ही विरोध उचित होता। किन्तु हम इस विरोध को उचित ही बता सकते हैं इसे व्यक्ति के कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

इस अधिकार की बर्णना करने में धीन में यह स्पष्ट कर दिया है कि समाज राज्य से अधिक महत्वपूर्ण है और राज्य केवल समाज का एजेन्ट है। राज्य की धारणा मानना अनिवार्य नहीं है क्योंकि व्यक्ति ही इस बात को निश्चित करता है कि कौन से नियम उसके सामाजिक हित में हैं।

( १० )

पुत्र

राज्य का भाव समाज में पाई जाने वाली अधिकार व्यवस्था को बताने रखता है। इस अधिकार व्यवस्था में जीवन का अधिकार प्रमुख है। हम पहले ही यह कह धामे हैं कि धीन व्यक्ति को धापन नहीं साम्य मानता है इसलिये व्यक्ति का जीवन अधिकार सबसे महत्वपूर्ण है। वरन्तु जीवन अधिकार और स्वतंत्रता के अधिकार में हम कोई अन्तर नहीं कर सकते क्योंकि बिना

स्वतंत्रता के जीवन अर्थ है। जब तक मनुष्य को स्वतंत्रता नहीं होगी उसका जीवन असुख होमा क्योंकि स्वतंत्रता के द्वारा ही मनुष्योचित कार्य कर व्यक्ति पूर्णता या आत्म सम्तोष प्राप्त करता है। इसलिये मनुष्य होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता और जीवन का अधिकार होना चाहिये जिसमें वह सामान्य हित में अपना योगदान देकर अपनी बुद्धि और इच्छा का प्रयोग कर अपने साक्षात्कार कर सके। इस दृष्टि से वास प्रथा और वसिष्ठ धर्मशास्त्र के नियमों में पाई जाने वाली बर्तनी नीति अनुचित है।

स्वतंत्रता का अधिकार राज्य के अन्दर देने के अधिकार से सीमित होता है परंतु जैसा हम ऊपर बता आये हैं अन्दर का एक मात्र उद्देश्य स्वतंत्रता का पोषक है वह व्यक्ति के विकास में आने वाली बाधा को हटाने के लिए ही प्रयुक्त होता है।

युद्ध काल में भी राज्य व्यक्ति के जीवन अधिकार की रक्षा नहीं रखता इसलिये ग्रीन के अनुसार युद्ध एक श्रेय है जिससे राज्यों को मुक्त होना चाहिए। ग्रीन के युद्ध सम्बन्धी विचार हीनेल के विचारों से बिलकुल भिन्न हैं। हीनेल का कहना था कि युद्ध में ही राज्य का जीवन पूर्ण रूप से विकसित होता है पर ग्रीन युद्ध को राज्य का कलङ्क मानता है। इसलिये ग्रीन के विचारों की विस्तृत व्याख्या कर लेना आवश्यक है।

पहिले ग्रीन युद्ध के संभव में प्रचलित विचारों को लेता है और उनमें निहित तथ्यों का निष्कर्ष करता है।

(१) युद्ध लोभ युद्ध को बढ़े पैमाने पर किया जाना चाहता है अर्थात् कह सकते हैं परन्तु ग्रीन के अनुसार युद्ध और हत्या में ही अंतर है। युद्ध का उद्देश्य सामाजिक हित होता है जब कि हत्या का उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ से संबंधित होता है दूसरे हत्या करने वालों के हित में किसी विशेष व्यक्ति के विरुद्ध ईर्ष्या व द्वेष होता है पर एक सैनिक जब सन् को बंदूक की गोली से समाप्त करता है तो उस सन् के विरुद्ध उसकी कोई व्यक्तिगत ईर्ष्या या द्वेष नहीं रहता। इसलिये युद्ध हत्या नहीं है, फिर भी इसके द्वारा राज्य व्यक्ति के जीवन अधिकार को सीमता है। जो लोभ यह समझते हैं कि सैनिक अपनी स्वच्छता से सेवा में जाती होती है इसलिये राज्य पर इन सैनिकों को जीवन अधिकार से संबंधित करने का श्रेय नहीं समझा में बड़ी भूल करते हैं। समाज का उद्देश्य ही है सभी व्यक्तियों की भागीदारी और सैनिक इस में अपना योगदान नहीं। राज्य के



सिधे ही वे अपने जीवन को कठरे में डालते हैं, अपने सिधे नहीं। इसलिये राज्य जीवन अधिकार को भंग करने के आरोप से मुक्त नहीं हो सकता। कुछ कोई प्राकृतिक प्रकोप या घाकस्मिन्त घटना नहीं है राज्य की नीति ही कुछ के सिधे व्यक्ति की बिबल करती है इसलिये सेना का निर्माण व्यक्ति की स्नेहता पर नहीं राज्य की नीति पर आधारित है।

(२) कुछ लोग कुछ को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं उनका कहना है कि —

स्वाय और नैतिक जीवन की रक्षा के लिए कुछ अनिवार्य होता है कुछ काम में सबैव ही इस प्रकार के नारे समते हैं कि यह कुछ प्रजातंत्र को सुरक्षित करने को है आत्म निर्णय के लिए है सत्य की विजय के सिधे है धारि धारि। इन कुछों को हम भन्ने ही धारदर्श का नामा पहना हैं परंतु इतिहास यह स्पष्ट करता है कि अधिकतर कुछ स्वार्थ सिद्ध के लिए ही हुए हैं। प्रथम महायुद्ध के धारदर्शवादी विद्वान्ध और उक्त समय की गई गुप्त संधियाँ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। चीन का कहना है कि पिछले ४० वर्षों में स्वतंत्रता के लिए हुए कुछों में केवल गणतंत्र हासिल का कुछ जमनी का दीपोधिपन के बिबल और इटली का धास्ट्रिया से कुछ स्वायपूर्ण कहे जा सते हैं।

पर क्या कुछ से धात्म स्वाय कीरता सहनशीलता पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति के कुछ व्यक्ति में बिबलित होते हैं? जर्मन सेनाक धरस्य ही कुछ के इस पक्ष पर जोर देते हैं परंतु हमें यह भी स्मरना चाहिए कि कुछ अच्छी प्रकृतियों के साथ ही धामुरी प्रकृति भी आपत करता है। कुछ राज्य क सर्वश्रेष्ठ तब नवयुद्धों को ही समाप्त करता है और फिर अच्छे गुणों के विकास के लिए हमारे पास क्या धम्य धातिपूर्ण साधन नहीं हैं?

चीन कुछ का बुरा समझता है क्योंकि हमसे व्यक्तियों का जीवन अधिकार समाप्त होता है। केवल उसी समय कुछ अधिन निर्धार देता है जब कुछ मनुष्य के नैतिक विधान के लिए अनिवार्य हो गया हो। जवाहरलाल के लिए धास्ट्रिया के बिबल इटली की स्वतंत्रता का कुछ धारस्यक का क्योंकि सभी इटली निवासी धमनी स्वतंत्रता का उपघाम कर सते थे। परन्तु इन परिस्थितियों में कुछ स्वय धरणा नहीं है। इटली की स्वतंत्रता का कुछ धास्ट्रिया धात्त इटली पर

भाषित्य जमाने की बुराई को दूर करने के लिए हुमा या इसलिए जब

### मुझ

मुझ को हम भले हो हत्या न करें पर मुझ राज्य की अपरिपक्वता का परिणाम है ये राज्य के स्वार्थ के लिये होते हैं। मुझ से जिन मुर्खों का विकास होता भी है उन मुर्खों को शांति में भी विकसित कर सकते हैं। अन्धे मुझ भी किसी न किसी बुराई के कारण ही होते हैं।

है वे यह भ्रम जाते हैं कि इस प्रकार अपने स्वार्थ को पूरा नहीं कर रहा है। बल्कि इसलिये होते हैं कि राज्य अपने कर्तव्यों का यथोचित पालन नहीं करता।

विरह राज्य

राज्य का कर्तव्य है उस अधिकार व्यवस्था को बनाए रखना जिसके द्वारा मनुष्य अपना धर्म साक्षात्कार कर सके। मनुष्यों के समुदायों का जो

### विरह राज्य

राज्य विरह नतिक्रता के लिये एक प्राथमिक कड़ी है राज्य तर्क श्रेष्ठ नहीं।

मानव हित साधन के लिये राज्य को अन्य राज्यों से संघर्ष को नहीं सह्यारिता की आवश्यकता है।

राज्य और विरह नतिक्रता की कल्पना कर सकता है जिसमें मानव अन्य राज्यों के मानव के साथ सामान्य हित की बैठना प्राप्त कर सकता है। इस तरह हीन हीनेस की तरह समुदायों की कम व्यवस्था में राज्य को अन्तिम नतिक संस्था नहीं मानता। अन्तिम नतिक समुदाय विरह राज्य है। ज्यों ज्यों

हम अधिक बुराई को हटाने के लिए मुझ बीसी कम बुराई को अपनाते हैं तो हम मुझ को अक्षय समझने समते हैं। मुझ स्वयं में अन्धता नहीं है समाज में कहीं न कहीं बुराई प्रचलित है सभी मुझ होते हैं। परन्तु क्या मुझ बीसे बुरे सामग्री को स्वतंत्रता के लिए अपनाता स्वयं मनुष्य के लिए धर्म मर्त्यना का विषय नहीं है।

जो सोच यह समझते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुर्खों का होना अनिवार्य

के मुझ केवल इसलिये होते हैं कि राज्य अपने कर्तव्यों का यथोचित पालन नहीं करता।

विकास हो रहा है बसके अधिक से अधिक धर्म साक्षात्कार की संभावना हो रही है। इसलिये राज्य धर्म व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ संस्था है परन्तु राज्य के परे अन्तर्राष्ट्रीयता भी है विरह बीरत्व भी है। राज्य में रह कर राज्य की सामाजिक नैतिकता पर चिन्तन कर

मनुष्य राज्य की सीमा के परे विरह

राज्य और विरह नतिक्रता की कल्पना कर सकता है जिसमें मानव अन्य राज्यों के मानव के साथ सामान्य हित की बैठना प्राप्त कर सकता है। इस तरह हीन हीनेस की तरह समुदायों की कम व्यवस्था में राज्य को अन्तिम नतिक संस्था नहीं मानता। अन्तिम नतिक समुदाय विरह राज्य है। ज्यों ज्यों

मनुष्य राज्य की सीमा के परे विरह राज्य और विरह नतिक्रता की कल्पना कर सकता है जिसमें मानव अन्य राज्यों के मानव के साथ सामान्य हित की बैठना प्राप्त कर सकता है। इस तरह हीन हीनेस की तरह समुदायों की कम व्यवस्था में राज्य को अन्तिम नतिक संस्था नहीं मानता। अन्तिम नतिक समुदाय विरह राज्य है। ज्यों ज्यों

राज्य सभ्ये लोक हित की भावना से काम करेगा त्यों २ उसमें यह भावना बाधित होगी कि लोक हित की भावना दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध करने में नहीं है बरन् दूसरों के साथ सहयोग द्वारा काम करने में है। हम विश्व राज्य घसे ही स्थापित न कर सकें परन्तु मानवता की भावना तो हममें विद्यमान है और इस मानवता की सामान्य चेतना के आधार पर हम उस विश्व नैतिकता की चारणा को प्राप्त कर सकते हैं जिसके आधार पर हम राज्य की नैतिकता का राज्यो के संबंधों का मूल्यांकन कर सकते हैं। इस प्रकार चीन का कहना है कि राज्य के भीतर पाई जाने वाली सामान्य हित की सामान्य चेतना का विकास हम मानव हित की सामान्य चेतना में या अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में देख सकते हैं।

( ११ )

### चीन का स्थान

चीन में अपने समय की परिस्थितियों के अनुकूल उदारवादी सिद्धान्त को बताया और पुराने व्यक्तिवादी विचारकों के इस विचार का खंडन किया कि राज्य एक आवश्यक बुवाई है। उसने पुराने बस सिद्धान्त और सामाजिक समझौते के स्थान पर फिर से उदारवादी सिद्धान्त स्थापित किया और व्यक्ति और राज्य में उदारवादी संबंध जोड़ा। राज्य एक नैतिक संस्था है राज्य में रह कर ही मनुष्य अपना विवास कर सकता है।

इंमेश्वर के कोसमिज घने अरनाह्य घादि समवासीय भेसकों में भी इस प्रकार की प्रकृति दिखाई देती है और वे सभी हीयेल के दर्शन से प्रभावित हो कर राज्य का अपना निजी अस्तित्व स्वीकार करते हैं, परन्तु चीन ने एक और तो बस बद्ध सिद्धान्त रखा दूसरी ओर अपने हीयेल के दर्शन को संयोजित कर इंमेश्वर की परम्पराओं के अनुकूल बनाया। इसमें सन्देह नहीं कि हीयेल का विशेष प्रभाव चीन पर पड़ा है। वह भी विवेक पूर्ण जीवन को मान्यता देता है और हीयेल के समान सारी संस्थाओं में विश्वास की अतिव्यक्ति वाता है। पर वहाँ हीयेल का दर्शन राज्य की लक्ष्यवृत्ता और निरंकुशता स्थापित करता है वहाँ चीन व्यक्ति को ही मान्य मानता है और राज्य को केवल साधन। बाकर का कहना ठीक है कि चीन में प्लेटोवाद की तुलना में अराधुवाद को, और

हीनेस के वर्सन की तुलना में कास्ट के वर्सन को अधिक महत्ता दी गई है । हीनेस के समान वह राज्य को असीमित अधिकार नहीं देता और न मुझ में

देन

प्रीन ने जर्मन आदर्शवाद और बेन्सन के व्यक्तिवाद का मिस कर अपनी समकालीन परिस्थितियों के अनुकूल व्यक्तिवाद को विकसित किया राज्य और समाज के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी राज्य के कार्य क्षेत्र की सीमा निर्धारित की ।

राज्य के क्षेत्र को देखता है । प्रीन के सिद्धान्त का विषय है व्यक्ति और उसकी आरम्भोन्नति । अपने आन्तरिक समूहों की अधिकार व्यवस्था और विश्व नैतिक व्यवस्था दोनों के ही द्वारा राज्य सीमित होता है । प्रीन ने मिस क स्वतन्त्रता संबंधी सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट किया मिस का स्व-सम्बन्ध और पर संबंधी कार्य विभाजन स्पष्ट नहीं था परन्तु प्रीन ने यह कह कर कि राज्य का कार्य-

क्षेत्र मनुष्य के आन्तरिक जीवन से संबंध रखने वाली नैतिकता नहीं हो सकता और राज्य व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता व्यक्ति की स्वतन्त्रता से शत्रु को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया है । राज्य केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है उसका अपना निजी नैतिक महत्त्व है । यदि वह स्वयं नैतिकता प्रदान नहीं करता तो नैतिकता की व्यवस्था को बनाये रखता है व्यक्ति क जीवन में जाने वाली बाधाओं को हटाता है । राज्य एक नैतिक इकाई है और राज्य का नैतिक महत्त्व है ।

इस प्रकार प्रीन ने जर्मन आदर्शवाद और बेन्सन और मिस के उप योजितावाद के तत्त्वों में संशोधन कर एक व्यावहारिक वर्सन दिया और यह बताया कि नहो राज्य प्रकृष्ट है जो अधिक से अधिक व्यक्तियों को मुष्ठी नैतिक और मानवीय जीवन दे सके । इस तरह उसने एक और व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक और दूसरी ओर आदर्शवाद को अधिक सम्य और सुरक्षित बनाया ।

## महात्मा गांधी

(१८६६-१९४८)

- |                              |                                      |
|------------------------------|--------------------------------------|
| ( १ ) मानवता के समर्थक ।     | ( २ ) राजनीतिक चार्पेटिक ?           |
| ( ३ ) धार्मिक आधार ।         | ( ४ ) नैतिक विचार ।                  |
| ( ५ ) व्यक्ति और समाज ।      | ( ६ ) अहिंसा ।                       |
| ( ७ ) सत्याग्रह ।            | ( ८ ) स्वतन्त्रता समानता और अधिकार । |
| ( ९ ) राज्य ।                | ( १ ) धार्मिक व्यवस्था ।             |
| ( ११ ) पांडीबाप और समाजवाद । | ( १२ ) राजदर्शन में स्थान ।          |

( १ )

### मानवता के समर्थक

महात्मा गांधी भारत के राष्ट्र पिता हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भारत को स्वतन्त्रता प्रिस्ट, बल्कि भारत के सामाजिक धार्मिक नैतिक और राजनीतिक जीवन में एक नई केंटना प्रावृत्त कर नये भारत का निर्माण किया। १९वीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने भारत में जो पुनजागरण की प्रवृत्ति प्रकृतित की थी उसका पूर्ण प्रकाश होने महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में मिलता है। राजा राममोहन राय सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में हमारे सामने सुधारक के रूप में आवे थे और जिस प्रकार श्रेष्ठ प्रकाश बिखारित होकर राष्ट्रपीय पाठकों में फैलता है, उसी प्रकार राजा राममोहन राय का पुनर्जागरण आन्दोलन जतीसरीं शताब्दी के समृद्ध परमहंस

विश्वेकान्तव्य ब्यानन्व एनी बेसेन्ट के धार्मिक ध्यान्वोसनों रानाडे योबसे धीर तिलक के सामाजिक ध्यान्वोसनों में तथा कांग्रेस द्वारा बनाये गये राजनीतिक ध्यान्वोसनों में विभक्त होता दिखाई देता है। इसमें सविह नहीं कि १९वीं सताब्दी के ये सामाजिक धीर राजनीतिक ध्यान्वोसग एक दूसरे से संबंधित थे, परन्तु इनका पय असग असय बा। महारमा गांधी में ये सब ध्यान्वोसग फिर केन्द्रीयभूत हो गते हैं धीर महारमा गांधी भारतीय जीवन के सब पशों के नेता होकर स्वैत ज्योति के रूप में सारे भारतीय जीवन को प्रकाशित धीर मार्ग प्रदर्शन करते हैं।

महारमा गांधीजी का कहना बा कि "मैं ऊपर से तो राजनीति का बेष लिये हूँ पर हृदय से धार्मिक स्वक्ति हूँ"। गांधी सचमुच में महारमा पहिले से राजनीतिज्ञ बाद में। धार्मिक प्रेरणा ही उन्हें राजनीति धीर सामाजिक क्षेत्र में लीचकर लाई थी। गांधीजी ने सिखा है कि "मैं भगवान को मानव समाज से पूबक नहीं पा सकता। मेरा बर्म भगवत सेवा धीर इसी कारण मानव सेवा है।" एक दूसरे ढबसर पर उन्होंने हरिजन से सिखा बा कि "यदि मैं समझता कि भगवान मुझे हिमासय की बुका में मिलेंगे, तो मैं तुरन्त वहाँ जाता जाता, पर मैं जानता हूँ कि मैं उन्हें मानव समूह से पूबक नहीं पा सकता। इसलिये महारमा गांधी का लक्ष्य है—ईस्वर प्राप्ति। समाज सेवा तथा राजनीति भगवत प्राप्ति के ढबसर प्रदान करते हैं। ईस्वर को वे सत्य के नाम से भी पुकारते थे इसलिय वे अपनी धारम-कथा को सत्य के साथ प्रयोगों की कथा' कहते हैं।

बैरिट्टी पास करने के पदचात् उन्होंने १८९१ से ही दक्षिण अफिरा में सार्वजनिक जीवन में भाग लेना प्रारंभ किया बा। वे राजनीतिक जीवन में उतरे थे क्योंकि उन्होंने देखा कि दक्षिण अफिरा के विद्रिप्त राज्य में भारतीयों को मानवता के गते कोई अधिकार नहीं है। वे विद्रिप्त के सत्ता विरोधी नहीं थे बरन् मानव अधिकार के समर्थक थे। उन्होंने दक्षिण अफिरा के बोर मुड में धीर बूसू जित्रोह में सरकार का शाष भी दिया बा धीर इसके लिये उन्हें साई-हाकिम के द्वारा कैसरे हिंद का स्वर्स परक भी मिला बा। १९१४ के मुड में भी उन्होंने विद्रिप्त सत्ता को अपनी सेवामें अर्पित की थी। विद्रिप्त सत्ता को वे स्वभावतः अण्डा समझते थे इसलिये यदि उन्होंने दक्षिण अफिरा में अपना ध्यान्वोसग जसाया बा तो केवल 'मूल रूप में अण्डी इस राजनीतिक

सत्ता में जो सुधारवादी भी उन्हें हटाने के लिये। १९२२ में जब उन पर असहयोग आन्दोलन के कारण मुकदमा चलाया गया था तो इस अवसर पर उन्होंने कहा था "मैंने सरकार को अपना ऐच्छिक घोर हार्दिक सहयोग दिया है। वहाँ भी मैंने उसमें दोष पाये वहाँ उसकी मैंने स्वतन्त्र रूप से आलोचना की है परन्तु मैं उसका विघ्नस महीं चाहता।" १९१७ में मद्रास में ब्रिटिश साम्राज्य के संबंध में उन्होंने कहा था मैंने देखा कि ब्रिटिश साम्राज्य के अपने कुछ धारण हैं जिनसे मुझे प्रेम हो गया है। उन धारणों में से एक धारण यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्मान स्फूर्ति घोर अपनी धारणा के लिये पूर्ण स्वतंत्रता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महारत्ना बापी सत्ता के विरोधी नहीं थे वे प्रत्येक राजनैतिक सत्ता को अपना सहयोग देने के लिये तैयार थे बस उन्हें मानव को अपनी धारणा के अनुसृत कार्य करने की स्वतंत्रता हो।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उन्हें यह अनुभव हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है। इस काम में रजिस्ट्रेशन के द्वारा भारतीयों की वास्तविक स्वतंत्रता छीनने का प्रयत्न किया गया बलियाँबाला बाब और पंजाब के हत्याकांड में तथा टर्की के संबंध में मुसलमानों को दिये धादवापनों के ठोकरों में उन्होंने देखा कि इस सरकार के साथ सहयोग करना पाप के साथ सहयोग करना होगा इसलिये उन्होंने ब्रिटिश सरकार से असहयोग शुरू कर दिया और १९२२ में असहयोग आन्दोलन चलाया। यह आंदोलन भी उन्होंने केवल मानव-अधिकारों की सुनिश्चित करने के लिये ही प्रारंभ किया था। अपने मुक्त-मैंने वे सपर नहूँ थे।

"वास्तव में मैं इस बात में विश्वास करता हूँ कि मैंने यह बताकर भारत और इंग्लैंड की सेवा की है कि जिस प्रकार के प्राकृतिक राज्य में हम रह रहे हैं उसने असहयोग करना आवश्यक है। नरे तुच्छ विचार में सुधार के साथ असहयोग करना हवाप जतना ही आवश्यक कृतम्य है जितना अर्थात् के साथ सहयोग करना।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि महारत्ना बापी के विचारों का केन्द्र व्यक्ति और मानवीय स्वतंत्रता है। १९२० में जब उन्होंने भारत के लिए स्वराज्य की घोषणा की थी तो वे स्वराज्य दर्शाते नहीं चाहते थे कि भारतीयों में स्वायत्तता की शक्ति का दर्द है। उनकी दृष्टि से स्वराज्य दर्शाते धारण

**सर्वोदय के समर्थक**

१६ वीं अताब्दी के सभी धार्मिक-जन गांधी जी में केन्द्रित होते हैं। धार्मिक प्रेरणा उन्हें राज नीति में साईं क्योंकि भगवान मानव समाज में ही मिल सकता है। भगवान सत्य का नाम है इसलिये जन्ता जीवन 'सत्य के साथ प्रयोगों की कथा'

१९२० के पूर्व उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य से प्रेम था ( बोर पुंड खुदु बिरोध, प्रथम महापुंड ) क्योंकि 'जतमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी धात्मा के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है।

पर एलिट एगड जलियां बला बला से उन्हें यह सरकार पाप पूर्ण लगी, इसलिये लसहयोय। उनकी स्वराज्य की मांग नैतिकता के लिय थी।

या कि पराधीनता में धार्मिकों का इतना नैतिक पठन हो गया है कि वे अपने को धासित करने की क्षमता को रहे हैं इसलिये उनका स्वराज्य का उद्देश्य था—ब्रिटन से श्रुता प्राप्त करना नहीं— बरन् धासितों में नैतिक क्रान्ति करना और उनके नैतिक पठन को बचाना। इस दृष्टि से स्वराज्य धासक बर्ग द्वारा भी गई थी घंट नहीं बिरोधी सत्ता सं मुक्ति नहीं बरन् स्वराज्य बहु परिस्थिति है जिसके लिये धासितों को संघर्ष करना होगा अपने को अनुसा-सित करना होया अपने नेताओं द्वारा बचाये मार्ग पर चलकर उत्तरदायी नागरिक बनना होना। \* गांधी जी के बर्धन का यदि कोई सत्य है तो वह है स्वराज्य और सर्वोदय—सभी मनुष्यों का पूर्ण विकास जिसके द्वारा ही मनवत्प्राप्ति संभव है।

( १ )

**राजनीतिक धार्मिक ?**

धर्म राजनीतिक धासितों की धाति महात्मा पांधी ने हमें मानव धाधिकार और स्वतंत्रता का कोई क्षमबद्ध सिद्धान्त नहीं दिया और न उन्होंने राज्य के स्वल्प तथा राज्य और व्यक्ति के संबंधों का कोई विस्तृत बिरोधपण ही दिया है।

वे धर्म राजनीतिक धासितों के समान धार्मिक नहीं थे। वे कर्मयोगी थे और उन्होंने जो कुछ मिखा वह केवल सामने धाई परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करने के लिये। इसलिये उनका जीवन सत्य के साथ प्रयोगों की कथा है। प्रबोध धर्म से ही मासूम होता है कि उन्होंने कोई निरिचत बाह नहीं दिया। जैसी समस्या उनके सामने धाई उस पर उन्होंने अपने धाचार

भारत बोध—महात्मा गांधी—पोलिटिकल धासाधर ?



प्रकट किये। गांधी जी ने ३० सितम्बर १९३६ के हार्जिन में लिखा है कि 'सिखों के समय में यह नहीं सोचना है कि मैंने पहिले क्या कहा है। मेरा उद्देश्य किसी विषय पर पहिले कहे हुए कथनों के अनुक्रम बाध कहना नहीं है। बल्कि किसी कारण पर जो बात मुझे सत्य दी जाती है उसे व्यक्त करना है। परिणाम यह हुआ है कि मेरा विकास सत्य से सत्य की ओर हुआ है"। इसलिये उनका बर्तन वास्तविक परिस्थितियों पर चिंतन मात्र है।

पचास वर्ष के कर्मयोगी जीवन में महात्मा गांधी को जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था और परिस्थितियों के अनुसार उनके कार्य और विचार भी बदले हैं 'मेरे शब्द और कार्य परिस्थितियों के अनुसार ही होते हैं। फिर भी गांधी जी के विचारों में एकत्वता है और इस एकत्वता के कारण ही हम उनके स्पष्ट भावों और कार्यों में एक सिद्धांत को देखते हैं। इसी सिद्धान्त को हम गांधीवाद कहते हैं। महात्मा गांधी स्वयं अपने को किसी सम्प्रदाय या सिद्धान्त का प्रवर्तक नहीं मानते थे। उन्होंने जब इण्डिया पत्र में लिखा था कि 'मैंने किसी नये सिद्धान्त की सृष्टि न करके प्राचीन सिद्धान्तों को नवीन ढंग से पुनरावृत्ति की है'। परन्तु उनके विचारों की एकत्वता ने हमें एक नया सिद्धान्त प्रकट किया है जिसे हम मूलतः राजनैतिक सिद्धान्त ही नहीं नैतिक सिद्धान्त कह सकते हैं। यह

### गांधीवाद

कोई सम्मिश्र सिद्धान्त नहीं क्योंकि 'मेरा विकास सत्य से सत्य की ओर' 'मेरे शब्द और कार्य परिस्थितियों के अनुसार'।

गांधीवाद मानवता का यह सिद्धान्त है जो समस्त जगत को राज-मय मान कर सत्य और अहिंसा द्वारा सबके सम्बन्ध का प्रयत्न करता है।

इसलिये गांधीवाद धर्म है (करांची अधिवेशन)

करांची अधिवेशन के समय पर उन्होंने कहा था कि गांधी मर जायगा परन्तु गांधीवाद बरकरार रहेगा। इन सिद्धान्त के अनुसार प्रेम ही ईश्वर है सेवा ही

सिद्धान्त मानवता का सिद्धान्त है जो एक व्यक्ति को और प्राणियों में प्रेमभाव का अंग देकर सत्य और अहिंसा पूर्ण समाजों द्वारा सभी के सम्बन्ध या सर्वोद्यम का प्रयत्न करता है। हिन्दू परम्पराओं और हिन्दू नैतिक धारणाओं को अपनाते हुये भी उन्होंने सत्य अहिंसा उपस्था कम धारि को व्यवहारिक बन देने हुए नया धर्म दिया है और इनसे नई धर्मों व्यक्त की है। महात्मा गांधी सर्वोद्यम को सबसे उच्च और धारण्य सिद्धान्त मानते थे।

धार्मिकता होती है और सभी व्यक्तिगत और सामंजसिक समस्यायें सत्य और अहिंसा द्वारा सुलझाई जा सकती हैं।

मामूला का सिद्धान्त होने के कारण गांधीवाद राज्य और राज्य की संस्थाओं से सम्बन्धित है, प्रधान रूप में नहीं पीण्डरूप में। इसलिये महात्मा गांधी को हम अन्य राजनीतिक विचारकों की भाँति पूर्णरूप से राजनीतिक दार्शनिक नहीं कह सकते।

( ३ )

### धार्मिक आधार

रोसोरोला का कहना है कि गांधी जी के सिद्धान्तों की तुलना हम दो मन्त्रियों वाम विद्याम गवन् से कर सकते हैं जिसके नीचे की मन्त्रिम घमें क प्रभार पर लड़ी है, और जिसके ऊपर की मन्त्रिम उनके सामाजिक और राजनीतिक प्रान्थिमनी से बनी है। महात्मा गांधी धार्मिक पुरुष थे और उन्होंने जीवन का उद्देश्य बनाया था भवत् प्राप्ति। उनका कहना था कि "मैं वायु और पत्त के बिना तो रह सकता हूँ, परन्तु गगनान के बिना नहीं। यदि कोई भगवान पर से मेरा विश्वास हटा दे तो मैं मर जाऊँगा" परन्तु उनकी धार्मिक चेतना भारतीय सभ्तों की धार्मिक चेतना से भिन्न है। उनकी धार्मिक चेतना का धन्त हम वास्तव में नैतिक चेतना में देखते हैं। उनका कहना था कि ईश्वर की प्राप्ति समाज के प्रसहाय व्यक्तियों की सेवा द्वारा ही हो सकती है।

महात्मा गांधी तत्त्वज्ञानी नहीं थे और न उन्होंने ईश्वर के संबंध में कोई क्रमबद्ध विचार दिये हैं। कभी वे ईश्वर को सत्य, कभी राम और कभी एक रक्ष्यमय बर्लनातीत सत्ति के रूप में देखते हैं। संय इण्डिया में उन्होंने लिखा है कि "भगवान एक अनिश्चयनीय निगूड सत्ता है जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। मैं उसे देख तो नहीं सकता पर उसका अनुभव करता हूँ। यह बड़ी प्रसहय सत्ता है, जो अपनी अनुभूति करती है।" -- -- -- यह बाह्य प्रमाणों द्वारा नहीं बल्कि उन लोगों के धनीकिक व्यवहार एवं चरित्र द्वारा सिद्ध होती है, जो अपने प्रन्धर गगनान की वास्तविक सत्ता की अनुभूति करते हैं"।\* वे ईश्वर को व्यक्ति के रूप में नहीं मानते थे। परमात्मा एक सर्वोच्च और सर्वे व्यापक नियम है, जिसके विपरीत एक पत्ता भी नहीं हित सकता।

परन्तु ईश्वर एक प्राकृतिक नियम या शक्ति या सृष्टि मात्र ही नहीं है। पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होते हुए भी वह इस ब्रह्माण्ड से प्रेम करता है और अपने

भगवान

धर्म की मूर्ति पर ही उनके राजनैतिक प्राप्तिजनक ऋण ( रोमी रोमी ) पर धर्म वास्तव में नैतिकता है क्योंकि भगवान् अज्ञानियों की सेवा से मिलता है।

भगवान् धर्म है, धर्म है, निपुण सत्ता है, भक्तों का सहायक है इले साधना विद्याय प्रार्थना से पाया जा सकता है।

परिष्कारों में भगवान् ने मेरी रक्षा की है।”

इस प्रकार भगवान् केवल प्राध्यात्मिक शक्ति ही नहीं वह अपने भक्तों का सहायक भी है।

गांधीजी वास्तव में भगवान् को अविद्या कहते थे। इसकी प्राप्ति बुद्धि या विवेक के द्वारा नहीं परन्तु साधना विद्याय और यज्ञ के द्वारा ही सकती है। प्राप्ति हमारी धर्मता की पुकार है, और यही ईश्वर को मत्त की ओर आकर्षित करती है इसीसिद्धे महारत्ना गांधी के जीवन में प्रार्थना का प्रमुख स्थान था।

(४)

नैतिक विचार

गुरुदेव के द्वारा वास्तविक रूप में मर्म में विश्वास करत हुए गांधीजी कहते थे कि इन पूरे ब्रह्माण्ड में ईश्वर व्याप्त है इससिद्धे सभी जड़ पत्तन धारण में संबन्धित है। कोलरिज की इन पंक्तियों के अनुसार,

' He prayeth best, who loveth best  
All things both great and small,  
For the great God, who loveth us,  
Has made and loves them all.

महात्मा गांधी भी इस बात में विश्वास करते थे कि समस्त प्रकृति से प्रेम करना ईश्वर की सच्ची प्राप्ति है। ईश्वर दखि असह्य व्यक्तियों के जीवन में बखिनारायण के रूप में बिबाई देत हैं। लोकेनेवा ही भगवान की सेवा है। इस प्रकार कमरूप का जीवन में बिधय महत्व है और धरने सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह 'स्वधर्म' का निर्वाह ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अनासक्त कर्म के द्वारा ही मनुष्य सत्य की प्राप्ति कर सकता है।

बीब से प्रेम करना ही अहिंसा है। अहिंसा शांति ही अति सत्याग्रही हो सकता है और ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। महात्मा गांधी के दर्शन में अहिंसा केवल हिंसा का विरोधी शक्ति नहीं है इसका एक व्यापक धर्म है—समाजसुख धर्म।

कमरूपी होने के कारण और समाज सेवा द्वारा ईश्वर प्राप्ति में बिश्वास रखने के कारण महात्मा गांधी केवल धार्मिक पुण्य ही न भ सन्त न भ बरन् बड़े भाई समाज सेवा के कमरूपी भी थे। उनके धर्म की कारण नतिकता और समाज सेवा से संबंधित थी। इस कारण जब हम कहते हैं कि महात्मा गांधी के बिचारों का आधार धर्म है तो हमें यूरोप के मध्ययुगीन

|  |  |
|--|--|
| नतिक बिचार   | सत्तों के बिचार से उनक बिचारों की समस्त प्रकृति में प्रेम करना, स्वधर्म का निर्वाह बखि नारायण की आराधना है। बीब से प्रेम अहिंसा है।  |
| बड़ और ईसा असह्यों के प्रति प्रेम और सेवाभाव के कारण महान से इतलिये धर्म का धर्म है समाज की निष्पन्न सेवा। | सत्तों के बिचार से उनक बिचारों की प्रपन्न रखना अहिंसा। उनकी धर्म की भावना मानवता की भावना है। इनी कारण से बुद्ध और ईसा की महान व्यक्ति मानते थे क्योंकि उनका जीवन समाज के असह्य व्यक्तियों के प्रति धर्मीय प्रेम और अनासक्त पूरा था। महात्मा जी की धार्मिक भावना |

केवल धार्मिक धर्म मुक्ति से संबंधित नहीं है बड़ समाज के जीवन से संबंधित है। महात्मा गांधी जी लिखते हैं, 'धनान से धर्म के उन्मुख करन का प्रयत्न मुक्तता है। धर एसा प्रयत्न सत्य मा हा गया तो इसका धर्म होगा समाज का सर्वनाथ'।

(२)

### व्यक्ति और समाज

जीन के समाज ही महात्मा गांधी व्यक्ति को शक्ति मानत हैं, साधन नहीं। व्यक्ति का उद्देश्य है पूर्णता प्राप्ति करना और ईश्वर की प्राप्ति। अहिंसा ईश्वर

बहु बेतनमय समस्त विश्व में व्याप्त है इसलिये जीवनमान से प्रेम करके ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। जइसिने लिखा है ‘जब जीवनमान पूरा है, और मेरे सहित समस्त विश्व में समानान व्याप्त है, तो मैं किसी को अपना अनु कर्षण करता हूँ, किसी को दुष्ट कैसे मान सकता हूँ। और किसी से घृणा कैसे कर सकता हूँ। मैं मैं किसी से डर सकता हूँ, और न किसी को डर सकता हूँ। मैं प्राण्य सौम्यों की अपेक्षा किसी को अपने अधिक निकट कैसे मान सकता हूँ। कोई भी मेरे लिए दुश्मन नहीं है कि मैं किसी साम्य के लिये किसी का बलिदान कर दूँ।’

इस प्रकार पंथी जी न केवल मनुष्य में समानता देखते थे बल्कि वे प्रत्येक प्राणी को चाहे वह कितना ही दुष्कृत क्यों न हो प्रेम से देखते थे। इस दृष्टि से उनका प्रेम केवल अपने देववासियों तक ही सीमित न था बल्कि मानव जाति के लिये था। वे विश्व बंधुत्व में विश्वास करते थे और यदि भारतवासियों से उनका विशेष प्रेम था तो केवल इसलिये की प्राण्य देवों की अपेक्षा इस देश के बासी अधिक प्रसह्य थे। ‘मेरी राष्ट्रीयता पहरी अन्तराष्ट्रीयता है।’

व्यक्ति का सर्वोच्च ध्येय केवल अपने धर्मर ईश्वर की सिद्धि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति केवल धारम शुद्धि द्वारा हो सकती है। धारम शुद्धि के केवल दो ही उपाय हैं—‘बाहिरी और अन्तर्गत’। वह कि सारे विश्व का स्वामी समान है इसलिये धारम शुद्धि के लिये हमें प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना चाहिये और अत्यन्त के पक्ष को कभी न छोड़ना चाहिये। धारम शुद्धि के लिये यह आवश्यक है कि हमारे धारम भी शुद्ध हों। पंथी जी साम्य और धारम दोनों को पूरा रखने के पक्ष में थे इसलिये मनुष्य का मनुष्य के द्वारा धारम बलात् प्राप्त कठपया जाने वाला बंधुत्व जीवन सुपाठ्य सामाजिक और धारमिक सुधारों को वे समान से हटा देना चाहते थे।

प्राण्य संतों ने भी ईश्वर प्राप्ति की व्यक्तिक उद्देश्य बताया है, परन्तु महारत्ना पंथी का कहना था कि ‘ईश्वर दिमाग्य को पुच्छ न बढकर नहीं— मिल सकता, वह समाज सेवा द्वारा ही मिल सकता है।’ इसलिये मेरा धर्म समस्त सेवा, और इसी कारण जानक-उषा है। निस्वार्थ भाव से सेवा करके ही हम अपनी धारमोन्नति और ईश्वर प्राप्ति कर सकते हैं। पंथी जी लिखते हैं कि ‘दुष्टों की निस्वार्थ भाव से सेवा करना उन पर कोई कृपा या उपहार करना नहीं है, बल्कि स्वयं अपना ही उपहार है।’ इसलिये मनुष्य की वैदिक

### व्यक्ति और समाज

व्यक्ति साम्य है, साधन नहीं। व्यक्ति को परिणाम में विश्वास 'कोई भी मेरे लिए तुल्य नहीं कि मैं किसी साम्य के लिये किसी का बलिदान करूँ।'

विश्व बाबल "मेरी राष्ट्रियता बहुरी अन्तर्राष्ट्रीयता। आत्मशुद्धि, अहिंसा अत्याग्रह आदि शुद्ध साधनों से ही परम विकास और ईश्वर प्राप्ति।

इसमें की सेवा अपना उपकार करना है, इसलिये समाज सेवा का नैतिक अन्वति के लिये समाज आचार्य स्वतंत्र व्यक्ति ही सेवा या नतिकता प्रयत्न सकता है। वैयक्तिक स्वतंत्रता और नियंत्रण का सामंजस्य आवश्यक।

उन्नति के लिये समाज आवश्यक है। चीन की प्राति के भी यह मानते थे कि सामान्य हित की रचना से ही व्यक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार व्यक्तिवारी होते हुए भी गांधी जी ने समाज की अभिवृद्धि नहीं की और उन्होंने सेवा के लिये समाज का अस्तित्व माना। परन्तु समाज व्यक्ति के लिये ही है उसका अपना निजी अस्तित्व नहीं है और समाज के नाम पर व्यक्ति की स्वतंत्रता ही सीमित की जा सकती है। इस संबंध में वे लिखते हैं

"यदि व्यक्ति की महत्ता स्वीकार नहीं की जाती तो समाज यह ही कैसे सकता है। स्वतंत्र व्यक्ति ही ऐच्छिक रूप से समाज सेवा के लिये अपने को पूर्ण रूप से समाज को समर्पित कर सकता है। यदि व्यक्ति से स्वतंत्रता

चीन की जाती है तो व्यक्ति एक मशीन का पुर्जा हो जाता है और समाज विध्वंस हो जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण कर कोई भी समाज नहीं बन सकता।"

महार्त्ता गांधी के पूरे दर्शन में यह भावना निहित है कि व्यक्ति ही अपने आचरण के द्वारा सारे सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन कर सकता है। परन्तु व्यक्ति की स्वतंत्रता अत्यन्त महत्ता नहीं है। चीन की प्राति गांधी जी व्यक्ति की उन्नति में समाज के योग को भी मानते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए वे इस बात को भी मानते हैं कि अनुसूचित सामाजिक श्रेणी है और यदि अनुसूचित में इतना विकास किया है तो केवल इसलिये कि उन्हें अपनी अक्षमता और सामाजिक निर्धनता के साथ सामंजस्य करना सीखा है।



प्रयोग नहीं कर सकते। गांधी जी का कहना था कि कामरत्ता की अपेक्षा हिंसा का ही प्रयोग श्रेष्ठ है। "जहाँ भीला और हिंसा में से किसी एक को चुनना है वहाँ मैं हिंसा चुनने को कहूँगा। हिंसा भीला के लिये प्रादुर्भाव नहीं है क्योंकि इसमें कुप्रभ अस्त्र प्रयोगी से अधिक बहादुरी की आवश्यकता होती है"।

गांधी जी ने अहिंसा के पाँच सिद्धान्त बताये हैं—

(१) अहिंसा का अर्थ है—पूर्ण आत्म-शुद्धि जिस सीमा तक यह मानव के लिए सम्भव है।

(२) अहिंसा की शक्ति मनुष्य में उही अनुपात में अधिक होती है जिस अनुपात में अहिंसाकारी व्यक्ति के पास वह प्रयोग करने की शक्ति होती है, (दूसरे शब्दों में शक्तिशाली का ही अर्थ अहिंसा होता है)।

(३) बिना किसी अपराध के अहिंसा हिंसा से उच्चतर होती है वृत्तों अर्थों में अहिंसाकारी के पास जो शक्ति होती है वह हिंसाशुक्ति अपनाते पर जो शक्ति दिखाई देती है उससे अधिक होगी।

(४) अहिंसा कभी भी हार नहीं खानती जब कि हिंसा का सक्षय अवश्य आती हार है।

(५) यदि हम अहिंसा का सक्षय ही देखें तो अहिंसा का अन्तिम सक्षय विजय है यद्यपि वास्तविकता में अहिंसा में हार और विजय की भावना नहीं होती।

मानव इतिहास में अहिंसा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। प्रारंभ में मनुष्य गर भखी पा बाह में वह पशुओं का शिकार करने समा और उसके बाद इपि युग में आया। इस तरह अहिंसा मानव जाति का नियम है। ईश्वर के प्रेम में विश्वास करने के कारण इसका लेन व्यापक होता जाता है। अहिंसा एक ऐसा अस्त्र है जिसका सभी प्रयोग कर सकते हैं यदि उनमें ईश्वर और मनुष्य जाति के लिये प्रेम है।

भगवान बुद्ध और महात्मा ने अहिंसा की चारखा को केवल व्यक्ति से ही संबंधित किया था परन्तु महात्मा गांधी ने हमका प्रसार सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी किया। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध अहिंसात्मक युद्ध करके ही उन्होंने भारत को स्वतंत्र करवाना था। हिन्दू और मुसलमानी

\*अहिंसा और बुद्ध में अहिंसा

हिन्दुस्तान अक्टूबर १२ १९३५





परचात् मनुष्य अपने सभी व्यक्तिगत और सार्वजनिक समस्याओं को अहिंसा के द्वारा सुलभ्य करता है। पात्र सकारण अपूर्ण है हम अहिंसा को पूर्णरूप से प्राप्त न अपना सकें परन्तु नैतिक विकास का इच्छुक व्यक्ति इसे पात्र के जीवन में अपनाने का प्रयत्न तो कर ही सकता है। यदि मनुष्य में श्रेय का कुछ भी अंश है तो यह साधन विफल नहीं हो सकता।

( ७ )

### सत्याग्रह

कूक समस्त ब्रह्मांड सच्चिदानंद पूर्ण है और व्यक्ति इसी सत् चित् आत्म की प्राप्ति करना चाहता है इसलिये व्यक्ति को सत्याग्रही होना आवश्यक है। सत्याग्रह का अर्थ है, सत्य (ईश्वर) को न छोड़ना सत्य प्राप्त करने के लिये सत्य प्रयत्न करना।

सत्याग्रह के संबंध में महारमा गांधी की विचारधारा धीरे धीरे विकसित हुई है। उन्होंने लिखा है कि, 'मेरे पक्ष-अपक्ष के लिये कोई सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है। सत्याग्रह सत्य की मैं कोई पूरी मीमांसा नहीं बना पा रहा हूँ। मैं अब भी अंधेरे में टटोल टटोल कर चल रहा हूँ।' महारमा गांधी ने जो प्रमुख चार राजनैतिक आंदोलन बनाये थे उनके अग्रणी नाम के निष्क्रिय विरोध अग्रणी योग सविनय अग्रणी और सत्याग्रह। अंतिम आन्दोलन के लिये ही उन्होंने सत्याग्रह शब्द का प्रयोग किया था। निष्क्रिय विरोध की मूल धारणा उन्हें पश्चिमी राज्यों में प्रचलित आन्दोलनों से मिली थी और इसका प्रयोग उन्होंने बरिख अफ्रीका में किया था। परन्तु ज्यों ज्यों उनका सत्य के साथ प्रयोग बढ़ते गये निष्क्रिय विरोध के स्थान पर अग्रणी योग सविनय अग्रणी और अंत में सत्याग्रह आन्दोलन अपनाये गये। महारमा गांधी ने निष्क्रिय विरोध और सत्याग्रह में जो अंतर बताया है, उसी से हमें मालूम होता है कि सत्याग्रह की भावना उच्चतम भावना है। निष्क्रिय विरोध में यद्यपि अहिंसा की नीति को अपनाया जाता है, परन्तु उसमें सत्य बल का भी प्रयोग हो सकता है। सत्याग्रह पूर्ण अहिंसावादी है। निष्क्रिय विरोध में सत्य को परेक्षा करने की भावना हो सकती है वह श्रेय मूलक हो सकता है, परन्तु सत्याग्रह विरोधी को कुछ नहीं पहुँचाना चाहता उसका हृदय परिवर्तन करना चाहता है। वह विरोधी के प्रति प्रथम और उदारता का भाव रखता है। यदि निष्क्रिय विरोध पूर्वजों का अर्थ है, तो सत्याग्रह अर्थों का।

पश्चिम में प्रचलित निष्क्रिय विरोध वैयक्तिक या धीरे-धीरे मुक्त आचार का कि व्यक्ति रूप नैतिक नियमों या अपनी आत्मा के लिये किसी नियम विरोध का विरोध कर सकता है परन्तु महात्मा गांधी का उत्पादक सामाजिक धीरे-धीरे राजनैतिक परिवर्तन का टेक्निक होने के कारण निष्क्रिय विरोध में अधिक व्यापक हो गया है। डॉक्टर बाहुरेट के शब्दों में उत्पादक किसी विरोध नियम के विरोध की रीति से अधिक व्यापक हो गया है। यह सामाजिक बहुरूप धीरे-धीरे मुक्त परिवर्तनों के नियम संघ का सामन बन गया है।<sup>१\*</sup>

सामाजिक जीवन में उत्पादक का अर्थ है अर्थात् दमन धीरे-धीरे प्रोत्साहन के विरुद्ध विपुल आत्म बल का प्रयोग, इसलिये ईश्वर में विश्वास धीरे-धीरे स्वयं बल सहने की शक्ति उत्पादक में आवश्यक है। महात्मा गांधी का कहना था कि उत्पादक प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्निहित अधिकार है।<sup>२\*</sup> यह केवल अधिकार ही नहीं बल्कि कर्तव्य है। उत्पादक का विचार महात्मा गांधी को बोरियो से निम्न या निरर्थक सरकार के अनुचित करों के विरुद्ध हमरा प्रयोग किया था। महात्मा गांधी ने इसके प्रयोग को अधिक व्यापक बनाया। उनका कहना था कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ भी अर्थात् धीरे-धीरे अक्षय विचार है उत्पादक का प्रयोग हो सकता है। अपने कोट्टुम्बिक जीवन में भी गांधीजी ने उत्पादक का प्रयोग किया था। राज्य के नियमों के विरुद्ध उत्पादक का प्रयोग इसी समय हो सकता है, जब उत्पादक ने पहिले जन राज्य के नियमों की पालना की। अपनी आत्म-रक्षा में उद्दीन लिया है कि उत्पादक समाज के नियमों का पालन समझ बुझ कर धीरे-धीरे अपनी स्वेच्छा से करता है, क्योंकि नियमों का पालन करना वह अपना परम कर्तव्य समझता है। नियमों का पालन करने के पश्चात् ही वह जान सकता है कि जिस नियमों का वह पालन करता है वह नहीं ठीक अर्थात् धीरे-धीरे व्यापक है और नहीं ठीक बुरे। सभी छठे बुरे नियमों की मरदा करने का अधिकार प्राप्त होता है।<sup>३</sup> इसका अर्थ यह है कि उत्पादक जब स्वयं बुराई का अनुभव करता है तभी वह विरोध कर सकता है। इसलिये महात्मा गांधी का निष्ठातः पूर्ण रूप से व्यक्तिवादी है। लेकिन सरकार के नियमों का विरोध करने समय उत्पादक को यह भी देखना आवश्यक है कि उसके बावजूद सामाजिक व्यवस्था तो नहीं बिपड़ती।

\* डा. बाहुरेट—बाहुरेट यादवा संसद भूषिका

\*\* १ अर्थ इत्यादि बनवती २, १९९२

† २ आत्म-रक्षा, अर्थात् ३३वाँ

सत्याग्रही के लिये पाँच मुख्य धारणाएँ हैं —

ईश्वर में विश्वास नेता में विश्वास सबसे शरीर धर्म निर्भरता और हड़ता । उसमें कष्ट सहने की सामर्थ्य होनी चाहिये और मनुष्य सामूहिक सत्ता में मुसल नेता की धारणाएँ होती हैं पर प्रत्येक सत्याग्रही को स्वयं अपना नेता बनने को तैयार रहना चाहिये । सत्याग्रह द्वारा न केवल शत्रु का हृदय परिवर्तित होता है किन्तु सत्याग्रही की भी धारणा-सुद्धि होती है । सत्याग्रह

सत्याग्रह

सत्य (ईश्वर) प्राप्त करने का सत्य प्रयत्न ही सत्याग्रह ।

यह अहिंसात्मक हृदय परिवर्तन करने वाला अहिंसात्मक के दण्ड के रूप में निष्क्रिय विरोध से उद्वेग ।

आत्म बल द्वारा समस्त धर्मार्थों का विरोध करने का सकारात्मक और ध्यायक साधन । यह प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार नहीं कर्तव्य है ।

सत्याग्रही ईश्वर, नेता सबसे शरीर धर्म और निर्भरता में विश्वास करता है शत्रु की आत्मा को प्रीति कर हृदय परिवर्तन करता है इस प्रकार सामाजिक और स्वयं की कुराई हटाने में इस नैतिक साधन को प्रयत्नता है ।

'कुराई से असहयोग कुराई करने वाले से नहीं ।

आत्म समर्पण या विजय नहीं बल्कि वास्तविक समझौता है" । समझौता भी एक शर्तीय होता है विरोधी के विरुद्ध पर सत्याग्रह दोनों पक्षों को प्रभावित करता है । सन्तोष का साधारण चर्क या मुक्ति होती है । सत्याग्रह आत्मा को सम्बोधित करता है\* । विरोधी बल ध्यायक करन वालों की शक्ति के सामने ही नहीं मुकता वह अपने ध्यायक को भी समझने मकता है ।

\* मोरिस जोन्स—वही पृष्ठ २१४

वास्तव में आत्मा के निर्देशन के अन्तर्गत किया जाता है, इसलिये सत्याग्रह का मूल सिद्धांत है 'सत्य के अनुसार अपने जीवन का संभाल करना' । इसलिये जो भी कुराईयाँ आत्मा के प्रतिफल हैं उनका प्रतिकार करना ही सत्याग्रह है । सत्याग्रह प्राध्यात्मिकता और नैतिकता का सिद्धांत है वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाने वाले ध्यायक का विरोध करता है ।

इस प्रकार सत्याग्रह सामाजिक परिवर्तन लाने का साधन है इसके द्वारा साक्षि और साक्षक घोषित और घोषण करने वाले बर्क हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क आसानी से समाप्त किये जाते हैं । इसके द्वारा दोनों पक्षों का हृदय परिवर्तन होता है । सत्याग्रही में आत्मबल आता है और जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जाता है उसका हृदय उदार हो जाता है । 'इसका उद्देश्य

“मेरा असहयोग कुराहू से असहयोग है कुराहू करने वाले से नहीं। मेरे असहयोग के अर्थ में वह हार्दिक इच्छा रखती है कि कुम्भकर्मी को कुम्भर्मी से धरम करना जिसमें मैं उसे अपना हार्दिक सहयोग दे सकूँ।”

( ५ )

## स्वतन्त्रता और अधिकार

ऊपर हम देस चुके हैं कि महात्मा गांधी का सत्याग्रह विद्वान् सामाजिक और राजनीतिक कुराहूओं का विरोध करने का अधिकार है और यह विरोध धारमा या परमारमा के निर्दोषता में किया जाता है। इसलिये धारमा भी कुछ करती है उसके अनुसार जाह करने में ही—नीतिक नर्तम्य पालन करने में ही—मनुष्य अपने अस्तित्व का विधात कर सकता है। इसलिये धारमा और परमारमा के धारदोषों का पागना मनुष्य जा सबसे बड़ा कर्तम्य है। महात्मा गांधी के अनुसार अस्तम्य अम्याह के विरुध छोड़े होने का प्रत्येक धारमी का प्राकृतिक और नीतिक अधिकार है। अधिकार स्वच्छम्यता नहीं है बरन इसका अर्थ है उन बाधों को करना जिससे ईश्वर प्राप्ति होती है और नूँक सजाव के अगहाय अस्थिओं को रोना से ही ईश्वर मिल सकता है इसलिये मनुष्य का प्रथम कर्तम्य है सोच्छेका। समाज में जाये जाने वाले अम्याय जोषण अस्तम्यता या रननेद की मानना के विरुध गये होने की नर्तम्य भावना ही मनुष्य को अधिकार प्रदान करती है इसलिये मनुष्य का अधिकार है उन धारताओं को उगुल करना जिससे सबकी असाई, सर्वोप्य अशभव हो सके। गांधी जी का कहना है कि अधिकार की मानना नर्तम्यों पर धार्यारिह है। एष० बी० वेसल के मतव अधिकार मेध पर अपने विचार अक करठे हुए उग्हने बड़ा या कि ‘आपके विचार मुझ पालन नामुम होने हैं धाप मनुष्य के नर्तम्यों से धारमा लेग प्रारंभ करे लकी आह अधिकारों की बर्षा कर लगे हैं। नर्तम्य धारना बर ही सजाव अस्तम्यरिह है कर्म्य के पक्षान् ही अधिकार धारते हैं। यह मनुष्य नर्तम्य के स्थान पर केवल अधिकार बर और है तो साध सामाजिक अस्तम्य ही दिप्र मिल हो जापगा’। ‘इसलिये मानव अधिकार कर्तम्य की भावना पर अस्तम्यरिह है और नर्तम्य मानना नीतिकता पर।

अस्तम्यता का अर्थ केसा बाध अस्थि के अर्थ से मुनिउ पाता नहीं है बरन् धारमा नीतिकविधान करना है। अस्तम्यार, अम्याय अशमानता का विरोध करने से ही नीतिक विकास होता है उगमे ही मनुष्य में धारमचम, अंयम और अनुगायन बड़ा है इसलिये ‘स्वराज्य के लिये प्रयात करना ही स्वराज्य है’

क्योंकि प्रयत्न करने में ही हमारी नैतिकता का विकास होता है। गांधी जी का

### अधिकार और स्वतंत्रता

अभ्यास का विरोध व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार इतनिये सर्वोच्च के लिये प्रत्येक की क्षमतायें उन्मुख करना अर्थात् शोक सेवा व्यक्ति का कर्तव्य। नर्तक अधिकारों का अन्तक।

स्वतंत्रता नैतिक विकास के लिए अभ्यासपूर्वक शक्ति का विरोध करने की क्षमता (आत्मबल) ही स्वराज्य। इसलिये स्वराज्य के लिये प्रयत्न करना ही स्वराज्य है। आत्म नियंत्रण ही होम कला है।

के निवारण को स्वराज्य प्राप्ति के लिये आवश्यक मानते थे। एक बुरे घबरे पर उम्होम कहा था कि जब हम अपने को शासित करना सीख जायें तभी स्वराज्य है यह स्वराज्य हमारी हृदयी पर रखा है। सच्चा "होम कला" या "स्वशासन आत्म नियंत्रण है"।

( १ )

### राज्य

क्योंकि सत्य प्रत्येक आत्मा का गुण है इसलिये आत्मानुभूति करने वाला प्रत्येक मनुष्य अपने लिये नियम स्थिर कर सकता है और अपने जीवन को शासित कर सकता है। पूर्ण विकास होने पर प्रत्येक मनुष्य स्वयं शासित और अपना नियामक बन जायेगा उस समय राज्य की कोई आवश्यकता न होगी। इस प्रकार सर्वोच्च समाज अराजकतावादी समाज होगा जिसमें न तो सरकार की आवश्यकता होगी न प्रतिनिधियों की। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति शोक सेवा में सजे होने के कारण किसी के हित में बाधा नहीं आता और अपना स्वयं शासक बन जाता है।

'राजनैतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के द्वारा राष्ट्रीय जीवन को संचालित करना। यदि राष्ट्रीय जीवन सत्ता पूर्ण हो जाये कि

कहना था कि बून की नयी बहाकर या शोका देकर स्वतंत्रता प्राप्त करना स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ वास्तु शक्ति से मुक्ति पाना नहीं बरन् अपनी आत्मा द्वारा दिये गये आदेशों को पालना है। कुछ व्यक्तियों द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से ही सच्चा स्वराज्य नहीं आयेगा बरन् सच्चा स्वराज्य उस समय प्राप्त होगा जब प्रत्येक व्यक्ति में अभ्यासपूर्वक शक्ति का विरोध करने की क्षमता आ जायेगी" जब व्यक्तियों के हृदय में परिवर्तन हो जायेगा जब उनमें नैतिक भावना आयेगी। इसी कारण वे अभ्यर्षिता और साम्प्रदायिकता

बहु स्वचासित होने लगे थी प्रतिनिधित्व समावस्यक हो जाता है। तब बीडिक (enlightened) राजकार्य का राज्य हो जाता है। ऐसे राज्य में प्रत्येक धर्मनाशक होता है। वह अपने को इस प्रकार चासित करता है कि वह अपने पक्षी की भाँसे बाधा नहीं होता। धार्मिक राज्य में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। लेकिन जीवन में यह धार्मिक पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं होता है इसलिये बोरियो का यह कथन कि वह सरकार सबसे धर्म की ओर कम से कम धारण करे।”

महाराजा गांधी के अनुसार राज्य हिंसा पर आधारित है। उन्होंने एक बार यह लिखा है कि मैंने कई व्यक्तियों को वृत्तों का निरवस्था होते देखा है, परन्तु राज्य को किसी का निरवस्था होते नहीं देखा। राज्य सम्यक्त दमन और हिंसा की प्रतिवृत्ति है। इसके कारण मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाधा पड़ती है। वे लिखते हैं “सरकार की धर्म की शक्ति का मैं बड़ी आश्चर्य से देखा हूँ क्योंकि यद्यपि इन स वेतन स इस धर्म के प्रसार द्वारा मनुष्य के पोषण में कमी मासूम पड़ती है परन्तु इसके मनुष्य का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है जो तापे उन्नति का मूल है।” महाराजा गांधी की राज्य की धारणा उनके दक्षिण धर्म का धीरे धीरे धर्म-धर्म का नष्टना का कि यहिवा क प्रयोग द्वारा मनुष्य को धीरे धीरे धर्म-धर्म का निर्माण कर सकता है। सबसे धर्म राज्य नहीं है ना सबसे कम धारण करे। इस कारण न समाजवादी राज्य क विच्छेद वे।

महाराजा गांधी की सत्ता के अधिष्ठान विवेकीकरण में निरवस्था करते वे क्योंकि हमने राज्य की धर्म का नेत्रोकरण नहीं होता। पूर्ण राज्य हिंसा और दमन की शक्ति है इसलिये के गीवकरण समाज के अधिष्ठानक होने से वेक नहीं पाता। उनका कहना का कि धारण स्वराज्य वह है जिसके प्रत्येक धर्म एक पूर्ण मनुष्य हो। जो अपनी धारणकताओं में स्वनिर्भर हो जिसमें सुपाठन की भावना न हो जिसमें धर्म का दह का प्रयोग न कर सत्ता मूलक मर्याद और अधिष्ठीय से काम बनाता है। धर्म-संशयध धारण करे, धीरे धीरे धर्म की मह विज्ञान रहे कि वह स्व ही अपनी सरकार का निर्माण है।

जिस सरकार में धर्म की दृष्टा निर्दिष्ट न हो गांधी की उक्त सरकार को धर्म नहीं माना क्योंकि उनके अनुसार किसी भी धर्म पर उन्नति

• मन दक्षिण २ जुलाई १९११

इच्छा और स्वीकृति के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति स्वयं ही अपना नैतिक उत्थान और अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। राज्य द्वारा अव्यभिचार कार्य किये जाने से व्यक्ति स्वयं सामने समझन और काय करने की समता को देता है और व्यक्ति के काम और ईतिकता में संबंध नहीं रहता। राज्य आत्माहीन मशीन है और मशीन कपड़े की माँठ काम करने पर व्यक्ति के कार्य ईतिकता से असम हो जाते हैं। चीन को इसी कारण पिटू तुम्हें काम करने वाले राज्यों का विरोधी का। चीन की माँठ गांधी जी भी इन बात में विश्वास करते थे कि राज्य का काम नकारात्मक है। समाज में जो भी सुधार हों वे राज्य द्वारा नहीं किये जायें।

यद्यपि सिद्धान्त महात्मा गांधी प्रस्तावनावादी थे परन्तु इन अपूर्ण समाज में वे सरकार को आवश्यकता मानते थे। परन्तु सरकार नहीं पच्छी कही जा सकती है जो कम से कम शासन करे, जिसका सत्य भोक सेवा हो और जो कम से कम शक्ति का प्रयोग करे। चीन की माँठ वे कुछ राज्यों को व्यक्ति की निष्ठा योग्य मानते थे और कुछ को शोषपूर्ण जिनसे सहयोग करना ही व्यक्ति का धर्म है। प्रारंभिक काम में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को प्रथम श्रेणी में रखा था क्योंकि उनका विश्वास था कि इस सरकार में व्यक्ति को अपने मठ प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और सरकार अपना सुधार करने की समता रखती है। इसी कारण १९१७ तक उन्होंने अपना पूर्ण सहयोग ब्रिटिश सरकार को दिया था। परन्तु जितियां बामा बाग और एक्ट एक्ट ने उन्हें ब्रिटिश सरकार का बुरा काम दिखनाया। उन्होंने देखा कि यह सरकार अपने अपने धर्मों के धर्मों पर परदा डालती है यह शोषण है, नैतिकता की विरोधी है इसलिये उसके साथ सहयोग करना पाप का साथ सहयोग करना है। १९२१ में आन्दोलन को उन्होंने निष्ठा का

विधाने माह में जो पठनायें हुए हैं उनमें मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि जिनायत के मामले में ब्रिटिश सरकार धर्मविषय धर्मनैतिक और अव्यक्त पूर्ण रूप से काम करती है और अपनी मशीन को दिवाने के लिए एक मशीन से दूसरी मशीन करती रही है। मैं ऐसी सरकार को न चाहूँ और न इस की दृष्टि से देख सकता हूँ।"

शोषण पूर्ण सरकार में अपने को सुधारने की क्षमता नहीं होती इसलिये उसे समाप्त करने और सुधारने के लिये विशेष राष्ट्रीय प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यहिशात्मक सहयोग द्वारा इसका निराकरण आसानी से हो सकता



है क्योंकि प्रत्येक सरकार जन इच्छा पर आधारित होती है और यदि जन इच्छा राज्य की उभेक्षा करने लगे तो राज्य का कार्य नहीं चल सकता। ऐसी सरकार द्वारा पर आधारित होती है इसलिये 'ज्यों ही प्रजा समज धरि ये धम धामा बंध कर देती है निरंकुश शासक की व्यक्ति समाप्त हो जाती है।" पूरी ही प्रजा क्यों केवल एक व्यक्ति ही अपने धारणबल से बड़े बड़े शासकों की नींव दिला सकता है। इसी कारण उन्होंने समय समय पर नैतिक शिक्षा समाप्त भी बताया था। पूर्ण ऐसे निरंकुश राज्य केवल हिंसा के सहारे लड़े रहते हैं इसलिये इनका पतन केवल अहिंसा के द्वारा हो सकता है।

राज्य

राज्य धारणा का गुण इतलिय प्रत्येक धनका साधक और नियामक ही सत्ता है। सर्वोच्च तथा राज बिहीन होगा

राज्य समन और हिंसा की मूर्ति बसते व्यक्तिगत समाप्त होता है। सबसे बड़ा राज्य बहु जो कम शासन करे इसलिये सत्ता का विकेंद्रीकरण।

धाम संकासों अहिंसा सत्याग्रह व्यक्ति की स्वोच्छति से काम करता और धारणमियमल प्राप्त करती है।

राज्य द्वारा सार्वधिक कार्य होने से (समाज बारी वित्त गुप्त) धरित स्वधेयता से नहीं मसीन जाति काम करना है और एक नैतिक कार्य नहीं होते। राबका गुवार व्यक्ति कर सत्ता है राज्य नहीं।

राज्य का आधार इच्छा इमलिये जोन गुण राज्यों की समाप्ति सतहृषीय और अहिंसा द्वारा सभव है।

बहिषदी प्रजातंत्र जन इच्छा पर आधारित नहीं क्योंकि बहु समी व्यक्तियों धरतसकवर्द्धों समाजों के अधिकारों को माग्यता नहीं देना व्यक्ति के बिचारों का समन करता है

"मैं अपने देश नासियों को यह बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि हिंसा एक असहयोग केवल कुपई को बनाता है। यदि कुपई केवल हिंसा की सहायता से नहीं रहनी है इसलिये कुपई का सहाय करने के लिये हिंसा से दूर रहने की आवश्यकता है।"

परिषदी प्रजातंत्र यद्यपि जन इच्छा पर आधारित मान्य होते हैं परन्तु इनकी भावना मनुष्यिक है। इनमें प्रजातंत्रिक भावना का अभाव है। वे प्रजातंत्र शासकव्यवारी हैं अणुनीति के विरहाय करने हैं। धरनी पुंजीबारी धरतया हाथ हुमरे सींगो का पीपण करते हैं वे सभानता न विरहाय नहीं करते इसलिये उनके लिये व्यक्तिगत न सदन नहीं है। मन्त्री सरकार नहीं है

को प्रत्येक मनुष्य की संपन्न या अश्वेतन इच्छा पर आधारित है। इच्छित प्रजातंत्र

में व्यक्ति की महत्ता को स्थापन नहीं दिया गया है। वहाँ के राज्य में नागरिकों के ऊपर बहुसंख्यक वर्ग की निर्दोषता और पार्लियामेंट के एक बहुसंख्यक वर्ग पर कैबिनेट की निर्दोषता है। इसलिये ब्रिटेन में प्रजा का राज्य नहीं एक बस विधेय का राज्य है। महात्मा गांधी का कहना था कि यूरोप के लोगों के पास राजनतिक सत्ता है परन्तु उनमें स्वराज्य नहीं।\* बान स्टुघर्ट मिल की भाँति महात्मा जी न केवल अल्पसंख्यकों के अधिकारों को सुरक्षित करना चाहते थे बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार को भी। मिल की भाँति उनका विश्वास था कि नये विचार और नये समाज स्थापित करने के प्रयत्न कुछ इने-गिन लोगों में ही रहते हैं। २० सितंबर, १९४४ को सच्चे प्रजातंत्र की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा था कि—

“बहुसंख्यक वर्ग के शासन का यह अर्थ नहीं होता कि बहु विधा भी एक व्यक्ति के विचार को यदि बहु ठीक है, समझ करे। एक व्यक्ति का विचार यदि बहु विचार ठीक है बहुत लोगों के विचार से अधिक महत्वपूर्ण है, सच्चे प्रजातंत्र के संबंध में यही मरा दृष्टिकोण है।”

( १० )

### धार्मिक व्यवस्था

ईसोपनिषद का प्रथम मन्त्र त्रिमयी गांधी जी मूरि मूरि प्रवर्षा करते थे महात्मा गांधी के धार्मिक विचारों का बड़ी मजबूती तरह से व्यक्त करता है—

ॐ ईसा वाग्यनिदम सर्वं यत्किञ्चिद्व्यपगतो जगत् ।

तेन त्यक्तेन मुञ्चिष्यामि मा भूया जस्यचिद्वजम् ।

अर्थात् यह समस्त जगत या जगत्में जो कुछ भी है ईश्वर से परिपूर्ण है। इसका त्याग के साथ उपभोग करो। जो कुछ दुन्दे का बन या भाग है उसका नाशक मत करो।

धार्मिक-शुद्धि के लिए सब सग्रह करना उचित नहीं है। यह अर्थ है कि जीवन को बनाए रखने के लिए हम मौखिक धारणा-कथारणों की पूर्ति करनी

\*यह इंडिया सितम्बर ३ १९२८, देसिदे हरिजन जुलाई २१ १९४०

होती है परन्तु वे भौतिक आवश्यकतायें ही हमारे जीवन का लक्ष्य 7  
 धात्र के समाज में धीरे धात्र की सम्मता में भौतिक समृद्धि को ही 8  
 लक्ष्य बना लिया है। प्रत्येक समाज उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने की  
 कर रहा है। इस कारण समाज के भीतर धीरे बाहर प्रतियोगिता धीरे  
 इन्द्रिता प्रारम्भ हो गई है। पू.जी.पति धीरे जमींदार वर्गों का 9  
 है समाज में कमर्सेणल होता है धीरे प्रत्येक राष्ट्र नए बाजारों की  
 साम्राज्यवाद धीरे युद्ध को जग से रदा है। महात्मा गांधी ने धात्रुनिक  
 के इसी रूप को देगा इस कारण वे इस सम्मता के कट्टे धामाचक से।  
 धनुषांग धात्रुनिक सम्मता का भविष्य धर्माकारण है। उच्च सम्मता  
 के उलाहल बढ़ाने में नहीं है वरन् अपनी दृष्ट्याधों को सीमित करने में  
 प्राधुनिक जीवन हों यही उद्देश देगा है कि प्रत्येक वस्तु का त्याग के  
 उपभोग करो। मरु के लोगों की घोषा पांव का जीवन धनिक प्राकृतिक  
 क्योंकि वहाँ के लोगों की दृष्ट्याधें सीमित होती हैं। इसीलिए महात्मा  
 प्राधुनिक धीरे गांव के जीवन पर धनिक जोर देते थे।

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये गांधीजी प्रत्येक धनुष्य के  
 धात्रीरिक्त परिष्कार करना धानस्यक मानते थे। टासस्टाय के 'रोटी के 1  
 परिष्कार' सिद्धान्त को वे ईस्वरीय नियम कहते थे। उनका कहना था कि  
 धनुष्य परिष्कार नहीं करणा उठे रोटी जान का अधिकार नहीं है। बी  
 धम को वे परिष्कार नहीं मानते थे। उनका कहना था कि धात्रीरिक्त धम  
 ध्यस्ति की गरिमा बढ़ती है उसका धरीर धच्छ रहता है धीरे साब ही  
 धरती धात्रधयताओं के लिए धुधरों पर निर्भर नहीं रहता। इसीलिए वे 4  
 नातने पर बहुत धनिक जोर देते थे क्योंकि इसके द्वारा न केवल धनुष्य  
 धरता है वरन् अपनी धानस्यकता के लिए मोत्रन भी प्राप्त कर सकता है।  
 एक प्रकार से धान के धम सिद्धान्त में बिबाग करने व धीरे उनका 5  
 था कि धम के द्वारा ही धनु का उलाहल होता है। इनलिग को धाधमी जोट  
 है भूमि जमी की है।

परन्तु महात्मा गांधी पू.जी.पतियों धीरे जमींदारों के धरिगतन को समाज  
 लिए धात्रधयक मानते थे। उनका जबरन उन्मूलन नहीं करना चाहा थे।  
 उनका कहना था कि सत्याग्रह द्वारा इन लोगों का हृदय परिवर्तन किया  
 सकता है जिसके जमीन धीरे पू.जी. को अपनी सन्तति नहीं वरन् समाज  
 धोहर सम्पत्ते लयें। यदि धनिक धरिगतन सत्याग्रह द्वारा पू.जी.पतियों के

सहयोग शुरू कर दे तो पूँजीपतियों का काम ठप्प हो जायगा और वे बस्तुओं का उत्पादन न कर सकेंगे। ऐसी परिस्थितियों से बाँध होकर पूँजीपति अपने आप पूँजी को अपनी सम्पत्ति न समझ समाज की बरोहर समझने लगे।

महात्मा गांधी इस प्रकार सोच के तरीके से समाज में परिवर्तन लाना चाहते थे और बर्ग संघर्ष को हटा देना चाहते थे। मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करते हुए कि 'प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकतानुसार मिले' समाज में धार्मिक समानता हो महात्मा गांधी व्यक्ति-व्यक्तियों की छायाछाड़ी और पूँजीपतियों की सम्पत्ति में विश्वास नहीं करते थे। वे साधु काम अधिष्ठात्मक उत्पादक द्वारा पूँजीपतियों का ह्रास परिवर्तन कर, उनमें सोशियल की मानना जागृत कर नये समाज का निर्माण करना चाहते थे।

अगर हम कह चुके हैं कि महात्मा गांधी गाँव के जीवन को महत्ता देते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतवर्ष गाँवों का देश है, इसलिये वे ग्रामीणों की आवश्यकता पूरी करने के लिये न केवल खारी बरत, ग्रह उद्योगों पर जोर देते थे जिसमें भारत के प्रत्येक व्यक्ति के लिये संतुलित जीवन रहने के लिये भूदान, बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य का प्रबंध हो सके। परन्तु इसका यह धर्म नहीं कि वे मशीन या सभी बड़े उद्योगों के विरुद्ध थे। वे गाँव में बिजली चाहते थे जिससे वहाँ ग्रह उद्योग विकसित हो सकें। कृषी उद्योगों (key industries) पर वे राज्य का स्वामित्व चाहते थे जिसमें इन उद्योगों पर राज्य के द्वारा व्यक्तियों का ही स्वामित्व रहे। अर्थात्, 'मैं इन व्यक्तियों को बस के द्वारा उनकी सम्पत्ति से वंचित न करना चाहूँ। मैं इन उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में इनका सहयोग चाहूँगा।'

गांधी जी औद्योगिकता और बड़े पैमाने के उत्पादन के विरुद्ध, अर्थात् इस औद्योगिकरण से ही संसार में उपनिवेशवाद, धोखे और वैश्व राज्य हुई है। अधिकतर मनुष्यों को अपने ही श्रम पर निर्भर होना चाहिये और मशीनों का प्रयोग केवल आवश्यकता पूर्ति के लिये होना चाहिये न कि नगरीय। साथ ही उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होना चाहिये, जिसमें उत्पादन में रहने वालों की आवश्यकताओं अपने श्रम के उत्पादन में पूर्ण हो सकें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी के धार्मिक सिद्धांत और साम्यवाद से परिपूर्ण हैं। साम्यवाद का सिद्धांत है

का त्याग के साथ उपभोग करना धार्मिक समझते थे इसी कारण वे वस्तुओं का समान बितरण चाहते थे और पूँजीपतियों का हृदय परिवर्तन कर उन्हें

धार्मिक विचार लोक सेवाक और समाज का दुस्ती बनाया चाहते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति में देवत्व है। जब मनुष्य के भीतर की देवीय धात्वा जाग उठेगी तो समाज में संपन्न और शोचण समाप्त हो जायेगा। वे बर्णाश्रम में निश्वास करते थे परन्तु बर्णाश्रम से उनका तात्पर्य केवल यही था कि प्रत्येक मनुष्य की धानी जगज्जात समता होती है जो उसके बर्ण में व्यक्त होती है, इसलिये इन जगज्जात समताओं के मनुष्य ही काम कर प्रत्येक मनुष्य समाज की सेवा करता है। समाज के सभी काम बराबर हैं। कोई काम ऊँचा या छोटा नहीं। इसलिये समाज के सभी व्यवहारों को बराबरों, बर्कियों में ही रखने को समान दुरस्कार मिलना चाहिये। जो निम्न कार्य करते हैं वे वास्तव में महान् हैं वे हरिजन हैं। इसलिये जब कोई महारजा या भी के सामने में प्रवेश

सम से व्यक्त की परिमा स्वास्थ धारमनिर्भरता। पूर्वो समाज की बरीहूट, यह भावना धर्मिक धातुयोग से जागत कर सकते हैं। कुंभी उद्योगों पर राज्य द्वारा धर्मिकों का स्वाभित्य यह उद्योगों के लिये बिजली पर पीपीवीकता कबलियेसाबाद, शोचन बेकारी को जन्म देती है।

उत्पादन के विकेन्त्रीकरण से प्रत्येक लोक धारमनिर्भर ही बनता है।

बर्ण लक्ष्य लोक सेवा और धात्वा की आपूर्ति से समाप्त हो जाये। सभी कार्य समान जो निम्न कार्य करते हैं वे महान् हैं। बर्णवर्ण मनुष्य की साम्नात समताय बराता है।

करना चाहता था और कहना था कि वह प्रत्येक कार्य करने के लिये तैयार है तो माँपीजी पूछ करते थे कि क्या तुम अपना हाथ कर सकते ? इस प्रश्न के उत्तर दाय ही वे व्यक्ति में धम की महता, लोक सेवा और समाजता की भावना धारम करते थे।

( ११ )

समाजवाद

भी होरेय कनेक्टेडर मिलते हैं कि "महारजा या भी के लोगों में समाज-वादी प्रवृत्ति काफी मात्रा में दिखाई देती है। कम से कम वे सैध समाजवादी विचारों और भावनाओं को उत्साहित करने वाले धारम हैं। जब माँपी भी

किसी पूंजीपति के सामने हम तथ्य को रखते हैं कि जो यादमी अपनी प्रायस्स-कता से अधिक खाता या खर्च करता है, वह परीशों को मूठठा है, तो बड़े-२ समाजवाद की हीय मारने वाली के जीवन इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते । यदि हम समाजवाद को राजनीति का वह सिद्धान्त मानें, जिसमें व्यक्ति को परीशों की सेवा और समाज की प्रायस्सकता के धामे अपने संकुचित स्वार्थ या व्यक्तिगत लाभ को बलिदान करने का मुख्य विधा जाता है तो महात्मा गांधी समाजवादी समझे जायेंगे । महात्मा गांधी का कहना था कि स्वराज्य उस समय तक पूर्ण नहीं होगा जब तक निम्न और शीत वर्गों को जीवन की वे साधारण सुविधायें प्राप्त न हो जाय, जो बलवान व्यक्तियों को प्राप्त हैं । समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार महात्मा गांधी (१) सबसे बाधुत्व की भावना देखना चाहते थे, (२) रीटी के द्विय धम में विश्वास करते थे (३) धम की उतरारण का मुख्य साधन मानते थे, (४) सब वर्गों में समानता देखना चाहते थे वे शोषण और अत्याचार के विरुद्ध थे तथा सभी वर्गों को समान पीरभूमिक हेल के पक्ष में थे (५) सब भूमि गोपाल की' में विश्वास करते हुए वे सारी भूमि को समाज की वस्तु समझते थे (६) कुबी उद्योगों पर वे राज्य का नियंत्रण चाहते थे ।

गांधी जी में माक्सवादी सूत्र भी इतर उधर मिलते हैं । उनका समराज्य वर्गहीन और राज्यहीन समाज है । वे राज्य को हिंस्र और शोषण का साधन मानते हैं ।

गांधीजी के विचारों में यदि हम समाजवाद और माक्सवाद के कुछ लक्षण देखते हैं तो उनसे हम उन्हें समाजवादी या माक्सवादी नहीं कह सकते हैं । बाहुदरुण सिद्धांती है कि "एक धम में वे कड़िवाही थे दूसरे धम में दास-निक अराजकतावादी एक और वे समाजवादी थे, तो दूसरी धोर पूंजीवादी और साथ ही पूर्वजासीन साम्यवादी ... वह इन सब बातों को मानने वाले हैं, फिर भी किसी एक बाध के नहीं हैं (क्योंकि) गांधीजी राजनीतिक दासनिक नहीं थे, एक राजनीतिकवाद द्वारा बताव वय करते पर वे कमपोपी की भांति उतरे और अपने नये विचार देकर वे दूसरे दास में बसे गये ।"

परिचामी समाजवाद और गांधीवाद में दृष्टिकोण और साधना की दृष्टि से बड़ा अंतर है—

(१) गांधीवाद समाजवाद की धरेसा अधिक व्यापक है वह केवल धार्मिक शोषण की दुर्घट से ही समाज को मुक्त नहीं करना चाहता वरन्



विकेन्द्रीकरण बड़े बड़े उद्योगों की समाप्ति और पूरे उद्योगों के पक्ष में है। गांधीबाद राज्य की हिंसा और हमन का प्रतीक मानता है। इसलिये गांधीबाद के अनुसार नये समाज की रचना व्यक्ति के स्वायत्तजी हान और वस्तुओं का त्याग के साथ उपभोग करने के द्वारा ही हो सकता है।

साम्यवादी विचारों से गांधीबाद बिलकुल ही भेद नहीं खाता क्योंकि,

(१) मार्क्सवाद भौतिकवादी है, और पूरी सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक ढाँचे पर अवलम्बित मानता है जबकि गांधीबाद पूरे धार्मिकवादी है।

(२) मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है, और हिंसात्मक जाति द्वारा पूँजीवाद का नाश कर सर्वद्वारा वर्ग की शान्तायाही स्थापित कर नये समाज को बनाना चाहता है। गांधीबाद हिंसा का विरोधी है और पूँजीवादी व्यवस्था को पूँजीवादियों के सहयोग से पूँजीपतियों को द्रुती बनाकर समाप्त करना चाहता है। यह वर्ग संघर्ष में नहीं वर्ग समन्वय में विश्वास करता है। इसलिये वहाँ समाजवाद विभेदारमक एवं विनाशारमक है वहाँ गांधीबाद समन्वयारमक एवं रचनारमक है। यह ग्रहिया में धारमबल में विश्वास करता है, हिंसा में नहीं। इसलिये साम्यवाद की धोखा यह धार्मिक स्वामाधिक है क्योंकि यह सबसे भानु प्रेम पैदा करना चाहता है। एक दृष्टि से हम गांधी बाद

मार्क्सवाद के विपरीत गांधीबाद को समाजवाद की तुलना में धार्मिक धार्मिक है। हृदय परिवर्तन से वर्ग संघर्ष समाप्त करता है हिंसा के स्थान वर्तमान समाज के हिंसात्मक धाकार पर धारमबल में विश्वास रखता है। को बदलना चाहता है। गांधीबाद के

मार्क्सवाद से धार्मिक जातिकारी साधन भी धार्मिक जातिकारी है।

क्योंकि समाज का हिंसात्मक धाकार डा० सीतारमया के शब्दों में 'समा बदलने का दृष्टिकोण।' धाकार धार्मिक संघर्षों के लिये एक

कृति है किन्तु गांधीबाद कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश देता है, गांधीबाद प्रत्येक व्यक्ति को उसका कर्तव्य बताता है। समाजवाद बुरा और पूरे द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है। गांधीबाद मानव सेवा के लिए बुरा और पूरे का त्याग करता है।"

( १२ )

राजवर्धन में स्थान

राजवर्धन के इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान निर्धारित करना कुछ कठिन है क्योंकि अन्य कार्यकर्तों की भाँति महात्मा गांधी ने न तो हमें कोई



तत्त्व दर्शन ही बिया धीर न किसी सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। वे कर्मबोधी व्यावहारिक पुरुष के धीर उन्हें लक्ष्य की कोई विधेय चिन्ता न थी। जीवन को प्रयोग का दान समझने के कारण वे अपनी सामने की परिस्थिति से अधिक दित्तबन्धी रहते थे। अन्तिम लक्ष्य की उन्होंने चिन्ता नहीं की। हमलिये यहिष्ठारमक राज्य धीर समाज का बना स्वरूप होगा वह विषय उनके मनोमुक्त न था। वे स्वयं कहते थे कि मैं केवल अपने कर्म को देखता हूँ अन्तिम की बात नहीं सोचता। इस कारण अन्य राजनीतिक धर्मनिराकी से निम्न उन्होंने शासन का सिद्धान्त बिया साम्य का नहीं। उनके दर्शन का मुख्य विषय है यहिष्ठा और साम्राज्य को सामाजिक परिवर्तन के शासन मात्र है। परन्तु गांधी जी की विरोधता इनी बात में है धीर इती से ही उनका स्वाम राजनीति दर्शन के इतिहास में महत्वपूर्ण है कि एक एक के उपेक्षित विषय सामाजिक परिवर्तन के साधनों पर उन्होंने सर्वप्रथम पूर्ण रूप से विचार किया।

अन्य धर्मनिराकी से तुलना करने पर महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार धर्म के बहुत निकट हैं परन्तु धर्म जहाँ धार्मिक धीर चिन्तनशील व्यक्ति है धीर उसे व्यवहारिक राजनीतिक में धर्म देने का बहुत कम अवसर मिला वहीं गांधी प्रयातव्य व्यावहारिक राजनीतिक ही थे। तत्त्व दर्शन के आचार्य होने के कारण धर्म के नैतिक सिद्धान्त तत्त्व दर्शन से संबंधित थे परन्तु महात्मा गांधी ने नैतिक सिद्धान्तों को तत्त्व दर्शन से संबंधित करने की चेष्टा नहीं की बरन् हिन्दू समाज न बादी जाने वाली नैतिक धारणा को साम्यता देकर उन्हें व्यवहारिक रूप देने की चेष्टा की है।

धर्म धर्म की भाँति महात्मा गांधी नैतिक जीवन की ही (धर्म की धारणा) की ही) जीवन का लक्ष्य मानते हैं इसलिये धर्म की भाँति ही महात्मा गांधी समाज धीर राज्य की व्यक्ति की नैतिक उन्नति का मापन मानते हैं। दोनों ही विद्वत्पुरुष समाज के विरोधी हैं। धर्म धीर गांधी में सबसे अधिक धारण राज्य के विरोध विचार के संबंध में दिखाई देता है। धर्म की गांधी जी की भाँति अतुल्य राज्य धीर बोधपूर्ण राज्य में अन्तर्गत मानता है धीर वह ब्रिटेन को जहाँ बहुत राज्य मानता है वहाँ आर आर धार्मिक रूप को राज्य का मान नहीं देता क्योंकि यह राज्य व्यक्ति की इच्छा पर आधारित नहीं है। दोनों को दृष्टि से अन्तर्गत राज्य वह है जिसके नागरिकों में आचार्य दित या सर्वोदय की भावना हो।

जब राज्य मनुष्य के नैतिक विकास में बाधक होता है तो ग्रीन और गांधी दोनों ही व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देते हैं। परन्तु इस क्षेत्र में गांधी जी ग्रीन से बहुत घाये बड़ मये हैं। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति उन नैतिक अधिकारों की मांग कर सकता है जिन्हें राज्य मान्यता न देता हो पर (१) उसके सामान्य हित की पूर्ति होती हो और (२) अधिकारों को प्राप्त होकर इस प्रकार के अधिकार की मांग करते हों। केवल ऐसे राज्यों में जिसमें जनता की भावनाएँ पूर्ण रूप से कुचल दी गई हों अधिकारों को मांगें इन नैतिक हित का रक्षक की समता न रहे गई हों और अन्य लोग इस प्रकार की मांग न कर रहे हों कोई नैतिक व्यक्ति द्वारा राज्य से नये अधिकारों की मांग कर सकता है। महात्मा गांधी ने ग्रीन द्वारा दिये अन्तिम प्रकार को ही नियम बनाया है उनके अनुसार सारे राष्ट्रवासियों का इतना नैतिक पत्रन हो गया था कि केवल एक व्यक्ति ही अपने आपसे ही राज्य का विरोध कर सकता है और जनता का ध्यान नहीं मांगों के प्रति आकर्षित कर सकता है। जैसे अधिकारों को प्राप्त करने पर उन्होंने इंग्लैंड के द्वारा यह जानने की प्रयत्न को ग्रीन की विचारणा का किताब मांग उनको मांग के साथ सहानुभूति कर रहा है। जहाँ ग्रीन केवल विरोध परिस्थितियों में ही एक व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार देता है वहाँ गांधी जी के सिद्धान्त में केवल एक व्यक्ति ही सर्व राज्य का विरोध कर सकता है। इस प्रकार ग्रीन न राज्य के विरोध का अधिकार वहाँ अधिकार जनता की नैतिक भावना पर आधारित किया है वहाँ गांधी जी ने व्यक्ति की धारणा पर। गांधी जी जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार का विरोध करे तो सामाजिक व्यवस्था बिगाड़ जायेगी इसलिये वे इन अधिकार को केवल उन्हीं व्यक्तियों को देते हैं जो अनुचित हों जनता के नेता हों और जिनमें ऐसे विरोध करने की समता हो।

ग्रीन ने राज्य के विरोध करने के अधिकार की केवल संज्ञानात्मक विचारणा की है और इन अधिकार की वर्षों ग्रीन के राज्यदर्शन का मुख्य विषय नहीं है। महात्मा गांधी जी का जीवन ही सभी प्रकार की कुचलियों का विरोध करने में व्यतीत हुआ था इसलिये उन्हें इस विरोध अधिकार का न केवल व्यावहारिक ज्ञान था बल्कि यह अधिकार उनका चिन्तन और कार्य का मुख्य विषय है। सरवाग्रह और अधिकारमय धार्मिकता ही उनके राज्यदर्शन के विषय हैं। इस प्रकार महात्मा गांधी सामाजिक परिवर्तन के साधनों के दायित्व हैं समय के नहीं। मार्क्स, हीटलर और अन्य कुछ राष्ट्रपतियों ने भी

सामाजिक परिवर्तन को अपने अध्ययन का श्रेण बनाया है परन्तु अहिंसात्मक रूप और नैतिक बल द्वारा सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है यह महात्मा गांधी का राजनीति दर्शन को सबसे महत्वपूर्ण योगदान है।

मौरिस ब्लास का कहना है कि महात्मा गांधी ने हमें राजदण्डन देने के कुछ प्रयत्न सिखाए हैं। हमें इनमें राजनैतिक कार्यवाहियों के स्वल्प की

### योगदान

व्यावहारिक होने के कारण परिवर्तन के साधनों के दार्शनिक लक्ष्य के नहीं।

सामान्य हित की सामान्य केतना (पीन) सर्वोच्च की भावना है पर पीन के लक्ष्य दर्शन और उसकी बल बढ़ता का प्रभाव।

हीन राज्य का विरोध सामान्य केतना पर आधारित करता है, गांधी की व्यवस्था की आत्मा पर, पीन का व्यवहार गांधी की नियम है।

अहिंसा और नैतिक बल से परिवर्तन उसका मौलिक योगदान पर विरोध राजनीति के आधार पर ही राजनीतिक-दार्शनिक नहीं बड़े का लक्ष्य है।

इतनी सीमित है कि इस पर हम पूरे राजनीति दर्शन का बाधा सम्योप जनन रीति से पढ़ नहीं कर सकते।

कुछ वर्षों मिनती है, इस कार्यवाही और मनुष्य की नैतिक प्रकृति के बीच संबंध भी बताया गया है और राजनीति को परखने की कसौटी की भी कुछ स्पष्टता भी गई है। फिर भी इस दर्शन की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। उन्हें प्रथम सामान्य रूप से देखने पर इनमें न तो कोई विरोध है और न मोक्ष नया। गांधीजी ने अपने विचारों को अपने अनुभव के आधार पर बिना किसी बाहरी सहायता के केवल अपने लिये कार्यान्वित किया है परन्तु उन्हें जो प्राप्त हुआ उसमें पूरे राजनैतिक दर्शन की दृष्टि से अविश्वसनीय और कम-बहुत का प्रभाव है। महात्मा गांधी के जिन भाषों में उनकी सूक्ष्म दृष्टि आई जाती है वह केवल सीमित विरोध करने की राजनीति हैं। विरोध की राजनीति

